महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya
(A Central University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)
नैक द्वारा 'A' ग्रेड प्राप्त / Accredited with 'A' Grade by NAAC

प्रारम्भिक हिन्दी काव्य

एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
प्रथम सेमेस्टर
प्रथम पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 01

दूर शिक्षा निदेशालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट – हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा – 442001 (महाराष्ट्र)

2

प्रारम्भिक हिन्दी काव्य

प्रधान सम्पादक

प्रो॰ गिरीश्वर मिश्र
कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक

प्रो॰ अरबिन्द कुमार झा
निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास
अनुसंधान अधिकारी एवं पाठ्यक्रम संयोजक– एम. ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक मण्डल

प्रो॰ आनन्द वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह
विभागाध्यक्ष, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग एवं अधिष्ठाता, साहित्य विद्यापीठ
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ अरुण कुमार त्रिपाठी
प्रोफेसर एडजंक्ट, जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास

प्रकाशक

कुलसचिव, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा, महाराष्ट्र, पिन कोड : 442001

© महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रथम संस्करण : सितंबर 2017

पाठ-रचना

डॉ॰ उमेश कुमार पाठक
सहायक प्रोफेसर
संचार एवं पत्रकारिता विभाग
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय क्षेत्रीय केन्द्र, खान्यारा, धर्मशाला, हिमाचल प्रदेश

खण्ड – 1 : इकाई – 1 एवं 2

डॉ॰ गीता सिंह
एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
हिन्दी विभाग, राजकुमार केवलरामानी कन्या महाविद्यालय, नागपुर, महाराष्ट्र

खण्ड – 1 : इकाई – 3

डॉ॰ महिपाल सिंह राठौड़
असिस्टेंट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर, राजस्थान

खण्ड – 2 : इकाई – 1

डॉ॰ रुपिका शर्मा
असिस्टेंट प्रोफेसर
कन्या महाविद्यालय, जालन्धर, पंजाब

खण्ड – 2 : इकाई – 2

श्री पीयूष कुमार द्विवेदी
हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तरप्रदेश

खण्ड – 2 : इकाई – 3
खण्ड – 4 : इकाई – 1

डॉ॰ उषा शर्मा
पूर्व सहायक प्राध्यापक (हिन्दी)
संत हिरदाराम कन्या महाविद्यालय, भोपाल, मध्यप्रदेश

खण्ड – 3 : इकाई – 1, 2, 3 एवं 4

डॉ॰ राजीव कुमार झा
उपनिदेशक, यू॰जी॰सी॰ – एच॰आर॰डी॰सी॰,
बी॰आर॰ अम्बेदकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर, बिहार

खण्ड – 3 : इकाई – 5

डॉ॰ सर्वेश जैन
प्राचार्य
नोबल्स पी. जी. कॉलेज, रामगढ़, अलवर, राजस्थान

खण्ड – 4 : इकाई – 2

श्री शिवशंकर सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर
हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

खण्ड – 4 : इकाई – 3

श्री राजीव मोहन
हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तरप्रदेश

खण्ड – 4 : इकाई – 4

पाठ्यक्रम परिकल्पना, संरचना एवं संयोजन
आवरण, रेखांकन, पेज डिज़ाइनिंग, कम्पोज़िंग ले-आउट एवं प्रूफ़-रीडिंग

पुरन्दरदास

कार्यालयीय सहयोग

श्री विनोद रमेशचंद्र वैद्य
सहायक कुलसचिव, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पहला प्रूफ़

सुश्री मेघा दिलीप आचार्य (खण्ड 3)
प्रूफ रीडर, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

श्री महेन्द्र प्रसाद (खण्ड 4)
सम्पादकीय सहायक, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

आवरण पृष्ठ पर संयुत विश्वविद्यालय के वर्धा परिसर स्थित गांधी हिल स्थल का छायाचित्र इंटरनेट से साभार प्राप्त

http://hindivishwa.org/distance/contentdtl.aspx?category=3&cgid=77&csgid=65

- यह पाठ्यसामग्री दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा संचालित एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम में प्रवेशित विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ उपलब्ध करायी जाती है।
- इस कृति का कोई भी अंश लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
- पाठ में विश्लेषित तथ्य एवं अभिव्यक्त विचार पाठ-लेखक के अध्ययन एवं ज्ञान पर आधारित हैं। पाठ्यक्रम संयोजक, सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का उससे सहमत होना आवश्यक नहीं है।
- इस पुस्तक को यथासम्भव त्रुटिहीन एवं अद्यतन रूप से प्रकाशित करने के सभी प्रयास किये गए हैं तथापि संयोगवश यदि इसमें कोई कमी अथवा त्रुटि रहगई हो तो उससे कारित क्षति अथवा संताप के लिए पाठ-लेखक, पाठ्यक्रम संयोजक, सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का कोई दायित्व नहीं होगा।
- किसी भी परिवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र वर्धा, महाराष्ट्र ही होगा।

पाठ्यचर्या विवरण

प्रथम सेमेस्टर
प्रथम पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 01
पाठ्यचर्या का शीर्षक : प्रारम्भिक हिन्दी काव्य

क्रेडिट – 4

खण्ड – 1 : लोक, सत्ता और प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य

- इकाई – 1 : प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य की काव्य-प्रवृत्तियाँ
- इकाई – 2 : मुक्तक-काव्य-परम्परा में प्रवहमान नीति, वीर, शृंगार तथा सुभाषितपरक दोहों का अनुशीलन
- इकाई – 3 : अपभ्रंश-प्रभावित एवं अपभ्रंश-प्रभाव से मुक्त हिन्दी-रचनाएँ

खण्ड – 2 : रासो-काव्य-परम्परा

- इकाई – 1 : 'पृथ्वीराज रासो' में तथ्य और कल्पना, प्रामाणिकता : ऐतिहासिक तथ्य, तिथि, भाषा तथा कवि सम्बन्धी मत
- इकाई – 2 : 'पृथ्वीराज रासो' की साहित्यिकता, काव्य-रूप, छन्द-योजना, अलंकार-निरूपण, कथानक-रूढ़ियाँ
- इकाई – 3 : 'पृथ्वीराज रासो' का महाकाव्यत्व एवं काव्य-सौष्ठव

खण्ड – 3 : विद्यापति का पदावली साहित्य

- इकाई – 1 : 'पदावली' की राधा-कृष्ण-कथा और उनका स्वरूप
- इकाई – 2 : 'पदावली' का काव्य-सौष्ठव
- इकाई – 3 : विद्यापति का प्रेम-दर्शन
- इकाई – 4 : 'पदावली' की भाषा एवं अलंकार-विधान
- इकाई – 5 : विद्यापति की काव्य-भाषा

खण्ड – 4 : अमीर ख़ुसरो का हिन्दवी काव्य

- इकाई – 1 : ख़ुसरो की रचनाधर्मिता, प्रमुख रचनाएँ, पहेलियाँ, मुकरियाँ, दो सुखने, ग़ज़ल, शेर आदि
- इकाई – 2 : ख़ुसरो के काव्य की प्रकृति एवं विशेषताएँ
- इकाई – 3 : हिन्दू-मुस्लिम साझी संस्कृति के आदिपुरुष के रूप में ख़ुसरो की प्रतिष्ठा, ख़ुसरो की हिन्दी निष्ठा एवं हिन्दी प्रेम, खड़ीबोली (हिन्दवी) के प्रथम एवं समर्थ कवि के रूप में ख़ुसरो की पहचान
- इकाई – 4 : अमीर ख़ुसरो का हिन्दी काव्य : प्रामाणिकता की समस्या

निर्धारित पाठ्य कृतियाँ :

1. पृथ्वीराज रासो – चन्दवरदाई (पद्मावती समय)
2. विद्यापति पदावली (चयनित पद)
3. अमीर ख़ुसरो का हिन्दवी काव्य (चयनित रचनाएँ)

सहायक पुस्तकें :

01. अपभ्रंश काव्य-परम्परा और विद्यापति, अम्बादत्त पन्त, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
02. अपभ्रंश भाषा और साहित्य, राजमणि शर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
03. अपभ्रंश साहित्य, हरिवंश कोछड़, भारतीय साहित्य मन्दिर, नई दिल्ली
04. अमीर ख़ुसरो, भोलानाथ तिवारी, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली
05. अमीर ख़ुसरो, सोहनपाल सुमनाक्षर, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली
06. अमीर ख़ुसरो और उनकी हिन्दी रचनाओं की प्रामाणिकता के तथ्य, महम्मद हारून 'शैलेन्द्र', अभिधा प्रकाशन, मुज़फ्फरपुर
07. अमीर ख़ुसरो का हिन्दी काव्य-संसार : नये सन्दर्भों की तलाश, महम्मद हारून 'शैलेन्द्र', किताब पब्लिकेशन
08. अमीर ख़ुसरो का हिन्दवी काव्य, लेखक एवं सं. : गोपीचन्द नारंग, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
09. आदिकालीन काव्य, वासुदेव सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
10. प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य, रामसिंह तोमर, हिन्दी परिषद् प्रकाशन, इलाहाबाद
11. पृथ्वीराज रासो : भाषा और साहित्य, नामवर सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
12. महाकवि ख़ुसरो, सफदर आह, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ
13. रासो विमर्श, माताप्रसाद गुप्त, साहित्य भवन, इलाहाबाद
14. विद्यापति : एक अध्ययन, रामरतन भटनागर, किताब महल, इलाहाबाद
15. विद्यापति का सौन्दर्यबोध, रामसजन पाण्डेय, अनंग प्रकाशन, दिल्ली
16. विद्यापति पदावली, सं. : शशिनाथ झा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
17. विद्यापति पुनर्मूल्यांकन, वीरेन्द्र श्रीवास्तव, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना
18. विद्यापति वैभव, सं. : गुणानन्द जुयाल, विश्वम्भर 'अरुण', विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
19. वेणुवन (विद्यापति से सम्बन्धित लेख), रामधारी सिंह 'दिनकर', उदयाचल प्रकाशन, पटना
20. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

❖❖❖

पाठानुक्रमणिका

क्र.सं.	खण्ड	इकाई	पृष्ठ क्रमांक
01.	खण्ड – 1	इकाई – 1	09 – 21
02.	खण्ड – 1	इकाई – 2	22 – 32
03.	खण्ड – 1	इकाई – 3	33 – 43
04.	खण्ड – 2	इकाई – 1	44 – 61
05.	खण्ड – 2	इकाई – 2	62 – 95
06.	खण्ड – 2	इकाई – 3	96 – 112
07.	खण्ड – 3	इकाई – 1	113 – 128
08.	खण्ड – 3	इकाई – 2	129 – 141
09.	खण्ड – 3	इकाई – 3	142 – 155
10.	खण्ड – 3	इकाई – 4	156 – 170
11.	खण्ड – 3	इकाई – 5	171 – 183
12.	खण्ड – 4	इकाई – 1	184 – 203
13.	खण्ड – 4	इकाई – 2	204 – 222
14.	खण्ड – 4	इकाई – 3	223 – 236
15.	खण्ड – 4	इकाई – 4	237 – 249

खण्ड – 1 : लोक, सत्ता और प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य

इकाई – 1 : प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य की काव्य-प्रवृत्तियाँ

इकाई की रूपरेखा

1.1.0 उद्देश्य कथन
1.1.1 प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य की परम्परा एवं विकास
 1.1.1.1 राजनैतिक परिदृश्य
 1.1.1.2 धार्मिक परिदृश्य
 1.1.1.3 सामाजिक परिदृश्य
 1.1.1.4 साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परिदृश्य
1.1.2 प्रारम्भिक हिन्दी काव्य
 1.1.2.1 सिद्ध साहित्य
 1.1.2.2 नाथ साहित्य
 1.1.2.3 जैन साहित्य
 1.1.2.4 वीरगाथात्मक साहित्य
 1.1.2.5 अन्य काव्य-रचनाएँ
1.1.3 प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य की काव्य-प्रवृत्तियाँ
 1.1.3.1 नीतिपरकता
 1.1.3.2 उपदेशात्मकता
 1.1.3.3 रहस्यवाद
 1.1.3.4 वीर और शृंगार का उत्कर्ष
 1.1.3.5 प्रकृति-चित्रण
 1.1.3.6 राष्ट्रीयता का सीमित सन्दर्भ
 1.1.3.7 कला पक्ष
1.1.4 पाठ-सार
1.1.5 उपयोगी ग्रन्थ-सूची
1.1.6 बोध प्रश्न

1.1.0 उद्देश्य कथन

साहित्य के इतिहास में हम प्राकृतिक घटनाओं व मानवीय व्यवहारों की जगह साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन एवं विश्लेषण ऐतिहासिक सन्दर्भ में करते हैं। प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है। प्रस्तुत पाठ के अन्तर्गत प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य की काव्य-प्रवृत्तियों की चर्चा विस्तारपूर्वक की गई है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य के परिदृश्य एवं विकास परम्परा को समझ सकेंगे।

ii. प्रारम्भिक हिन्दी काव्य के विभिन्न स्वरूप जान सकेंगे।

iii. प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य की काव्य-प्रवृत्तियों का विवेचन कर सकेंगे।

1.1.1 प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य की परम्परा एवं विकास

हिन्दी साहित्य के इतिहास की व्याख्या एवं विवेचन के लिए विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न प्रयास होते रहे हैं लेकिन समकालीन परिवेश में साहित्य का अध्ययन व विश्लेषण केवल साहित्य तक ही सीमित रहकर नहीं किया जा सकता। साहित्य की विषयगत प्रवृत्तियों एवं शैलीगत प्रक्रियाओं के स्पष्टीकरण के लिए उससे सम्बन्धित राष्ट्रीय, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों, युगीन चेतना एवं साहित्यकार की वैयक्तियों का विवेचन विश्लेषण आवश्यक है। सामान्यतः साहित्य के इतिहास में आलोचनात्मक दृष्टिकोण तथा साहित्यालोचना में ऐतिहासिक पटभूमि का उपयोग किया जाता है।

उन्नीसवीं सदी से पूर्व विभिन्न कवियों और लेखकों द्वारा कई ऐसे ग्रन्थों की रचना की गई थी जिसमें कवियों के जीवनवृत्त एवं कृतित्व का परिचय मिलता है। चौरासी वैष्णवन की वार्ता, भक्तमाल, कविमाला आदि महत्त्वपूर्ण रचनाएँ उल्लेखनीय हैं लेकिन कालक्रम, सन्-संवत् आदि के अभाव में इन्हें इतिहास की संज्ञा नहीं दी गई है। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन का प्रथम प्रयास 'गार्सा द तासी' का ही समझा जाता है। उन्होंने फ्रेंच भाषा में 'इस्तदवार द ला लितरेत्युर ऐन्दुई ऐन्दुस्तानी' ग्रन्थ लिखा जिसमें हिन्दी ओर उर्दू के अनेक कवियों का विवरण वर्णक्रमानुसार दिया गया है। तासी की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए शिवसिंह सेंगर ने 'शिवसिंह सरोज' (1883) में लगभग एक हजार भाषा कवियों के जीवनचरित, कविताओं तथा जन्म व रचनाकाल के भी संकेत दिए हैं। यद्यपि उनके द्वारा प्रस्तुत कालक्रम विश्वसनीय नहीं होने के कारण इसका उल्लेखनीय महत्त्व नहीं है। वर्ष 1888 ई. में जार्ज ग्रियर्सन द्वारा रचित 'द मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिंदुस्तान' का प्रकाशन हुआ जो नाम से 'इतिहास' न होते हुए भी हिन्दी साहित्य का पहला इतिहास कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत कवियों ओर लेखकों का काल-क्रमानुसार वर्गीकरण करते हुए उनकी प्रवृत्तियों को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

उन्नीसवीं सदी के अन्त में, जबकि हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में आलोचना एवं अनुसन्धान की परम्पराओं का आरम्भ भी नहीं हुआ था, हिन्दी भाषा एवं उसके काव्य की ऐसी स्पष्ट, सूक्ष्म एवं प्रामाणिक ऐतिहासिक व्याख्या प्रस्तुत कर देना ग्रियर्सन की अद्भुत प्रतिभा-शक्ति एवं गहन अध्ययनशीलता को प्रमाणित करता है। इस आलोक में मिश्रबन्धुओं द्वारा रचित 'मिश्रबन्धु-विनोद' भी उल्लेखनीय है जिसमें पाँच हजार कवियों का जिक्र किया गया है। इस इतिहास ग्रन्थ की विशेषता है कि इसमें साहित्य के विविध अंगों तथा ज्ञात-अज्ञात कवियों पर प्रकाश डाला गया है। हिन्दी साहित्य की इतिहास-परम्परा में सर्वोच्च स्थान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' को प्राप्त है। इसके आरम्भ में आचार्य शुक्ल ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य की परम्परा के साथ उनका सामंजस्य

दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है । जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनैतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है ।"

"साहित्य समाज का दर्पण है ।" इस उक्ति की सार्थकता प्रत्येक युग के साहित्य में देखी जा सकती है । प्रारम्भिक हिन्दी काव्य का जो रूप, विस्तार और आयाम उपलब्ध होता है, वह अपने काल की परिस्थितियों से अभिप्रेरित होता है। साहित्य में काल विशेष की गूँज उसकी आशाएँ-आकांक्षाएँ, मान्यताएँ, स्थापनाएँ, प्रेरणाएँ, घटनाएँ आदि का अन्तःबाह्य स्फोट होती हैं । प्रारम्भिक हिन्दी काव्य भी तत्युगीन परिस्थितियों की सफल अभिव्यक्ति है जो उसके राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक व सांस्कृतिक, साहित्यिक आदि युगीन परम्परा एवं परिदृश्य के स्थितिगत चित्रण में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

1.1.1.1 राजनैतिक परिदृश्य

भारत का इतिहास तत्युगीन राजनैतिक स्थिति व व्यवहार को प्रकट करता है। वह युग राजनैतिक पराभव और गृह-कलह का युग था। एक ओर विदेशी आक्रमणों की निरन्तरता के परिणामस्वरूप स्थिरता नहीं थी तो दूसरी ओर राजाओं और सामन्तों की आपसी फूट देश की एकता को खोखला किए जा रही थी । ईसा की सातवीं शती में हर्षवर्द्धन की मृत्यु के बाद देश में केन्द्रीय शक्ति का विलोप हो गया था। उत्तरी भारत में मिहिर भोज ने राजसूत्र के बिखरे सूत्रों को एकत्रित करने का प्रयास किया। उधर दक्षिण राष्ट्रकूट सम्राटों ने अपने दायित्वों के निर्वहन में पूरा जोर लगा दिया। उसी समय इस्लाम मध्य एशिया और पश्चिम को रौंदता हुआ भारत के पश्चिमी छोर पर दस्तक देने लगा था। यद्यपि वह अफगानिस्तान से आगे बढ़ने में सफल नहीं हुआ था। प्रथम आक्रान्ता मोहम्मद-बिन-कासिम ने जब आठवीं शती के आरम्भ में सिन्ध पर आक्रमण किया तब राजा दाहिर ने घरेलू फूट और कलह के बावजूद घमासान युद्ध किया और अपना उत्सर्ग कर दिया। विजय में मदमस्त होकर जब अरब सेना ने मारवाड़, कच्छ, उज्जैन और उत्तरी गुजरात पर आक्रमण किया तो चालुक्य सेना ने उसे पूरी तरह से ध्वस्त कर दिया। इस प्रकार नवीं शती तक मुसलमान सिन्ध से आगे भारत में प्रवेश नहीं कर सके थे।

कालान्तर में दसवीं-ग्यारहवीं शती के दौरान उत्तरी भारत में अनेक छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गए थे जिनमें चेदि, मालवा, गुजरात, सांभर, गौड़ आदि मुख्य थे । काबुल के हिन्दू राजा इस्लाम के निरन्तर आक्रमणों से भयभीत होकर ओहिंद तक सीमित हो गए थे। दसवीं शताब्दी में मुहम्मद गजनवी ने भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रान्तों को जीत लिया था। दक्षिण का चोलराजा राजेन्द्रम् अपने साम्राज्य विस्तार (बंगाल तक) में लगा हुआ था लेकिन उसने गजनवी को परास्त करने में अन्य राजाओं को कोई सहयोग नहीं दिया। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में अजमेर में चौहान, दिल्ली में तोमर आदि शक्तिशाली राज्य थे। अजमेर के बीसलदेव चौहान ने समूचे उत्तर भारत में अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया था। कालान्तर में गजनी के तुर्कों को परास्त करके शहाब-उद-दीन मुहम्मद ग़ोरी ने भारत पर कई बार आक्रमण किये। अजमेर के राजा पृथ्वीराज ने मुहम्मद ग़ोरी को कई बार पराजित किया। यद्यपि आन्तरिक कलह व युद्ध के परिणामस्वररूप अन्त में पृथ्वीराज चौहान पराजित हो गया। पृथ्वीराज चौहान की पराजय के साथ ही भारत में विदेशी साम्राज्य की नींव पड़ गई। उपर्युक्त समस्त

राजनैतिक घटनाओं और परिस्थितियों का मूल्यांकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू शासकों में राज-प्राप्ति और विस्तार की आकांक्षा तो थी लेकिन आपस में लड़ते रहने के कारण विदेशी आक्रमण के समय एक-दूसरे को सहयोग देने की भावना नहीं थी जिसके कारण वे सभी एक के बाद एक परास्त होते गए। व्यक्तिगत वीरता होते हुए भी व्यापक राष्ट्रीयता के अभाव में तत्युगीन भारतीय शासकों को पराजय का सामना करना पड़ा। राजा को सर्वोपरि सत्ता समझना, आन्तरिक कलह, ईर्ष्या, द्वेष आदि तत्कालीन राजनैतिक प्रवृत्तियाँ थीं। प्रारम्भिक हिन्दी काव्य-रचना की प्रवृत्तियाँ भी तत्युगीन राजनैतिक परिदृश्यों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहीं।

1.1.1.2 धार्मिक परिदृश्य

प्रारम्भिक हिन्दी काव्य-प्रवृत्तियों के निर्धारण में तत्युगीन धार्मिक परिदृश्यों का प्रभाव रहा। युगीन धार्मिक परिवेश अराजकता और स्वेछाचार में निमग्न था। वैदिक और पौराणिक धर्मों में विकार आने के परिणामस्वरूप जिन जैन और बौद्ध धर्मों ने अपनी शुद्धता एवं श्रेष्ठता का दावा किया था उनमें अनेक बुराइयों का समावेश हो गया था। बौद्धों के अनुकरण पर वैष्णव सम्प्रदायों में भी वैसी ही पूजा-विधि का प्रचार व प्रसार बढ़ रहा था। पाञ्चरात्र, शैव, कालमुख, कापालिक आदि वाममार्ग की ओर उन्मुख हो रहे थे। जैन सम्प्रदाय भी इस वाममार्गी उपासना पद्धति से अलग एवं अछूता नहीं रहा। इस प्रकार बौद्ध, जैन तथा सभी सम्प्रदायों ने धर्म के विकृत रूप को अत्यधिक उत्साह के साथ स्वीकार करना शुरू कर दिया था।

जन सामान्य इन वामाचारियों के चंगुल में बुरी तरह से जकड़ा हुआ था। नाथ योगियों ने भी वज्रयानी बौद्धों की तान्त्रिक उपासना को अपना लिया था। उसी की प्रतिक्रियास्वरूप आगे चलकर नाथ सम्प्रदाय में संयम, नियम और आचार की प्रतिष्ठा हुई। धर्म को आडम्बरों से बचाने के लिए आचार्यों ने उसके दर्शनपुष्ट स्वरूप को सामने रखा। शंकर, रामानुज, निम्बार्क आदि आचार्यों ने अपने-अपने दार्शनिक मतों का प्रतिपादन किया और लोकहित के निहितार्थ शिव तथा नारायण की उपासना के द्वार खोल दिए। चौरासी सिद्धों और नाथों के साहित्य से तत्युगीन वाममार्गी सम्प्रदायों की विकृतियाँ उजागर होती हैं।

1.1.1.3 सामाजिक परिदृश्य

प्रारम्भिक हिन्दी काव्य का सामाजिक परिदृश्य विषमताओं में जकड़ा हुआ था। जब धर्म और राजनीति केवल अपनी ही चिन्ता में लीन हो जाते हैं तब समाज भी विकारों का शिकार हो जाता है। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी और उससे पहले ही भारतीय समाज वर्ण के आधार पर जातियों की कठोर व्यवस्था में जकड़ा हुआ था। जातियों में वर्णभेद बढ़ता जा रहा था। सामन्तों की वीरता और उच्चता का दम्भ समाज को नष्ट किये जा रहा था। राजपूतों में वीरता और बलिदान की परम्परा-निर्वाह की होड़ थी। राजपूत सामन्त वीर, दृढ़व्रती, स्वामिभक्त और सत्यनिष्ठ थे किन्तु उनमें कूटनीति का अभाव था। युद्धों की पटभूमि में पलने वाले तत्युगीन समाज की आर्थिक दशा भी विपन्न ही थी। व्यवसाय तथा कृषि में अस्थिरता के कारण धन-धान्य का उतना प्राचुर्य अब नहीं था क्योंकि युद्ध-विजेताओं ने निर्मम होकर समाज को लूटा था जिससे आम आदमी की हालत दयनीय हो गई थी।

1.1.1.4 साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परिदृश्य

प्रारम्भिक हिन्दी काव्य के लिए यह दौर संक्रान्ति और बहुमुखी प्रवृत्तियों का काल था। इसी समय नाथों, सिद्धों, जैनों तथा चारण-भाटों ने निवृत्तिमूलक और शृंगार, वीरभाव की रचनाओं को समृद्ध करने की परम्पराओं का सूत्रपात किया। यद्यपि युगीन परिस्थितियाँ आन्तरिक कलह और बाह्य संघर्षों से जकड़ी हुई थीं फिर भी तत्युगीन साहित्य ने अपने सृजन-पथ को बनाए रखा। संस्कृत साहित्य का अपनी परम्परा में विकास हो रहा था। ज्योतिष, दर्शन तथा स्मृतियों की टीकाएँ-प्रटीकाएँ लिखी जा रही थीं। भवभूति और राजशेखर ने नाटक तथा काव्य के क्षेत्र में मानदण्ड स्थापित किये थे लेकिन अब पाण्डित्य-प्रदर्शन तथा चमत्कारवृत्ति ही साहित्यकारों का धर्म बनता जा रहा था। धीरे-धीरे संस्कृत साहित्य समाज और जीवन से विच्छिन्न होने लगा।

1.1.2 प्रारम्भिक हिन्दी काव्य

अपभ्रंश अपने मूल रूप में ही पन्द्रहवीं शताब्दी तक साहित्य की भाषा बनी रही लेकिन आठवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा पृथक् होकर उसके समानान्तर साहित्य रचना का माध्यम बन गई थी। इसी भाषा को कुछ विद्वानों ने 'उत्तर अपभ्रंश' या 'प्रारम्भिक हिन्दी' कहा है। यद्यपि इस सन्दर्भ में चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' का कहना है कि "उत्तर अपभ्रंश ही पुरानी हिन्दी है। यहाँ 'उत्तर' शब्द कालबोधक न होकर साहित्यिक अपभ्रंश से इतर बोलचाल की उस भाषा का बोधक है जो साहित्यिक अपभ्रंश के एक रूप की स्वीकृति के पश्चात् उसके बाद के रूप में स्थापित होती जा रही थी।" राहुल सांकृत्यायन ने भी 'उत्तर अपभ्रंश' की रचनाओं को हिन्दी की रचनाएँ स्वीकार किया है। 'हिन्दी के प्राचीन कवि और उनकी कविताएँ' नामक लेख में उन्होंने हिन्दी कविता का आदिरूप नालन्दा और विक्रमशिला के सिद्धों द्वारा बौद्ध धर्म के वज्रयान के प्रचार की भाषा में सिद्ध किया है। इसी प्रकार डॉ॰ रामकुमार वर्मा ने भी 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में गुलेरीजी और राहुलजी के मतों को स्वीकार करते हुए 'उत्तर अपभ्रंश' के कवियों को स्थापित करने का प्रयास किया है।

साहित्य के आरम्भ का निर्णय भाषा के आधार पर तो किया जा सकता है, यद्यपि एक दूसरा तत्त्व भी है जिसे हम साहित्य की चेतना कह सकते हैं। उदाहरण के लिए सिद्ध की रचनाओं में यह तत्त्व नए रूप में विकसित होता दिखाई देता है तथा अपभ्रंश से उनका खुला विद्रोह भी झलकता है। सिद्धों की वस्तुदृष्टि जिस धार्मिक चेतना पर आधारित है उसका सीधा सम्बन्ध नाथ साहित्य से होता हुआ हिन्दी के भक्तिकालीन कवियों से जुड़ता है। अतः भाषा-विकास की आरम्भिक स्थिति तथा उत्तरवर्ती धार्मिक चेतना के मूल रूप को ध्यान में रखकर सिद्ध साहित्य से हिन्दी साहित्य का आरम्भ मानना युक्तिसंगत है। यद्यपि यहाँ उल्लेखनीय है कि कई सिद्धों एवं अन्य कवियों ने अपभ्रंश के साथ ही प्रारम्भिक हिन्दी में भी रचनाएँ की हैं। ऐसे कवियों की रचनाएँ दो वर्गों में विभाजित हो जाती हैं। विद्यापति का साहित्य इसका प्रमाण है। प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण तथ्य उल्लेखनीय हैं –

i. शिवसिंह सेंगर ने अपने ग्रन्थ 'शिवसिंह सरोज' में किसी पुरानी जनश्रुति के आधार पर 'पुष्प' या 'पुष्य' नामक कवि को हिन्दी का प्रथम कवि माना है।
ii. राहुल सांकृत्यायन ने परवर्ती अपभ्रंश साहित्य की भाषा को हिन्दी भाषा का प्रारम्भिक रूप स्वीकार किया है। वे पउम-चरिउ के रचयिता अपभ्रंश के उत्कृष्ट कवि स्वयंभूको हिन्दी का प्रथम कवि स्वीकार करते हैं।
iii. काशीप्रसाद जायसवाल ने प्रख्यात सिद्ध सरहपा को हिन्दी का प्रथम कवि माना है।
iv. कुछ भाषाविद्वान् भाषिक स्पष्टता के आधार पर नरपति नाल्ह को हिन्दी का प्रथम कवि स्वीकार करते हैं।

प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य की काव्य-प्रवृत्तियों की व्याख्या के अनुक्रम में सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य, जैन साहित्य, वीरगाथात्मक साहित्य का अध्ययन आवश्यक है।

1.1.2.1 सिद्ध साहित्य

सिद्धों ने बौद्ध धर्म के वज्रयान का प्रचार करने के लिए जनभाषा में जो साहित्य लिखा, वह प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य की सीमा में आता है। राहुल सांकृत्यायन ने चौरासी सिद्धों के साहित्य का उल्लेख किया है। सिद्धों ने योगसाधना के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान दिया। इनका साहित्य कालान्तर में भक्तिकाव्य का आधार बना। सिद्धों की उलझी उक्तियों को कबीर की उलटवासियों का प्रेरक समझना चाहिए। डॉ॰ रामकुमार वर्मा के अनुसार "सिद्ध साहित्य की उपयोगिता एवं महत्त्व इस बात में बहुत अधिक है कि उससे हमारे साहित्य के आदिरूप की साम्रगी प्रामाणिक ढंग से प्राप्त होती है और भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है।" नवीन सामाजिक चेतना का सूत्रपात भी सिद्ध साहित्य में परिलक्षित होता है। सिद्धों की वाणी ने दलित एवं शोषित वर्ग को आशावादी सन्देश दिया और नवीन चेतना का सूत्रपात किया। यद्यपि इस साहित्य में कवित्व का अंश अधिक नहीं है।

1.1.2.2 नाथ साहित्य

नाथ साहित्य ने जीवन को वज्रयानी तन्त्र और कर्मकाण्ड से मुक्त कर सहज दिशा में ले जाने का प्रयास किया। व्यावहारिक दृष्टि से नाथ साहित्य में हठयोग की प्रधानता है। नाथों ने शून्य को परम सत्ता माना है। वैराग्य का मार्ग गुरु द्वारा बताया जाता है। नाथ साहित्य की रचनाएँ साखियों और पदों में हैं। नाथ साहित्य ने परवर्ती सन्त साहित्य के लिए धार्मिक पटभूमि तैयार की। सन्तों ने आचरण-शुद्धि की बात कही है, उसका मूलाधार नाथ साहित्य ही है। सन्त साहित्य पर नाथ साहित्य के प्रभाव का उल्लेख करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि "कबीर आदि सन्तों को नाथपंथियों ने जिस प्रकार 'साखी' और 'बानी' मिले, उसी प्रकार 'साखी' और 'बानी' के लिए बहुत सामग्री और सधुक्कड़ी भाषा भी।" इस प्रकार नाथ साहित्य ने परवर्ती हिन्दी साहित्य को अनेक प्रकार से प्रभावित किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "इस मार्ग में कठोर ब्रह्मचर्य, वाक्

संयम, शारीरिक शौच, मानसिक शुद्धता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, बाह्य आचरणों के प्रति अनादर, आन्तरिक शुद्धि और मद्य-मांस आदि के पूर्ण बहिष्कार पर जोर दिया गया है।"

1.1.2.3 जैन साहित्य

जैन कवियों ने अपने मत के प्रचार हेतु अपनी रचनाएँ आधार, रास, फागु और चरित आदि शैलियों में लिखीं। जैन काव्यों में उपदेशात्मकता की प्रधानता है। जैन साहित्य का सर्वाधिक लोकप्रिय रूप रास-ग्रन्थ माने गए हैं। 'रेवंतगिरि रास' में प्रकृति के रमणीक चित्र पूरी भावात्मकता तथा कलात्मकता के साथ देखे जा सकते हैं। जैन साहित्य का प्रभाव भारत के पश्चिमी प्रान्तों विशेषकर गुजरात में अधिक रहा है।

जैन साहित्य में उपदेशात्मकता की प्रधानता है। इसमें प्रायः जैन धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इसी से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जैन साहित्य को धार्मिक साहित्य मानते हुए उतना महत्त्व नहीं दिया है। किन्तु सच तो यह है कि जैन साहित्य केवल धार्मिक सिद्धान्तों का कथन मात्र नहीं है। इसमें उच्च कोटि की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। जैन साहित्य ने परवर्ती हिन्दी साहित्य को प्रभावित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है।

1.1.2.4 वीरगाथात्मक साहित्य

प्रारम्भिक हिन्दी काव्य के अन्तर्गत वीरगाथात्मक साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वीरगाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं – प्रबन्धरूप में तथा वीरगीतों के रूप में। 'खम्माण रासो', 'पृथ्वीराज रासो', 'हम्मीर रासो', 'जयचन्द्रप्रकाश' आदि प्रबन्धरूप में हैं जबकि 'आल्हाखण्ड' और 'बीसलदेव रासो' जैसी रचनाएँ वीरगीतों से युक्त मुक्तक काव्य के रूप में हैं। वीरगाथाओं के रूप में लिखित 'रासो-काव्य' जैन कवियों के रास से भिन्न है। रासो काव्य वीर-रसात्मक और शृंगार-रस प्रधान हैं। 'पृथ्वीराज रासो' वीर और शृंगार का मिश्रण है तो बीसलदेव रासो में शृंगार की सरिता प्रवाहित हुई है। उत्तरप्रदेश में 'आल्हा-खण्ड' के नाम से जो काव्य प्रचलित है, वही 'परमाल रासो' के रूप में विख्यात है।

1.1.2.5 अन्य काव्य-रचनाएँ

अमीर ख़ुसरो की पहेलियों में मनोरंजन और जीवन पर गहरे व्यंग्य एक साथ पढ़ने को मिलते हैं। ख़ुसरो की भाषा प्रारम्भिक हिन्दी काव्य में खड़ीबोली काव्य-भाषा बनने का सफल प्रयास कर रही थी और चमत्कार तथा कुतूहल की प्रवृत्तियाँ भी उन्हीं की प्रेरणा से परवर्ती हिन्दी साहित्य में विशेष स्थान पाने लगीं। यद्यपि पहेली-रचना काव्य-शैली का हिन्दी काव्य में आगे विस्तार नहीं हुआ फिर भी रहस्यवादी काव्य-प्रवृत्ति के रूप में इसका प्रभाव परवर्ती रीतिकालीन साहित्य पर अवश्य परिलक्षित होता है। इस आलोक में रीतिकालीन हिन्दी काव्य-परम्परा में कुतूहल काव्यों की एक लम्बी कड़ी देखी जा सकती है।

1.1.3 प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य की काव्य-प्रवृत्तियाँ

साहित्य का निर्माण परम्पराओं और प्रवृत्तियों से होता है। कवि किसी-न-किसी प्रवृत्ति का सहारा लेकर ही काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है। हिन्दी साहित्य में प्रत्येक युग किसी-न-किसी प्रवृत्ति का सहारा लेकर निर्मित हुआ है नीतिपरक, उपदेशपरक, रहस्यवादी, वीरगाथात्मक, प्रकृति-चित्रण, सौन्दर्य-चित्रण आदि महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियाँ प्रारम्भिक हिन्दी काव्य से प्रारम्भ हुईं और निरन्तर निर्बाध रूप से विकसित होती रहीं।

1.1.3.1 नीतिपरकता

प्रारम्भिक हिन्दी काव्य में सदाचरण पर बल दिया गया है। आचरण की शुद्धता के लिए व्यक्ति को सम्पूर्ण विकारों का परित्याग करना होगा। सदाचार के निमित्त प्रारम्भिक हिन्दी काव्य में पाखण्ड और आडम्बर का घोर विरोध किया गया है। उदाहरण के लिए सिद्ध काव्य में अन्तस्साधना पर बल दिया गया है तथा पण्डितों को फटकार लगाई गई है, यथा –

पंडिअ सअल सत्ता बक्खाणइ। देहहि रुद्ध बसंत न जाणइ।
अमणागमण ण तेन विखंडिअ। तोवि णिलज्ज भणइ हउँ पंडिअ॥

आचरण एवं व्यवहार की शुद्धताका समर्थन और कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए सरहपा कहते हैं –

बम्हणेहि म जाणन्त हि भेउ। एवइ पढ़िअउ ए च्चउ वेउ॥
मट्ट पाणी कुस लइ पढ़न्त। घरहिं बइसी अग्गि हुणन्तै॥
कज्जे विरहइ हुअवह होए, अक्खि डहाविअ कडुएँ घ्धूये॥

प्रारम्भिक हिन्दी काव्य में पाखण्ड एवं बाह्य आडम्बरों का विरोध किया गया है और गुरुसेवा को महत्ता दी गई है। तत्कालीन कवियों में प्राणी मात्र को सहज भोग-मार्ग से महासुख की ओर ले जाने का आग्रह देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए शबरपा ने अपनी रचनाओं में माया-मोह का त्याग कर सहज जीवन पर बल दिया है और इसी के माध्यम से महासुख की प्राप्ति का मार्ग बतलाया है –

हेरि ये मेरि तइला बाड़ी खसमे समतुला। षुकड़ये सेरे कपासु फुटिला।
तइला वाड़िर पासेर जोहणा वाड़ि ताएला। फ़िटेली अंधारि रे आकासु फ़ुलिआ॥

आचरण की शुद्धता एवं व्यवहार के सन्दर्भ में गोरखनाथ कहते हैं कि धीर वह है जिसका चित्त विकार-साधन होने पर भी विकृत नहीं होता –

नौ लख पातरि आगे नाचैं, पीछे सहज अखाड़ा।
ऐसे मन लै जोगी खेलै, तब अंतरि बसै भंडारा॥

1.1.3.2 उपदेशात्मकता

प्रारम्भिक हिन्दी काव्य-परम्परा में उपदेशपरक रचनाओं की समृद्ध परम्परा है । सिद्ध साहित्य में दक्षिण मार्ग को छोड़कर वाममार्ग का उपदेश हुआ है –

नाद न बिंदु न रवि शशि मंडल चिअराअ सहाबे मूकल ।

उपदेशात्मकता के आलोक में एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है –

भाव न होइ, अभाव ण जाइ। अइस संबोहे को पतिआइ ?
लूइ भणइ बट दुलक्ख बिणाण । तिअ धाए बिलसइ उह लागेण ।

1.1.3.3 रहस्यवाद

प्रारम्भिक हिन्दी काव्य में रहस्यवाद की अभिव्यक्ति हुई है । सिद्ध परम्परा में पहेली या उलटबाँसी के रूप में भाव-अभिव्यंजना हुई है। सिद्ध लोग अपनी वाणियों के सांकेतिक अर्थ भी बताया करते थे। कालान्तर में यही प्रवृत्ति सन्त कवियों ने भी अपनायी । कबीर ने इसे उलटबाँसी कहा है । सूरदास के द्रष्टकूटों में भी इसका रूप देखने को मिलता है । लुइपा-कृत निम्नलिखित रचना देखिए –

काआ तरुवर पंच बिड़ाल। चंचल चीए पइठो काल।
दिट करिअ महासुह परिमाण। लूइ भणइ गुरु पुच्छिअ जाण
भाव न होइ, अभाव ण जाइ। अइस संबोहे को पतिआइ ?
लूइ भणइ बट दुलक्ख बिणाण । तिअ धाए बिलसइ उह लागेण ।

उपर्युक्त पंक्तियों में पंच विडाल से अभिप्राय बौद्धशास्त्रों में उल्लिखित आलस्य, हिंसा, काम, चिकित्सा और मोह के रूप में निरूपित पंच प्रतिबन्धों से है । विकारों से सम्बन्धित एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है –

अवधू रहिया हारे बोट रूप विरष की छाया ।
तजिबा काम क्रोध लोभ मोह संसार की माया ॥

विकारों की यही संख्या (पाँच) निर्गुण धारा के सन्तों और हिन्दी के सूफ़ियों ने ग्रहण की । यद्यपि हिन्दू शास्त्रों में विकारों की बँधी संख्या छह है।

1.1.3.4 वीर और शृंगार का उत्कर्ष

प्रारम्भिक हिन्दी काव्य में वीर रस के साथ-साथ शृंगार रस का सुन्दर परिपाक हुआ है । वीर रस तो प्रारम्भिक हिन्दी कवियों का मुख्य लक्ष्य ही था किन्तु शृंगार के साथ उनका रूप भी ओजपूर्ण हो गया है । तत्युगीन वातावरण भी वीर रस के अनुकूल ही था । कविगण सर्वत्र युद्धोत्साह में लीन वीरों की स्तुतियाँ करने में व्यस्त थे।

वीर और शृंगार जैसे विरोधी रसों को अपनी प्रतिभा से एक साथ वर्णित कर प्रारम्भिक हिन्दी कवियों ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। वीर रस का उदाहरण देखिए –

बज्जिय घोर निसाँन, राँन चौहान चहौं दिसि।
सकल सूर सामंत, समरि बल जंत्र मंत्र तस॥
उट्ठि राज प्रथिराज, बाग मनों लग वीर नट।
कढ़त तेग मन बेग, लगत मनों बीज झट्ट घट॥
थकि रहे सूर कौतिग गिगन, रगन भगन भइ श्रोन घर।
हर हरषि वीर जग्गे हुलस, हुरव रंगि नव रत्त वर॥

शृंगार रस की प्रस्तुति द्रष्टव्य है –

मनहुँ कला ससिभांन, कला सोलह सो बन्निय।
बाल बेस ससि ता समीप, अंम्रित रस पिन्निय॥
बिगसि कमल म्रिग भ्रमर, बैन, षंजन मृग लुट्टिय।
हीर कीर अरु बिंब, मोति नष सिष अहिघुट्टिय॥
छप्पति गयंद हरि हंस गति, बिह बनाय संचै सचिय।
पदमिनिय रूप पद्मावतिय, मनहुँ काम कामिनि रचिय॥

नायिका के सौन्दर्य-चित्रण के आलोक में विद्यापति की निम्नलिखित पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं –

चांद सार लए मुख घटना करू लोचन चकित चकोरे।
अमिय धोए प्रांचरे धनि पोछल, दह दिहि भेल उजोरे।

वीरता का प्रभावी और सजीव चित्रण प्रारम्भिक हिन्दी काव्य की थाती है –

बारह बरस लौं कूकर जीयैं और तेरह लौं जीयैं सियार।
बरस अठारह क्षत्रिय जीयैं आगे जीयैं तौ धिक्कार॥

1.1.3.5 प्रकृति-चित्रण

प्रारम्भिक हिन्दी कवियों ने प्रकृति के आलम्बनगत और उद्दीपनगत चित्र व्यापक पटभूमि पर अंकित किए हैं। नगर, नदी, वन, पर्वत, उद्यान आदि के चित्र बहुत सुन्दर एवं सजीव बन पड़े हैं। बिम्बग्रह प्रणाली के आधार पर प्रकृति के रम्य एवं संश्लिष्टचित्र प्रचुरता से प्रस्तुत किये गए हैं। इन प्रकृति-चित्रणों में भी बँधी-बँधाई परिपाटी का ही अनुसरण देखने को मिलता है, फिर भी उनकी प्रस्तुति बेजोड़ है। प्रारम्भिक हिन्दी काव्यों में कहीं-कहीं प्रकृति-चित्रण के नाम पर प्राकृतिक पदार्थों की सूची मात्र प्रस्तुत कर दी गई है। इस कारण वहाँ इतिवृत्तात्मक नीरसता की अनुभूति भी होती है।

1.1.3.6 राष्ट्रीयता का सीमित सन्दर्भ

प्रारम्भिक हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता का सन्दर्भ बहुत संकुचित और सीमित है। कवियों ने आश्रयदाताओं का गुणगान करके ही अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री समझ ली है। आश्रयदाताओं की प्रशंसा में वे उचित-अनुचित का विचार भी नहीं करते। उदाहरण के लिए जिस जयचन्द को देशद्रोही माना जाता है, मधुकर कवि तथा केदार भट्ट ने उसकी प्रशंसा में जमीन-आसमान एक कर दिया है। तत्कालीन रचनाओं में 'राष्ट्र' शब्द संकुचित और सीमित अर्थ में प्रयुक्त होता था। दस-पाँच गाँवों का समूह ही कवियों के लिए राष्ट्र और आश्रयदाता ही राष्ट्रपुरुष था।

1.1.3.7 कला पक्ष

प्रारम्भिक हिन्दी काव्य प्रबन्ध और मुक्तक काव्यरूपों में उपलब्ध है। प्रबन्धकाव्यों का श्रेष्ठ उदाहरण रासो काव्य-परम्परा के अन्तर्गत चन्दवरदाई-कृत 'पृथ्वीराज रासो' है। मुक्तक काव्य के रूप में मधुरता से वलयित 'बीसलदेव रासो' का उदाहरण लिया जा सकता है। सिद्ध एवं नाथ साहित्य परम्परा में भी दोनों काव्य-रूप प्राप्त होते हैं।

प्रारम्भिक हिन्दी काव्य में छन्दों का विविधमुखी प्रयोग देखने को मिलता है। प्रारम्भिक हिन्दी काव्य छन्द-क्रान्ति-काल अभिप्रेरित था। इस समय अनेक छन्दों का प्रौढ़ प्रयोग किया गया और उन्हें भाव-प्रकाशन की सामर्थ्य प्रदान की गई। सिद्धों, नाथों तथा जैन कवियों के काव्य में प्रयुक्त सभी छन्दों के अलावा कुछ ऐसे छन्दों का विशेष प्रयोग किया गया जो वीर रस की अभिव्यक्ति में सर्वाधिक सहायक प्रमाणित हुए। दोहा, सोरठा, तोटक, तोमर, गाथा, गाहा, पद्धरि, आर्या, रोला, उल्लाला, कुण्डलिया आदि अनेक छन्दों का समुचित प्रयोग प्रारम्भिक हिन्दी काव्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

रस और अलंकार की दृष्टि से भी प्रारम्भिक हिन्दी काव्य महत्त्वपूर्ण है। इस समय रचित काव्य-रचनाओं में शृंगार, वीर, शान्त, बीभत्स, अद्भुत रस की प्रधानता है। रूपक, अन्योक्ति, विरोधाभास, उपमा, विभावना, दृष्टान्त आदि अलंकार प्रारम्भिक हिन्दी काव्य की आलंकारिक रमणयीता को परिवर्धित करते हैं।

प्रारम्भिक हिन्दी काव्य में सिद्ध-नाथपंथी परम्परा से साधु-सन्तों के बीच चली आ रही जन सामान्य की भाषा का प्रयोग हुआ जिसमें अनेक क्षेत्रीय बोलियों का सम्मिश्रण भी परिलक्षित होता है।

1.1.4 पाठ-सार

प्रारम्भिक हिन्दी काव्य भाषा और साहित्य की दृष्टि से पर्याप्त सम्पन्न है। यद्यपि उसकी समस्त प्रवृत्तियों का सम्यक् मूल्यांकन अब तक नहीं हो पाया है। इसका प्रमुख कारण है कि आलोचक विद्वान् प्रायः प्रामाणिकता एवं भाषा के विवादों से अपने को मुक्त नहीं कर पाए हैं। प्रारम्भिक हिन्दी काव्य जन-जीवन की जिन अनुभूतियों से प्रकट हुआ है, उनमें पर्याप्त विविधता है। यह एक भीड़ द्वारा सायास लिखित साहित्य नहीं है बल्कि एक सचेतन

समाज की सहज स्थितियों से उत्पन्न साहित्य है। यही कारण है कि इसमें मानव जीवन की विभिन्न दशाओं और स्वच्छन्द प्रवृत्तियों के विविध चित्र मिलते हैं। भाषा-रूप, सम्प्रेषणीयता, कथ्य और शिल्प की दृष्टि से प्रारम्भिक हिन्दी काव्य में एक साथ कई परम्पराओं का उदय दिखाई देता है।

1.1.5 उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. पाण्डेय, मैनेजर, साहित्य और इतिहास दृष्टि, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
2. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
3. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
4. मिश्र, विश्वनाथप्रसाद, हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
5. वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
6. वर्मा, धीरेन्द्र, हिन्दी साहित्य, भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग

1.1.6 बोध प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी साहित्य से अलग सर्वप्रथम किसने माना ?
   (क) जार्ज ग्रियर्सन
   (ख) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
   (ग) मिश्र बन्धु
   (घ) शिवसिंह सेंगर

2. प्रारम्भिक हिन्दी काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति है –
   (क) आलोचना
   (ख) उपदेश
   (ग) खण्डन-मण्डन
   (घ) इनमें से कोई नहीं

3. प्रारम्भिक हिन्दी काव्य में कौन-सी प्रवृत्ति नहीं मिलती है ?
   (क) राजाओं का यशोगान
   (ख) शृंगार वर्णन
   (ग) प्रकृति-चित्रण
   (घ) इनमें से कोई नहीं

4. रास परम्परा के अन्तर्गत जैन साहित्य का प्रथम ग्रन्थ कौन सा है ?
   (क) भरतेश्वर बाहुबली रास
   (ख) भरतमुनि रास
   (ग) विमोद रास
   (घ) साधक रास

5. प्रारम्भिक हिन्दी काव्य में क्या उपेक्षित रहा ?
   (क) धार्मिक चेतना
   (ख) स्वामी चेतना
   (ग) सामाजिक चेतना
   (घ) राष्ट्रीय चेतना

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. प्रारम्भिक हिन्दी काव्य के कितने रूप हैं ?
2. नाथ साहित्य की प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।
3. वीरगाथात्मक काव्य से आप क्या समझते हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. प्रारम्भिक हिन्दी काव्य के साहित्यिक अवदान पर प्रकाश डालिए।
2. "प्रारम्भिक हिन्दी काव्य मूलतः वीर-शृंगारप्रधान काव्य है।" टिप्पणी कीजिए।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 1 : लोक, सत्ता और प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य

इकाई – 2 : मुक्तक-काव्य-परम्परा में प्रवहमान नीति, वीर, शृंगार तथा सुभाषितपरक दोहों का अनुशीलन

इकाई की रूपरेखा

1.2.0 उद्देश्य कथन
1.2.1 प्रस्तावना
1.2.2 मुक्तक-काव्य की अवधारणा एवं विकास
1.2.3 मुक्तक-काव्य-परम्परा में नीतिपरकता
1.2.4 मुक्तक-काव्य-परम्परा में शृंगारपरकता
1.2.5 मुक्तक-काव्य-परम्परा में सुभाषितपरकता
1.2.6 पाठ-सार
1.2.7 उपयोगी ग्रन्थ-सूची
1.2.8 बोध प्रश्न

1.2.0 उद्देश्य कथन

प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य में प्रबन्ध के साथ-साथ मुक्तक शैली में भी अपार काव्य-रचनाएँ हुईं। परवर्ती कवियों ने मुक्तक को बड़े उत्साह से अपनाया। प्रस्तुत इकाई प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य की मुक्तक-काव्य-परम्परा में प्रवहमान नीति, वीर, शृंगार तथा सुभाषितपरक दोहों के अनुशीलन पर केन्द्रित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. मुक्तक-काव्य की अवधारणा एवं विकास को जान सकेंगे।
ii. मुक्तक-काव्य-परम्परा में नीतिपरक रचनाओं की व्याख्या कर सकेंगे।
iii. मुक्तक-काव्य की शृंगारपरक प्रवृत्तियों की विवेचना कर सकेंगे।
iv. मुक्तक-काव्य-परम्परा के सुभाषितपरक दोहों का अनुशीलन कर सकेंगे।

1.2.1 प्रस्तावना

प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य में मुक्तक-काव्य की समृद्ध परम्परा रही है। मुक्तक-काव्य प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य की सर्वोपरि उपलब्धि है। तत्युगीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में इसकी उपयोगिता एवं विषयवस्तु को समझा जा सकता है। रचना वही महत्त्वपूर्ण होती है जो अपने समय के लिए तो आवश्यक हो ही; साथ ही, आने वाले समय के लिए भी वह उतनी ही प्रासंगिक हो। साहित्यक अवदान के सन्दर्भ में नीति, शृंगार तथा सुभाषितपरक रचनाएँ अपने समय में तो उल्लेखनीय थीं ही, आज के समय के लिए भी अर्थवान् है।

1.2.2 मुक्तक-काव्य की अवधारणा एवं विकास

विक्टर ह्यूगो के अनुसार "ऐसा काव्य जो रूढ़ियों से मुक्त होता है, मुक्तक काव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है।" कुछ विद्वान् मुक्तककाव्य में चमत्कार और अनुभूति की प्रधानता को स्वीकार करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार"मुक्तक-काव्य में प्रकृति का मुक्त रूप और जीवन का सहज प्रवाह दिखाई पड़ता है।" आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "मुक्तक-काव्य में कल्पना एवं भावावेग की प्रमुखता होती है।" डॉ॰ विश्वनाथ के अनुसार "मुक्तक काव्य में ताजगी एवं अभिनवत्व का होना अनिवार्य है, क्योंकि वह समवर्ती जीवन से प्रेरित होता है।" मुक्तक-काव्य की परम्परा एवं स्वरूप को समझने के लिए उसके निम्नलिखित लक्षणों का अवलोकन करना सहायक होगा –

01. मुक्तक-काव्य का प्रमुख लक्ष्य हृदय के भावावेगों को मुक्त भाव से व्यक्त करना होता है।
02. मुक्तक-काव्य में इन्द्रियानुभूति की नहीं, हृदयानुभूति की प्रधानता होती है।
03. यह मूलतः आत्मपरक और व्यक्तिपरक होता है।
04. यह रूढ़िमुक्त होता है तथा समवर्ती जीवन से अभिप्रेरित रहता है।
05. यह व्यंजना-प्रधान होने के साथ-साथ रहस्यात्मकता का भी पुट लिये रहता है।
06. यह भावप्रधान अधिक होता है, रूपप्रधान कम।
07. इसमें अनुभूति को प्रमुखता दी जाती है, अभिव्यक्ति की कलात्मकता पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता।
08. मुक्तक-काव्य में लाक्षणिक भाषा का प्रयोग बहुलता से किया जाता है।
09. मुक्तक-काव्य में कल्पना की प्रमुखता रहती है।
10. मुक्तक-काव्य की प्रकृति प्रबन्धकाव्य और खण्डकाव्य से भिन्न होती है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक रचना अपने आप में नई कल्पना एवं विषयवस्तु का विधान करती है।

भाषा के विकास की आरम्भिक स्थिति तथा उत्तरवर्ती धार्मिक चेतना के मूल रूप को ध्यान में रखकर सिद्ध साहित्य से प्रारम्भिक हिन्दी काव्य की आरम्भ मानना पूरी तरह से न्यायसंगत प्रतीत होता है। हिन्दी साहित्य का आरम्भ जहाँ सरहपा से होता है, वहीं विद्यापति पर उसका समापन माना जाता है। इस परम्परा का विकास अचानक नहीं हुआ है। इसी प्रक्रिया में प्रारम्भिक हिन्दी काव्य की मुक्तक-परम्परा का विकास हुआ है। हिन्दी-मुक्तक-काव्य में 'दोहा' सबसे प्रिय छन्द रहा है। तत्युगीन जनजीवन का स्वाभिमान एवं व्यवहार मुक्तक किंवा दोहों के रूप में पूरी निष्ठा के साथ अभिव्यक्त हुआ है। नीति या आचरण, शृंगार भाव और सुभाषितपरकता को मानवीय जीवन-मूल्य एवं व्यवहार के आलोक में समय-सापेक्ष समाज, साहित्य और संस्कृति के साथ जोड़कर देखा जाना उपयोगी होता है। प्रारम्भिक हिन्दी मुक्तक-काव्य में नीति, शृंगार और सुभाषितपरक दोहों की एक सुदीर्घ परम्परा दिखाई देती है। डॉ॰ पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल इसी परम्परा से रीतिकालीन कवि बिहारी के नीति सम्बन्धी दोहों का उद्भव स्वीकार करते हैं।

1.2.3 मुक्तक-काव्य-परम्परा में नीतिपरकता

प्रारम्भिक हिन्दी काव्य-धारा में नैतिक लोकाचरण एवं व्यवहार पर बल देने की प्रवृत्ति है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी साहित्य को लोकेतर भूमिकाओं से सम्बद्ध नहीं करते हैं। नैतिक लोकाचरण एवं व्यवहार पर बल देने की प्रवृत्ति दोहों में अधिक मुखरित हुई है। प्रारम्भिक हिन्दी काव्य में अधिकांश दोहे शृंगारपरक और सुभाषितपरक हैं। वहाँ नीतिपरक दोहों की संख्या अपेक्षाकृत न्यून है तथापि नीतिपरक दोहों की निरन्तरता बनी रही है। सिद्ध, नाथ और जैन कवियों का इसमें उल्लेखनीय योगदान है।

वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड और बाह्याडम्बरों के विरोध में बौद्ध धर्म का उदय हुआ था। कालान्तर में स्वयं बौद्ध धर्म अनेक बुराइयों और विवादों का शिकार हो गया। ईसा की प्रथम शताब्दी में बौद्ध धर्म का विभाजन हो गया। हीनयान बौद्ध धर्म के के प्रति आस्थावान् रहा जबकि महायान व्यवहार पक्ष को महत्त्व देने लगा। आगे चलकर महायान शाखा मन्त्रयान में बदल गई तथा मन्त्रयान से ही वज्रयान तथा सहजयान का प्रादुर्भाव हुआ। मन्त्रों द्वारा सिद्धि प्राप्त करने वाले बौद्ध तान्त्रिक 'सिद्ध' कहलाए। उनके विचार सिद्ध साहित्य के रूप में लोकप्रिय हुए। नीतिपरक रचनाओं के आलोक में सिद्ध साहित्य से कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

जहि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नांह पवेश
तहि बढ चित्त बिसाम करु, सरहे कहिअ उवेस

घोर अंधारे चंदमणि जिमि उज्जोअ करेइ
परम महासुह एखु कणे दुरिअ अशेष हरेइ

जीवंतह जो नउ जरइ सो अजरामर होइ
गुरु उपएसें बिमलमइ सो पर धाण्णा कोइ

सिद्धों ने अन्तस्साधना को मानव जीवन का नैतिक पक्ष स्वीकार करते हुए उसे अपनाने पर बल दिया तथा बाह्य आडम्बरों के समर्थक पण्डितों को फटकार लगाइ गई है। उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

पंडिअ सअल सत्ता बक्खाणइ। देहहि रुद्ध बसंत न जाणइ।
अमणागमण ण तेन विखंडिअ। तोवि णिलज्ज भणइ हउँ पंडिअ॥

और भी,

काआ तरुवर पंच बिड़ाल। चंचल चीए पइठो काल।
दिट करिअ महासुह परिमाण। लूइ भणइ गुरु पुच्छिअ जाण॥

– लुइपा

सन्तों ने जिस आचरण-शुद्धि की बात कही है, उसका मूलाधार नाथ साहित्य ही है। वर्तमान में व्यक्ति काम, क्रोध, मोह और लोभ जैसे विकारों में फँसा हुआ है। मोह-माया में फँसकर वह बुरे व पाप कर्म कर रहा है।

संसार में अनेक रोग, शोक, जन्म-मृत्यु के अलावा, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार में फँसे मानव को नाथ साहित्य में सही मार्ग प्रशस्त किया गया है। नाथ साहित्य में दोहों के माध्यम से सामाजिक रूढ़ियों का खण्डन किया गया है तथा समाज में व्याप्त धार्मिक विकृति एवं व्यभिचार का खण्डन करते हुए उसे नैतिक मनोवृत्ति के अनुकूल बनाने का प्रयास किया गया है। यथा –

अबधू रहिया हाटे बाटे, रूष विरस की छाया।
तजिबा काम क्रोध लोभ, मोह संसार की माया॥

जैनाचार्य देवसेन की प्रसिद्ध कृति 'श्रावकाचार' की रचना 'दोहा' छन्द में हुई है। 'श्रावकाचार' में लगभग ढाई सौ दोहों में श्रावक धर्म का प्रतिपादन किया गया है। देवसेन ने गृहस्थ के कर्त्तव्यों पर विस्तार से चर्चा की है। उदाहरण देखिए –

जो जिण सासण भाषियउ सो मई कहियउ सार।
जो पालइ सइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु॥

प्रारम्भिक हिन्दी काव्य में सर्वत्र गुरु की महत्ता पर बल दिया गया है। कालान्तर में भक्तिकाल में भी यह प्रवृत्ति जारी रही। सरहपा रचित निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

गुरु उबएसे अमिअ-रसु, घाब ण पीअउ जैहि।
बहु-सत्यत्य-मरुत्थलहि, तिसिउ मरिअर तेहि।

कविता और कला में मनुष्य का कोई-न-कोई रूप अवश्य उद्घाटित होता रहा है। प्रत्येक काल की रचनाएँ अपने युग-सन्दर्भों के अनुरूप अपने युग के मनुष्य को, उसके आचरण को, उसके ज्ञान एवं व्यवहार को, सजीव ढंग से रूपायित करने का प्रयास करती हैं। प्रारम्भिक हिन्दी काव्य में रचित दोहों में कवित्व का वह उत्कर्ष भले ही दिखाई नहीं देता जिसकी अपेक्षा साहित्य में रहती है तथापि इसकी विषयवस्तु ने परवर्ती साहित्यकारों को निकटता से प्रभावित किया है। अनेक दोहों, विशेषकर सिद्ध परम्परा के दोहों में पहली बार नवीन सामाजिक चेतना के संस्कार परिलक्षित होते हैं। अपने दोहों के माध्यम से सिद्धों ने दलित एवं शोषित वर्ग को मानवीय व्यवहारों से सम्बन्धित नीतिगत आचरण व नैतिक मूल्यों का आशावादी सन्देश दिया और उनके मन में नवीन चेतना का सूत्रपात किया। सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य, जैन साहित्य में रचित नीतिपरक दोहों की उपयोगिता एवं महत्त्व निर्विवाद है। इन दोहों में जीवन की ऐहिकता, भोगवाद और सांसारिकता के प्रति विरक्ति का भाव प्रकट हुआ है जिसका नैतिक सन्दर्भ आज भी अनुकरणीय है।

1.2.4 मुक्तक-काव्य-परम्परा में शृंगारपरकता

परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का समाहार भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। वैविध्य और समरसता भारतीय सांस्कृतिक विकास प्रक्रिया का मूल सूत्र है जिसका उत्कृष्ट उदाहरण प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य की मुक्तक

काव्य-परम्परा प्रस्तुत करती है। मुक्तक काव्य में शृंगारपरक रचनाओं की बहुलता है। लगभग सभी वीरगाथाओं में वीर रस के साथ-साथ शृंगार रस की सफल अभिव्यंजना हुई है। तत्कालीन युग में युद्ध का मूल कारण था, राज्य-प्राप्ति और उसका विस्तार। किन्तु राज्य-प्राप्ति से भी अधिक युद्ध का महत्त्वपूर्ण कारण रहा, स्त्री-प्राप्ति की कामना। नारी-लिप्सा के कारण तत्युगीन राजाओं ने अनेक युद्ध किये। युगीन प्रभावस्वरूप उस समय रचित साहित्य में युद्धवर्णन के साथ ही नारी-सौन्दर्य का चित्रण, नखशिख और विलास तथा वासना के अनेक चित्र परिलक्षित होते हैं। मुक्तक कवियों ने अपनी रचनात्मक प्रतिभा से वीर और शृंगार जैसे विरोधी रसों के मनोहारी चित्र प्रस्तुत किए हैं। परमाल रासो, बीसलदेव रासो आदि मुक्तक काव्यों का शृंगार-वर्णन अनुपम है।

प्रारम्भिक हिन्दी मुक्तक काव्य में शृंगार-वर्णन मुख्यतः सामन्तों, राजाओं, रनिवासों और उनके आचार-व्यवहार, ऐश्वर्य-वैभव आदि पर केन्द्रित है। देह और भौतिक सुखों के प्रति एक गहरा रागात्मक सम्बन्ध ऐहिकता का मूल आधार है। आम जनजीवन व उनके व्यवहारों की यहाँ सर्वथा उपेक्षा हुई है। मुक्तक काव्य-परम्परा में युद्धों का सजीव चित्रण और राजाओं की शृंगारप्रियता का वर्णन मिलता है। शृंगार का उदाहरण द्रष्टव्य है –

मनहुँ कला ससिभांन, कला सोलह सो बन्निय।
बाल बेस ससि ता समीप, अंम्रित रस पिन्निय॥
बिगसि कमल म्रिग भ्रमर, बैन, षंजन मृग लुट्टिय।
हीर कीर अरु बिंब, मोति नष सिष अहिघुट्टिय॥
छप्पति गयंद हरि हंस गति, बिह बनाय संचै सचिय।
पदमिनिय रूप पद्मावतिय, मनहुँ काम कामिनि रचिय॥

प्रारम्भिक हिन्दी कवियों ने शृंगार के पक्षों के सुन्दर चित्र उकेरे हैं। नैतिक मर्यादाओं के पालन से रस की सात्त्विकता सुरक्षित रही है। मुक्तक कवियों ने अनेक काल्पनिक और ऐतिहासिक घटनाओं का संयोजन इस प्रकार किया है कि अवसर मिलते ही उनके दोहों में शृंगार और वीर रस का स्वाभाविक चित्रण हो जाता है। भाव-व्यंजना की दृष्टि से शृंगारपरक दोहों में कवियों की रचनात्मक सम्प्रेषणीयता देखने योग्य है। यद्यपि शृंगार वर्णनों की भरमार होने से अनेक स्थान शुष्क और इतिवृत्तात्मक हो गए हैं। तथापि भावपूर्ण मार्मिक स्थलों की भी कमी नहीं है। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित कवित्त द्रष्टव्य है –

कुट्टिल केश सुदेश, पौहप रचियत पिक्क सद।
कमलगंध वयसंध, हंसगति चलत मंदमद॥
सेत वस्त्र सौहै सरीर, नष स्वाति बुंद जस।
भमर भँवहि भुल्लहिं सुभाव मकरंद बास रस॥
नैन निरखि सुष पाय सुक, यह सुदिन मूरति रचिय।
उमा प्रसाद हर हेरियत, मिलहिं राज प्रथिराज जिय॥

'बीसलदेव रासो' में नरपति नाल्ह ने शृंगार के वियोग और संयोग पक्षों को अत्यन्त मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। इस कृति की नायिका राजमती एक स्वाभिमानी, कुलीन गृहिणी है जिसके विरह-चित्रण को कवि ने

ओजमय और कान्तिमय रूप प्रदान किया है। संयोग के समय यही कान्ति दोहों के काव्यात्मक सौन्दर्य की वृद्धि करती है।

पति के हृदय को बेधने वाली राजमती की कुलीनता और उसके संस्कार ही उसकी विरह-वेदना का आधार हैं। वे ही उसे उसकी विवशता तक पहुँचाते हैं। सम्पूर्ण प्रकृति राजमती के विरह-वर्णन में सहायक बनी है तथा काव्य-अनुभूति को भी उसने सुकुमारता प्रदान की है। उदाहरणार्थ –

हउं बइसती अंबा नइ चंपा की डाल!
भषती दाष बीजोरडी।
णि दुष झूइ अवलाजी बाल।

मैथिल कोकिल विद्यापति संक्रमण काल के कवि थे। वे हिन्दी साहित्य में भक्ति और शृंगार परम्परा के प्रवर्तक कवि माने जाते हैं। उन्होंने शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का यथोचित ढंग से चित्रण किया है। संयोग चित्रण में उनका मन अधिक रमा है। भाषा का माधुर्य और भावों की सुकुमारता का अलौकिक संगम उनके शृंगारपरक दोहों में पिरोया हुआ है। उदाहरणार्थ –

सहजहि आनन सुन्दर रे भेउह सुरेखलि शॉखि।
पङ्कज मधु पिवि मधुकर उड़ ए पसारए पॉखि॥

ततहि धोल द्दु लोचन रे जतहि गेलि वर नारि।
थासा लुबुधल न तेजए रे कुपनक पाछु भिखारि॥

प्रारम्भिक हिन्दी मुक्तक काव्य-परम्परा में विद्यापति का काव्य प्रभावी एवं मानक बन पड़ा है। परवर्ती हिन्दी काव्य-परम्परा विशेषकर रीतिकालीन काव्य-परम्परा के लिए शृंगारपरक रचनाओं के सन्दर्भ में विद्यापति अपेक्षाकृत अधिक अनुकरणीय सिद्ध होते हैं। विद्यापति की रचनाओं में शृंगारिकता और माधुर्य का अद्भुत समावेश हुआ है। उदाहरण द्रष्टव्य है –

चांद सार लए मुख घटना करू लोचन चकित चकोरे।
अमिय धोए प्रांचरे धनि पोछल, दह दिहि भेल उजोरे।

शृंगार से सराबोर मुक्तक काव्य-परम्परा की प्रवृत्ति बीसलदेव रासो, विद्यापति पदावली से होती हुई भक्तिकाल में जा पहुँचती है, वहाँ यह कृष्णभक्तों को प्रभावित करती है। आगे रीतिकाल में उसका सरस शृंगार काव्य के रूप में चरमोत्कर्ष देखने में आता है।

1.2.5 मुक्तक-काव्य-परम्परा में सुभाषितपरकता

प्रारम्भिक हिन्दी काव्य-परम्परा के अधिकांश कवि विभिन्न राजदरबारों के आश्रित थे एवं अपने आश्रयदाताओं से वृत्ति प्राप्त करते थे। अतः यह स्वाभाविक था कि वे अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में काव्य रचना करते। यही कारण है कि मुक्तक काव्य-परम्परा सुभाषितपरक दोहों की विशाल परम्परा है। इन काव्यों की विषयवस्तु का मूल सम्बन्ध राजाओं के चरित तथा प्रशंसा से है। आदिकालीन मुक्तक काव्यों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि उनके रचयिता जिस राजा के चरित का वर्णन करते थे उसके उत्तराधिकारी राजागण अपने आश्रित अन्य कवियों से उसमें अपने चरित भी सम्मिलित करवा लिया करते थे। यही वजह है कि आलोच्य परम्परा में कहीं-कहीं मध्यकालीन राजाओं का भी वर्णन मिलता है तथा भाषा के स्तर पर भी उत्तरवर्ती भाषारूपों की झलक स्पष्ट दिखाई पड़ती है। प्रारम्भिक हिन्दी मुक्तक काव्य में विशेषकर वीरगाथात्मक काव्यों में सुभाषितपरक दोहों की बहुलता है। अधिकांश दोहों में युद्धों एवं शौर्य-गाथाओं का सजीव चित्रण किया गया है। शौर्य-वर्णन तथा युद्ध-कौशल एवं युद्ध के दृश्यों में ये दोहे इतने विशिष्ट हैं कि इस क्षेत्र में इनकी बराबरी करने वाला करने वाली दूसरी परम्परा दूर-दूर तक दिखाई नहीं देती। यद्यपि रीतिकालीन हिन्दी काव्य में इसी परम्परा के अनुकरण में एक मुख्य धारा कालान्तर में प्रवाहित हुई दिखाई देती है।

युद्धों की विभीषिका, वीरों का उत्साह, शस्त्र की झंकार, गति, त्वरा, ओज, रक्तपात तथा कौशल का ऐसा अभूतपूर्व चित्रण अन्यत्र कहीं नहीं मिलता जैसा प्रारम्भिक हिन्दी काव्य-परम्परा के सुभाषितों में देखा जाता है। इसका कारण यह भी स्वीकार किया जाता है कि इन काव्यों के रचयिता प्रायः चारण कवि होते थे और अपने आश्रयदाता का यशोगान की उनकी स्वाभाविक प्रवत्ति बनी रही। अपने आश्रयदाता की प्रशंसा करने में वे सिद्धहस्त थे। चारण कवि अपनी सुभाषितपरक रचनाओं के माध्यम से अपने आश्रयदाता को युद्धधर्म-निर्वाह की प्रेरणा भी देते थे और आवश्यकता पड़ने पर स्वयं तलवार पकड़ युद्धक्षेत्र में वीरता का प्रदर्शन करते थे। इस प्रवृत्ति के सन्दर्भ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि "लड़ने वालों की संख्या कम थी क्योंकि लड़ाई भी जाति-विशेष का पेशा मान ली गई थी। देश-रक्षा या धर्म के लिए समूची जनता के संलग्न हो जाने का विचार ही नहीं उठता था। लोग क्रमशः जातियों, उपजातियों, सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों में विभक्त होते जा रहे थे। लड़ने वाली जाति के लिए सचमुच चैन से रहना असम्भव हो गया था क्योंकि उत्तर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम सभी ओर से आक्रमण की संभावना थी इसलिए निरन्तर प्रोत्साहित करने के लिए भी एक वर्ग आवश्यक हो गया था।"

चारण कवियों ने अपनी सुभाषितपरक रचनाओं के माध्यम से युद्ध एवं युद्धोभ्यास का सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है। कवि जगनिक की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

बारह बरस लौं कूकर जीयैं और तेरह लौं जीयैं सियार।
बरस अठारह क्षत्रिय जीयैं आगे जीयैं तौ धिक्कार॥

प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य की लोक मुक्तक-काव्य-परम्परा में चारण कवियों की एक समृद्ध परम्परा के दर्शन होते हैं। अपने काव्य में सर्वत्र ही इन्होंने अपने आश्रयदाताओं की अतिरंजनापूर्ण प्रशंसा की है। आलम यह होता था कि चारण कवि अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में उचित-अनुचित का भी विचार नहीं करते थे। छोटे-छोटे राजाओं, सामन्तों और यहाँ तक कि अनधिकारी व्यक्तियों को भी चारण कवियों ने सूर्य के समान प्रतापी चित्रित किया है। इस सन्दर्भ में उदाहरणस्वरूप एक दोहा अवलोकनीय है –

कवि दीजै कमला, जोड़ण कवित जुगति।
सूरजि वंस तणौ सुजस, वरणन करूँ विगति ॥

यद्यपि ये रचनाएँ अतिरंजनात्मक हैं तथापि इनकी कल्पनाशीलता देखने योग्य है। कवियों को इतिहास और साक्ष्य की परवाह नहीं है। वे अपनी काव्यात्मकता को पूरी तरह से आश्रयदाताओं के यशोगान पर केन्द्रित करते हैं। उदाहरण के तौर पर इतिहास में जिस जयचन्द को राष्ट्रदोही माना जाता है, उसे कवि मधुकर भट्ट और कवि केदारनाथ ने अपनी रचनाओं में अभूतपूर्व नायक सिद्ध करने के लिए जमीन-आसमान एक कर दिया है। वस्तुतः तत्कालीन राष्ट्रीयता की संकल्पना बहुत संकुचित थी। तब राष्ट्र शब्द का प्रयोग सीमित सन्दर्भों और सीमित अर्थ में प्रयुक्त होता था। दस-पाँच गाँवों का समूह ही उनका राष्ट्र होता था तथाआश्रयदाता ही उनके लिए राष्ट्रपुरुष होता था। यही कारण है कि तत्युगीन परिदृश्य राष्ट्रीयता का विस्तृत एवं व्यापक बोध कराने मेंअसमर्थ हैं। यथार्थ-चित्रण से साहित्य की विश्वासनीयता बढ़ती है और समाज को समझने का स्रोत भी मिलता है। किन्तु खेदजनक है कि तत्कालीन साहित्य यथार्थ-चित्रण से दूर ही रहा।

आश्रित कवियों द्वारा अपनी स्तुतियाँ एवं मान्बड़ाई सुनकर राजा अपनी काल्पनिक दुनिया में खोये रहते थे। अपने आस-पास की परिस्थितियों से वे सर्वथा अनभिज्ञ रहते थे। जब कोई विदेशी आक्रान्ता किसी राजा पर आक्रमण करता था तो अन्य राजा यह सोचकर निश्चिन्त रहते थे कि हमारा राष्ट्र (पाँच-दस गाँवों का समूह) तो सुरक्षित है। पारस्परिक द्वैष इतना प्रबल होता था कि पड़ोसी राज्य की पराजय पर अन्य राजा प्रसन्न होते थे। परिणामस्वरूप विदेशियों ने क्रमशः एक के बाद एक लगभग सभी राजाओं को परास्त कर दिया। सुभाषितपरक मुक्तक काव्य-परम्परा में राष्ट्रीयता के इसी संकुचित अर्थ एवं बोध का आभास होता है। सुभाषितपरक रचनाओं की अन्तर्वस्तु से सामान्य जनजीवन का चित्रण पूरी तरह अनुपस्थित है। तत्युगीन सामाजिक वस्तुस्थिति एवं व्यवहारों का लेखा-जोखा उनमें नहीं है। कवियों ने अपनी सुभाषितपरक रचनाओं में राजाओं और सामन्तों को प्रधान तो स्वीकार किया है किन्तु उनके तौर-तरीकों से आमजन के जीवन स्तर, आचार-व्यवहार आदि को चित्रित नहीं किया है। इस प्रकार सुभाषितपरक मुक्तक काव्य 'स्वामिनःसुखाय' की भावना से लिखे गए काव्य हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित कवित्त द्रष्टव्य है –

बज्जिय घोर निसाँन, राँन चौहान चहौं दिसि।
सकल सूर सामंत, समरि बल जंत्र मंत्र तस॥
उट्ठि राज प्रथिराज, बाग मनों लग वीर नट।
कढ़त तेग मन बेग, लगत मनों बीज झट्ट घट॥

थकि रहे सूर कौतिग गिगन, रगन भगन भइ श्रोन घर।
हर हरषि वीर जग्गे हुलस, हुरव रंगि नव रत्त वर॥

विद्यापतिकालीन सामाजिक परिस्थितियाँ भी विषम थीं। राज्य में राजा और सामन्त ही मुख्य थे। व्यवसायी और व्यापारी वर्ग सम्पन्न और सुखी था। तत्युगीन समाज में किसान, खेतिहर मजदूर और दास शोषण, बेगार और उत्पीड़न का शिकार होते थे। भक्ति और शृंगारपरक साहित्य शोषित वर्ग को क्रमशः सम्बल और आनन्द प्रदान करता है। विद्यापति ने इस मर्म को समझा। इसी से उनकी रचनाओं में भक्ति और शृंगार का प्राधान्य है। वयःसंधि पर आधारित विद्यापति का शृंगार विषयक पद देखिए–

सैसब जौबन दरसन भेल। दुहु दल-बल दंद परिगेल॥
कबहुँ बांधल कच कबहुँ बिथारि। कबहुँ झाँपय अंग कबहुँ उघारि॥
अति थिर नयन अथिर किछु भेल। उरज-उदय-थल लालिम देल॥
चंचल चरन चंचल चित भान। जागल मनसिज मुदित नयान॥
बिद्यापति कह सुनु बर कान। धैरज धरह मिलायब आन॥

विद्यापति की रचनाओं को मुख्यतः तीन सन्दर्भों में देखा जा सकता है – (i) राधा-कृष्ण सम्बन्धी पद, (ii) शिव, विष्णु, गंगा, जानकी, दुर्गा आदि की भक्ति से सम्बन्धित पद तथा (iii) आश्रयदाता राजाओं की स्तुति एवं सुभाषितपरक पद।

विद्यापति के राधा-कृष्ण सम्बन्धी पदों में शृंगार का प्राधान्य है। परवर्ती रीतिकालीन साहित्य इसी पीठिका पर अवस्थित है। शिव, विष्णु, गंगा, जानकी, दुर्गा आदि के स्तुतिपरक पदों में श्रद्धा और भक्ति-भाव अभिव्यक्त हुआ है। हरि-स्मरण का एक पद देखिए –

तातल सैकत वारि-बिन्दु सम सुत-मित रमनि समाजे।
तोहे बिसारि मन ताहे समरपिनु अब मझु हब कौन साजै॥
माधव हम परिनाम निरासा।
तुहुँ जगतारन दीन-दयामय अवए तोहर बिसवासा॥
आध जनम हम नींद गमायनु जरा सिसुकत दिन गेला।
निधुबन-रमनि-रभस-रंग मातनु तोहे भजब कोन बेला॥
कत चतुरानन मरि मरि जाओब न तुअ आदि अवसाना।
तोहे जनमि पुनि तोहे समाओत सागर लहरि समाना॥
भनइ बिद्यापति सेष समन भय तुअ बिनु गति नहीं आरा।
आदि अनादि नाथ कहओसि अब तारन भार तोहारा॥

सुभाषितपरक पदों में विद्यापति ने अपने आश्रयदाताओं की वीरता का गुणगान और यशोगान किया है। प्रारम्भिक हिन्दी मुक्तक काव्य-परम्परा में सुभाषितपरक दोहों की विषयवस्तु का जिन बिन्दुओं के आधार पर अनुशीलन किया जाता है उस दृष्टि में भी पर्याप्त तार्किकता का बोध नहीं होता। क्योंकि काव्य-समीक्षा के दौरान

अधिकांश विद्वानों तत्युगीन परिवेश का सम्यक् बोध करा पाने में सफल नहीं हो पाए हैं। चूँकि शेष अन्य काव्य-प्रवृत्तियों की भाँति सुभाषितपरक दोहों का अनुशीलन नहीं हुआ है तथा सभी आलोचनाओं के केन्द्र में सुभाषितपरकता को चाटुकारिता का पर्याय मानकर एक सिरे से उसके साहित्यिक अवदान को खारिज कर दिया जाता है इसलिए इस दिशा में सम्यक् मूल्यांकन दृष्टि अपनाए जाने की महती आवश्यकता है।

1.2.6 पाठ-सार

प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य में मुक्तक काव्य-परम्परा का सन्दर्भ विविधात्मक है और इसी विविधता में उसका महत्त्व, मूल्य और साहित्यिक अवदान निहित है अतः प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता के फेर में न पड़कर और अनावश्यक विवाद में न उलझते हुए मुक्तक-काव्य-परम्परा में नीतिपरक, शृंगारपरक तथा सुभाषितपरक रचनाओं का पुनर्मूल्यांकन किये जाने की महती आवश्यकता है। यह सही है कि आदिकालीन साहित्य परवर्ती साहित्य के समान साहित्यिक नहीं है किन्तु यह कहना भी उचित नहीं है कि इस समय के साहित्य में साहित्यिकता का अभाव है।

1.2.7 उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. पाण्डेय, मैनेजर, साहित्य और इतिहास दृष्टि, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
2. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
3. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
4. मिश्र, विश्वनाथप्रसाद, हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
5. वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
6. वर्मा, धीरेन्द्र, हिन्दी साहित्य, भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग

1.2.8 बोध प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. विद्यापति के पद मुख्यतः हैं –
   (क)शृंगारपरक
   (ख)भक्तिपरक
   (ग) सुभाषितपरक
   (घ) उपर्युक्त सभी

2. 'दोहा कोश' किसकी रचना है ?
   (क) विरुपा की

(ख) लुइपा की
(ग) सरहपा की
(घ) कण्हपा की

3. ख़ुसरो की पहेलियों व मुकरियों की विशेषता है –
(क) शृंगार
(ख) परिहास
(ग) उक्ति वैचित्र्य
(घ) उक्ति वैभिन्य

4. सिद्धों की प्रतीकात्मक भाषा थी –
(क) प्रातकारी
(ख) सधुक्कड़ी
(ग) सन्याकार
(घ) प्राच्य

5. बीसलदेव रासो काव्य की दृष्टि से किस प्रकार का काव्य है ?
(क) खण्डकाव्य
(ख) महाकाव्य
(ग) गीतिकाव्य
(घ) प्रबन्धकाव्य

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सिद्ध परम्परा में नीतिपरक रचनाओं पर प्रकाश डालिए।
2. 'परमाल रासो' में कवि ने किस राजा का यशोगान किया है ?
3. "विद्यापति शृंगार वर्णन में अनुपम हैं।" टिप्पणी कीजिए।
4. मुक्तक काव्य से आप क्या समझते हैं ?
5. रासो-काव्य-परम्परा के सुभाषितपरक दोहों का मूल्यांकन कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "आदिकालीन मुक्तक काव्य नीति, शृंगार और सुभाषितपरक दोहों की त्रिवेणी है।" व्याख्या कीजिए।
2. आदिकालीन मुक्तक काव्य इतिहास का दस्तावेज किस प्रकार बन सकता है ? सोदाहरण उत्तर दीजिए।

खण्ड – 1 : लोक, सत्ता और प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य

इकाई – 3 : अपभ्रंश-प्रभावित एवं अपभ्रंश-प्रभाव से मुक्त हिन्दी-रचनाएँ

इकाई की रूपरेखा

1.3.0 उद्देश्य कथन
1.3.1 प्रस्तावना
1.3.2 अपभ्रंश : क्रमिक विकास
 1.3.2.1 अपभ्रंश साहित्य की विविधता
 1.3.2.2 अपभ्रंश साहित्य की प्रमुख धाराएँ
1.3.3 अपभ्रंश एवं हिन्दी में अन्तर
1.3.4 अपभ्रंश की दृष्टि से आदिकालीन हिन्दी साहित्य का वर्गीकरण
 1.3.4.1 अपभ्रंश-प्रभावित हिन्दी-रचनाएँ
 1.3.4.2 अपभ्रंश-प्रभाव से मुक्त हिन्दी-रचनाएँ
1.3.5 भाषा और प्रवृत्ति के आधार पर आदिकालीन हिन्दी साहित्य का वर्गीकरण
1.3.6 पाठ-सार
1.3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची
1.3.8 बोध प्रश्न

1.3.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त –

i. हिन्दी साहित्य के आदिकालीन स्वरूप को समझा जा सकेगा।
ii. आदिकालीन साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों की जानकारी प्राप्त हो सकेगी।
iii. अपभ्रंश साहित्य के विषय में जाना जा सकेगा।
iv. हिन्दी साहित्य में रासो साहित्य के महत्त्व को समझा जा सकेगा।
v. सिद्ध साहित्य की विषयवस्तु को जाना जा सकेगा।
vi. नाथ और जैन साहित्य की विषयवस्तु को जाना जा सकेगा।
vii. अपभ्रंश प्रभाव-युक्त और अपभ्रंश प्रभाव-मुक्त हिन्दी रचनाओं की जानकारी प्राप्त होगी।

1.3.1 प्रस्तावना

भारतीय भाषा का विकास इस बात का प्रमाण है कि एक ही समय में भाषा के दो रूप परिनिष्ठित और लोक रूप एक साथ मिलते हैं। प्रारम्भ में सभी साहित्यकारों द्वारा संस्कृत के परिनिष्ठित रूप को अपनाया गया कालान्तर में उसमें एक स्थिरता आ गई तब वह एक सीमित रूप में ही ग्रहण किया जाने लगा। लोकरूप निरन्तर

प्रवाहमान रहा। उसने एक नया भाषा रूप ढाला और वह शेष समग्र विशाल लोक-समूह द्वारा गृहीत हुआ। उदाहरणार्थ, 'वत्स' शब्द स्थिर रहा और 'बच्चा' शब्द प्रचलित हो गया।

हिन्दी साहित्य का आदिकाल हिन्दी साहित्यधारा का प्रथम कालखण्ड है। वैसे किसी भाषा के प्रारम्भ को समझ लेना असम्भव नहीं, तो दुष्कर अवश्य है। भारतीय चिन्तनधारा की दृष्टि से यह कालखण्ड महत्त्वपूर्ण है। साहित्य को समग्रता में देखने का आशय यह कदापि नहीं है कि किसी एक प्रवृत्ति पर पूर्णतः प्रकाश डाला जाय अपितु अनिवार्यता इस बात की है कि परस्पर विरोधी तत्त्वों को एक साथ साहित्य में देखा जाना चाहिए।

हिन्दी साहित्य का प्रथम कालखण्ड भारतीय चिन्तनधारा को विकसित करने हेतु महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ वर्तमान परिप्रेक्ष्य में एक जागरण की स्थिति का परिचायक भी हो सकता है। हिन्दी भाषा का विकास मुख्य रूप से 10वीं सदी से आरम्भ होता है। सन् 1000 ई. से 1400 ई. के मध्य जो साहित्य हिन्दी प्रदेशों में उपलब्ध होता है वही हमारे आदिकालीन साहित्य का आधार है। इस साहित्य की सर्जनात्मकता का जुड़ाव 10वीं सदी के पूर्व के साहित्य से भी है और 14वीं सदी के बाद के साहित्य से भी। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि साहित्य के इतिहास में यह सम्भव नहीं कि किसी विशेष बिन्दु पर भाषा और रचनात्मक संवेदना बह जाएँ और उसके बाद वह दूसरा रूप अपना ले। साहित्य की कड़ियाँ बहुत सघन और अटूट होती हैं इसलिए जब कभी भी हम आदिकाल के हिन्दी साहित्य को अपभ्रंश से अलग करने की बात सोचेंगे तो सहित्य के इस सघन और अटूट सम्बन्ध को भी समझना होगा। साथ ही, साहित्य के सर्जनात्मक परिवर्तन की पटभूमि को भी समझना आवश्यक है।

यह भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य है कि वह परस्पर विरोधी तत्त्वों को भी शनैः शनैः अपने में आत्मसात् कर लेती है। इस दृष्टि से आदिकाल साक्ष्य रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता है। हिन्दी साहित्य का आदिकाल राजनैतिक उथल-पुथल का काल है इसलिए तत्कालीन साहित्य की प्रचुर सामग्री युद्ध-वर्णन की है। इसीलिए आचार्य शुक्ल ने इस कालखण्ड को 'वीरगाथा काल' नाम दिया। इस वीरगाथा का समापन गजनी में अवश्य होता है पर यह ध्यान देने की बात है कि भारतीय चिन्तनधारा का प्रारम्भ वहीं से होता है। विदेशी आक्रमणों का सिलसिला प्रारम्भ होता है और परस्पर कट्टर विरोधी दो संस्कृतियों का आमना-सामना होता है। इससे उत्पन्न अशान्ति और बिखराव से छिन्न-भिन्न सामाजिक स्थिति, भिन्न-भिन्न धर्म, सम्प्रदाय एवं चिन्तन-दर्शन का प्रभुत्व भी है। लोकमानस को आकर्षित और भ्रमित करने वाले टोने-टोटके, तन्त्र-मन्त्र, जादू-चमत्कार और जैन, वैष्णव, शैव, शाक्त, सिद्ध एवं नाथ आदि विभिन्न सम्प्रदायों की प्रवृत्तियों को इस साहित्य में देखा जा सकता है। इन साहित्यिक प्रवृत्तियों में अन्तराल के साथ परस्पर आपसी विरोध भी है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "शायद ही भारतवर्ष के साहित्य में इतने विरोधों और स्वतोव्याघातों का युग कभी आया होगा। इस काल में एक ओर संस्कृत के महत्त्वपूर्ण कवि थे जिनकी रचनाएँ अलंकृत काव्यपरम्परा की चरम सीमा पर पहुँच गई थी और दूसरी ओर अपभ्रंश के कवि हुए जो अत्यन्त सहज, सरल भाषा में अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में अपने मनोभाव प्रकट किया करते थे। साथ ही, धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी महान् प्रतिभाशाली आचार्यों का उद्भव भी इसी काल में हुआ और निरक्षर सन्तों के ज्ञान-प्रचार का बीज भी इसी काल में बोया गया।" (हिन्दी साहित्य का आदिकाल)

हिन्दी साहित्य के विकास का प्रारम्भ इसी काल में हुआ और परवर्ती हिन्दी साहित्य की अनेक प्रवृत्तियों, काव्य-शैलियों आदि का उद्गम-स्थल भी यहीं से माना जाता है। हिन्दी भाषा के आदिरूप का दर्शन भी यहीं होता है। आदिकाल में परवर्ती आधुनिक काल तक की प्रमुख भावानुगत प्रवृत्तियों को भी देखा जा सकता है। डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है "भाषा की दृष्टि से इसमें भक्तिकाल से आधुनिक काल तक की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों के आदिम बीज खोजे जा सकते हैं। जहाँ तक रचना-शैलियों का प्रश्न है उनके भी वे सभी रूप जो परवर्ती काल में प्रयुक्त हुए, यहाँ अपने आदिरूप में मिल जाते हैं।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास) कबीर आदि सन्तों की वाणियों में अभिव्यक्त निर्गुण स्वरूप में सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन-धारा और जीवन-दर्शन के विकसित रूप का दर्शन किया जा सकता है। बौद्ध धर्मोत्तर सिद्धों और नाथ योगियों की रचनाओं से इस काल का सीधा सम्बन्ध है। यहाँ तक कि पदों में विद्यमान कथ्य, छन्द-दोहे-चौपाई, राग-रागिनियाँ, भाव-भाषा-अलंकार-छन्द, पारिभाषिक शब्दावलियों की पटभूमि यहीं मिलती है। भारत की साहित्यिक परम्पराओं की जड़ें इतनी गहरी हैं कि विकास की चरमावस्था में भी इन परम्पराओं को क्षीणकाय ही सही एकसूत्रता को देखा-परखा-समझा जा सकता है।

1.3.2 अपभ्रंश : क्रमिक विकास

अपभ्रंश भाषा का समय 500 ई. पू. से 1000 ई. पू. तक माना जाता है। भाषा के मानक स्वरूप से स्खलित जो भाषा प्रयोग में लाई जाती थी वह विकृत, भ्रष्ट अथवा अशुद्ध नाम से जानी जाती थी। सर्वप्रथम भर्तृहरि, पतंजलि आदि व्याकरणाचार्यों ने संस्कृत के विकृत शब्दों के रूप को 'अपभ्रंश' कहा। इस प्रकार अपभ्रंश का अर्थ हुआ, 'संस्कृत का विकृत रूप'। कालान्तर में अपभ्रंश शब्द भाषा-विशेष के लिए प्रयुक्त होने लगा। छठी शताब्दी के आसपास का समय भारतीय आर्यभाषाओं के विकास में प्राकृत के बाद की भाषा है। अपभ्रंश में आठवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक साहित्य-सृजन होता रहा। वस्तुतः प्रत्येक युग में भाषा के दो रूप प्रचलित रहते हैं – (i) साहित्यिक भाषा और (ii) लोक भाषा।

अपभ्रंश मध्यकालीन आर्यभाषाओं की अन्तिम कड़ी और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की जन्मदात्री है। अपभ्रंश साहित्य को समझे बिना हिन्दी साहित्य को सही परिप्रेक्ष्य में नहीं समझा जा सकता। वस्तुतः आदिकाल में हिन्दी-साहित्य के समानान्तर संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य की भी रचना हो रही थी। यद्यपि जन-सामान्य लोगों पर अपभ्रंश-साहित्य भाषा के सम्बन्ध के कारण हिन्दी साहित्य का प्रभाव क्षीण ही था।

1.3.2.1 अपभ्रंश साहित्य की विविधता

अपभ्रंश साहित्य का बहुत बड़ा भाग जैन कवियों द्वारा रचित धार्मिक साहित्य है। इन कवियों ने पौराणिक कथा को प्रबन्धकाव्य के रूप में तथा नीति और रहस्य के रूप में रचना की है। इन जैन-बौद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त अपभ्रंश साहित्य की लौकिक रचनापरक धारा भी उपलब्ध होती है जिसमें शृंगारपरक प्रबन्धकाव्य एवं मुक्तक दोनों प्रकार की कृतियों की रचना हुई है।

1.3.2.2 अपभ्रंश साहित्य की प्रमुख धाराएँ

पौराणिक साहित्य में जैन कवियों द्वारा रचित साहित्य है, पुष्पदंत का 'महापुराण' और शालिभद्र सूरि का 'बाहुबलिरास'। इस धारा के सबसे बड़े कवि स्वयंभू हैं जिन्होंने राम के चरित्र पर आधारित 'पउमचरिउ' (पद्मचरित्र) तथा कृष्ण के चरित्र पर आधारित 'रिट्ठणेमि चरिउ' (अरिष्टनेमिचरित) नामक ग्रन्थ की रचना की।

चरित काव्य :

ये लोकप्रिय व्यक्तियों के जीवन पर लिखी गई रचनाएँ हैं। इनमें पुष्पदंत का 'णयकुमार चरिउ' (नागकुमार चरित) एवं 'जसहर चरिउ' (जसहर चरित) प्रमुख ग्रन्थ हैं।

कथा-काव्य :

लोक कथाओं से लिये गए चरित्रों पर आधारित रचनाएँ जो कल्पनामिश्रित थीं, कथा-काव्य हैं। इसमें धनपाल द्वारा रचित 'भविसत्त कथा' या 'भविष्य दन्तकथा' उल्लेखनीय है।

नीतिपरक साहित्य रचना :

फुटकल दोहों में नीतिपरक बातों तथा रहस्यमयी साधना का वर्णन किया गया है। जोइंदु का 'परमात्म प्रकाश' एवं रामसिंह का 'पाहुण दोहा' इस प्रकार की प्रमुख रचनाएँ हैं। ये रचनाएँ जैन कवियों द्वारा रची गई हैं।

बौद्ध सिद्ध काव्य :

बौद्ध सिद्ध कवियों द्वारा साधना रहस्य सम्बन्धी रचनाएँ अपभ्रंश भाषा में रची गईं। जैन कवियों के समानान्तर ये कवि पूर्वी प्रदेशों में अपनी रचनाओं को साहित्यिक अपभ्रंश में रच रहे थे। जिनमें सरहपा और कण्हपा के 'दोहाकोश' प्रमुख हैं।

आदिकालीन अपभ्रंश की रचनाएँ:

हिन्दी साहित्य के आदिकाल की अनेक कृतियाँ अपभ्रंश में हैं। रासो साहित्य के अलावा अब्दुर्रहमान रचित 'सन्देशरासक' अपभ्रंश की प्रमुख रचना है। इसमें रासक छन्द का प्रयोग किया गया है।

जीवन रस से परिपूर्ण अपभ्रंश भाषा को स्वयंभू और पुष्पदंत ने 'ग्रामीण भाषा या देसी भाषा' कहा है। साहित्यिक भाषा जो परिनिष्ठित होती है अपने युग की लोक भाषाओं का राग-रस ग्रहण कर जीवन्त बनी रहती है। इन लोक भाषाओं के बिना कोई भी साहित्य अन्ततः शुष्क और नीरस होकर रह जाता है। जब साहित्यिक भाषा जनभाषा से दूर हो जाती है तो वह मात्र पण्डितों की भाषा बनकर रह जाती है और मृतप्राय हो जाती है ऐसे में

उसका स्थान स्वतः ही अन्य कोई लोकभाषा ले लेती है। कालान्तर में यही लोकभाषा परिनिष्ठित हो साहित्यिक भाषा बन जाती है। भाषा के परिष्कार का यह क्रम लगातार चलता रहता है।

साहित्यिक भाषा		लोकभाषा
छन्दस	–>	संस्कृत
संस्कृत	–>	प्राकृत
प्राकृत	–>	अपभ्रंश
अपभ्रंश	–>	आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ

अपभ्रंश को देशभाषा मानने में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। अपभ्रंश को देशभाषा मानने वाले विद्वान् हैं – विशेल, ग्रियर्सन, सुनीतिकुमार। अपभ्रंश को देशभाषा नहीं मानने वाले विद्वान् हैं – याकोबी, कीथ, ज्यूल, बलाख आदि। यद्यपि अपभ्रंश को देशभाषा नहीं मानने वाले विद्वान् भी अपभ्रंश में भाषा के गुण पाते हैं। साहित्यिक प्राकृत का सम्बन्ध देशभाषाओं से हुआ और भारतीय आर्यभाषाओं की अपभ्रंश की अवस्थाओं का प्रारम्भ हुआ। आचार्य शुक्ल लिखते हैं "जब से प्राकृत बोलचाल की भाषा नहीं रह गई तब से अपभ्रंश साहित्य का अविर्भाव समझना चाहिए। प्राकृत से बिगड़कर जो रूप बोलचाल की भाषा ने ग्रहण किया वह भी आगे चलकर कुछ अलग पड़ गया और काव्य-रचना के लिए रूढ़ हो गया। अपभ्रंश नाम उसी समय से चला। जब तक भाषा बोलचाल की थी तब तक वह भाषा या देशभाषा ही कहलाती रही। जब वह भी साहित्य की भाषा हो गई तब उसके लिए अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा।

संस्कृत जब कुन्द हो गई, एक सीमित वर्ग तक रह गई तब तक लोक-बोध को लेकर अवधी, ब्रज आदि भाषाओं ने अपनी रचनात्मक क्षमता के साथ साहित्य कर्त्तव्य-दायित्व का वहन किया। उसी प्रकार रीतिकालीन भाषा के विरुद्ध खड़ीबोली की प्रतिष्ठा बढ़ी। आधुनिक संवेदना के विकास के लिए परिवर्तन अनिवार्य हो गया। इसी प्रकार प्राकृत जब पुस्तकों की भाषा बन गई उसी समय अपभ्रंश बोलचाल की भाषा बनी। बोलचाल की देशभाषा तथा साहित्यिक भाषा का नाम अपभ्रंश हो गया। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार अपभ्रंश भाषा में जैन कवियों और आचार्यों ने रचना की थी। यह नागर रूप वाली अपभ्रंश थी। दूसरे प्रकार की जो अपभ्रंश थी वह ग्राम्य भाषा थी। बौद्ध सिद्धों के दोहे और अब्दुर्रहमान का 'सन्देशरासक' ग्राम्यभाषा के उदाहरण हैं। ग्राम्य भाषा में रासक, डोम्बिका आदि लोकप्रचलित गेय और अभिनेय काव्य लिखे जाते थे। इसी भाषा का विकास हिन्दी के रूप में हुआ। वस्तुतः यह हिन्दी भाषा छन्द, काव्य-रूप, कथ्य की दृष्टि से अपभ्रंश का परिनिष्ठित रूप है। हिन्दी का मिजाज़ बदला क्योंकि समाज में रूढ़ि, कर्मकाण्ड के प्रति उदासीनता आ गई थी। यह विरोध सिद्धों और नाथों के साहित्य में द्रष्टव्य है। हिन्दी का प्राचीन पता इन्हीं अपभ्रंश या प्राकृतभास रचनाओं में विद्यमान है। विक्रम की

सातवीं शती के अन्तिम चरण में तान्त्रिक और योगमार्गी बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं में अपभ्रंश हिन्दी को देखा जा सकता है। समाज का बोध बदलने से साहित्य की भाषा भी बदल जाती है।

ग्यारहवीं सदी के पूर्व से ही और लगभग दो सौ वर्षों तक मुसलमानों के आक्रमण के फलस्वरूप राजभाषा 'फ़ारसी' होने के बावजूद भारतीयों ने अपनी सम्पर्क भाषा प्राचीन हिन्दी को बनाया । आदिकाल के उत्तरवर्ती वर्षों में प्राचीन हिन्दी के जो रूप सामने आए, इनमें से एक था, 'डिंगल' (राजस्थानी साहित्यिक भाषा) और दूसरा था, 'पिंगल' (मध्यदेश की साहित्यिक ब्रजभाषा) । इस डिंगल-पिंगल के अलावा एक तीसरी भाषा विकसित हो रही थी, 'हिन्दवी' । तेरहवीं सदी के आस-पास अमीर ख़ुसरो के साहित्य में इसे देखा जा सकता है । यह हिन्दवी सामान्य जनता के प्रयोग की भाषा थी। हिन्दी का विकास एक जनभाषा का रूप है। इसमें स्थान और काल के अनुसार रूप-भेद भी हैं किन्तु आपसी तात्त्विक समानता के कारण उसे एक ही भाषा माना गया है।

बौद्धों की वज्रयान शाखा से सम्बद्ध गोरखनाथ ने नाथपंथ की स्थापना की। ये एकेश्वरवाद को मानते थे तथा मूर्तिपूजा के घोर विरोधी थे । इन्होंने धर्म को अनुष्ठान न मानकर आचरण के मानदण्ड पर खरा उतरने वाला साहित्य रचा । जिसका प्रभाव सन्त काव्य पर परिवर्धित रूप में मिलता है । हिन्दी के प्राचीन रूप को विकसित करने में रासो साहित्य का महत्त्वपूर्ण योगदान है । 'बीसलदेव रासो' और 'पृथ्वीराज रासो" का भाषा की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। बीसलदेव रासो में डिंगल और पिंगल दोनों के तथा 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा में कहीं हिन्दी तो कहीं राजस्थानी मिश्रित हिन्दी, कहीं ब्रजभाषा तो कहीं विकृत अपभ्रंश के रूप प्राप्त होते हैं । पिंगल भी ब्रजभाषा का ही एक रूप है।

तेरहवीं शताब्दी के आस-पास विकसित हिन्दी के अन्य रूप 'हिन्दवी' की एक झलक अमीर ख़ुसरो के साहित्य में देखी जा सकती है । एक ओर वे लिखते हैं – "गौरी सोवे सेज पर, मुख पर डाले केस" वहीं अपनी पहेलियों, दो सुखने आदि में हिन्दी का सरल स्वाभाविक एवं बोलचाल की भाषा का प्रयोग करते हैं । चौदहवीं शताब्दी में मुसलमान शासकों का दक्षिण भारत पर आक्रमण होने के कारण व्यवहार के लिए 'दक्खिनी हिन्दी' का उद्गम हुआ। मौलवी और व्यापारी अपने साथ भाषा भी दक्षिण ले गए जिसमें दक्षिण भारत के शब्द भी मिल गए थे।

1.3.3 अपभ्रंश एवं हिन्दी में अन्तर

भाषाई परिवर्तन सुधार की तरह होता है इसलिए इसमें स्पष्ट विभाजन नहीं किया जा सकता। फिर भी भाषा और व्याकरण की विशेषताओं के कारण भाषाई परिवर्तन को देखा जा सकता है । इन्हीं विशेषताओं के कारण भाषा की पूर्व सीमा एवं परवर्ती सीमा का निर्धारण किया जा सकता है जैसे प्राकृत अपभ्रंश और देसी अपभ्रंश की अपनी-अपनी निजी पहचान थी जिससे उन्हें पृथक् स्थान दिया जा सका । देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश हिन्दी का आविर्भाव माना जा सकता है। जब से इस भाषा को हिन्दी कहा जाने लगा तब से इसमें हिन्दी के लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगे होंगे। यह जो निजी पहचान हिन्दी की बनती है वहीं से वह अपभ्रंश से पृथक् भाषा बन जाती

है । भाषा के स्तर पर यह जानना आवश्यक है कि आखिर वह पहचान क्या थी ? विद्वानों ने निम्नलिखित उदाहरणों द्वारा इसे स्पष्ट किया है –

i. प्राकृत भाषा के कज्ज, कम्म, हत्थ हिन्दी में क्रमशः काज, काम, हाथ बन गए ।
ii. अधिकरण परसर्ग – मंझहि, मंझ, मधि, महि, मह आदि ।
iii. तत्सम शब्दों के प्रयोग की बहुलता । यह हिन्दी की मूल प्रवृत्ति है जो उसे अपभ्रंश से पृथक् करती है ।

1.3.4 अपभ्रंश की दृष्टि से आदिकालीन हिन्दी साहित्य का वर्गीकरण

आदिकालीन हिन्दी साहित्य में दो प्रकार का साहित्य उपलब्ध होता है – अपभ्रंश-प्रभावित हिन्दी-रचनाएँ एवं अपभ्रंश-प्रभाव से मुक्त हिन्दी-रचनाएँ ।

1.3.4.1 अपभ्रंश-प्रभावित हिन्दी-रचनाएँ

अपभ्रंश-प्रभावित हिन्दी-रचनाएँ निम्नलिखित हैं – सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य, जैन साहित्य के कुछ ग्रन्थ (भरतेश्वर बाहुबलिरास आदि), लौकिक साहित्य – राउलवेल एवं वर्णरत्नाकर आदि, हम्मीर रासो ।

1.3.4.2 अपभ्रंश-प्रभाव से मुक्त हिन्दी-रचनाएँ

अपभ्रंश-प्रभाव से मुक्त हिन्दी-रचनाएँ निम्नलिखित हैं – खुम्माण रासो, परमाल रासो, चन्दनबाला रास, स्थूलिभद्र रास, रेवंतगिरी रास, नेमिनाथ रास, वसन्त विलास, ख़ुसरो की पहेलियाँ ।

यद्यपि सिद्ध साहित्य में कुछ बीभत्स वर्णन है तथापि भाषा-विकास की दृष्टि से इनका विशिष्ट महत्त्व है । नाथ साहित्य की प्रामाणिकता पर प्रश्न-चिह्न होते हुए भी वह परवर्ती साहित्य की पुष्ट पटभूमि है । जैन साहित्य प्रामाणिक साहित्य है जिसमें जीवन की क्लिष्टताओं एवं नैसर्गिक भावानुभूतियों का वर्णन है अतः उस पर विचार किया जाना स्वाभाविक है । रासो ग्रन्थ तो हिन्दी में ही लिखे गए । हिन्दी साहित्य का प्रथम कालखण्ड ऐतिहासिक रूप में यथार्थवादी होने के कारण अधिक आलोचनात्मक है अतः सम्पूर्ण रासो साहित्य की प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न है । मानों परवर्ती कृतिकारों ने तो कल्पना का आश्रय लिया ही न हो । मैथिलीशरण गुप्त की नायिका पौराणिक होते हुए भी चरखा कात सकती है लेकिन रासो काव्य को यथार्थवाद की दृष्टि से ही देखा जाता है । तथापि रासो साहित्य के बिना हिन्दी के आदिकाल की संकल्पना नहीं की जा सकती । वाचिक और मौखिक परम्परा के कारण इन कृतियों की विषयवस्तु और भाषा में परिवर्तन होता रहा है तथापि इन्हें महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृतियों के रूप में देखा जाता रहा है । इतिहास में रची गई कृतियों पर विवाद होता रहा है तथापि इनका साहित्यिक महत्त्व निर्विवाद असंदिग्ध है । इस काल के साहित्य में विद्यमान परिदृश्य पर्याप्त संवाद की गुंजाइश रखता है । साहित्य का परिवेश वह होता है जिसमे वह रचा जाता है । आदिकाल ऐतिहासिक रूप से उथल-पुथल का रहा है

इसलिए इस कालगत साहित्य को उसी स्तर तक समझा जा सकता है जिस सीमा तक जटिल समाज को समझने की क्षमता होगी। साहित्य या साहित्यिक मूल्यों की निर्मिति समाज की यथार्थता पर निर्भर करती है इसलिए इन काव्यानुभूति की जटिल संवेदना को समझना अपनी-अपनी क्षमता और समझ पर निर्भर है। यहाँ समझ का तात्पर्य समाज की गहरी जानकारी से है। साहित्य के साथ-साथ सत्ता, समाज, जीवन-दर्शन, धार्मिक आचरण, आर्थिक गतिविधियों के अन्तस्सम्बन्धों की परख और पड़ताल दोनों आवश्यक है।

1.3.5 भाषा और प्रवृत्ति के आधार पर आदिकालीन हिन्दी साहित्य का वर्गीकरण

भाषा और प्रवृत्ति के आधार पर आदिकालीन हिन्दी साहित्य को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है –

1. सिद्ध साहित्य (साहित्यिक अपभ्रंश मुक्त जनभाषा में है)
2. नाथ साहित्य (भाषाई दृष्टि से परवर्ती साहित्य की पटभूमि है)
3. जैन साहित्य (अधिकतर अपभ्रंश साहित्य के अंग हैं)
4. रासो काव्य (जनमानस की सहज अभिव्यक्ति प्रारम्भिक हिन्दी में)
5. लौकिक साहित्य (लोक संवेदना आधारित भक्ति और शृंगार काव्य)
6. गद्य रचनाएँ (व्याकरण और शास्त्र सम्बन्धी)

उपर्युक्त में प्रथम तीन धर्मसम्बन्धी रचनाएँ हैं।

सिद्ध साहित्य में सिद्धों के योग, सहज शून्य समाधि आदि का वर्णन किया गया है। सिद्धों का सम्बन्ध बौद्ध धर्मावलम्बियों से था। बौद्ध धर्म में जो तन्त्रवाद था वही वज्रयान साधना थी। इसमें पूजा-पाठ के स्थान पर रहस्य और गुप्त साधना को महत्त्व दिया गया। इस साहित्य में इनके विरोधी तेवर देखे जा सकते हैं जो साधना और सामाजिक मान्यताओं के स्तर पर है। ये लोग सीधे अर्थों में अपनी बात न कहने के लिए विवश थे क्योंकि सत्ता का सीधा विरोध इन योगियों की क्षमता से बाहर था। स्वयं आचार्य शुक्ल इनके योगदान के रूप को हिन्दी का प्रारम्भिक पता मानते हैं किन्तु इनकी रचनाओं को लोकमर्यादा के विरुद्ध देखते हैं जिसमें जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियाँ न होकर रहस्यवादी वर्णन अधिक है।

नाथ शैव मत को मानने वाले थे। उन्होंने पतंजलि के हठयोग को अपनाया। उनके सैद्धान्तिक आधार यही थे। सिद्धों के विपरीत इन्होंने मद्य-मांस त्याग तथा मानसिक शुचिता पर अधिक बल दिया। इनकी साधना में इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, नाद-बिन्दु, षड्चक्र भेदन, शून्यचक्र में कुण्डलिनी का प्रवेश आदि हैं। नाथों ने ईश्वर की आराधना में हिन्दू-मुसलमान दोनों को साधना के योग्य समान समझा। नाथ साहित्य में घुमक्कड़पन था। नाथ योगी अपने धर्म-प्रचार के लिए विभिन्न प्रदेशों की यात्रा करते थे। विशेषकर देश के मध्य एवं पश्चिमी भाग में इन्होंने बहुत यात्राएँ कीं इसीलिए यहाँ की भाषा का इन पर पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। इनकी सहिष्णुता और सद्भाव को धर्म और भाषा दोनों स्तर पर देखा जा सकता है, जो परवर्ती साहित्य की पटभूमि बने। नाथों का

प्रभाव भक्तिकाल के सन्त साहित्य पर स्पष्टतः देखा जा सकता है। इनकी शब्दावलियों का पर्याप्त प्रभाव सन्त साहित्य पर देखा जा सकता है। नाथों में गृह-पलायन की भावना थी इसीलिए लोकजीवन की स्वाभाविक दशाओं का वर्णन यहाँ नहीं मिलता।

जैन साहित्य में शालिभद्र सूरि की रचना 'भरतेश्वर बाहुबली रास', असगु-कृत 'चन्दनबाला रास' (1200 ई.), जिनधर्म सूरी-कृत 'स्थूलिभद्र रास' (1209 ई.), विजयसेन सूरी की रचना 'रेवन्त गिरि रास' (1231 ई.), सुमति गण का 'नेमिनाथ रास' जैसी कृतियों को हिन्दी साहित्य की महत्त्वपूर्ण निधि हैं। जैन साहित्य पूर्णरूपेण धार्मिक रचनाएँ हैं किन्तु भाषाई अध्ययन के लिए और प्रारम्भिक हिन्दी की सृजनात्मक अनुभूतियों को समझने के लिए इसकी आवश्यकता को रेखांकित किया जा सकता है।

रासो साहित्य प्रारम्भिक हिन्दी के आधार ग्रन्थ हैं। रासो साहित्य में वीरगाथाएँ, प्रेमवर्णन अपने जीवन्त रूप में हैं इसीलिए आचार्य शुक्ल ने इस कालखण्ड को वीरगाथाकाल नाम दिया है। रासो साहित्य हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल की ही एक विशेष प्रवृत्ति है। इस साहित्य की रचना भाटों और चारणों द्वारा की गई। जिन युद्धों का वर्णन चारण कवियों द्वारा किया गया वे स्वयं उनके साक्षी थे। युद्ध को अपने समक्ष घटित होते देखना और उसका अंग होकर उसका वर्णन करना एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। रासो काव्य अप्रतिम काव्य-रचनाएँ हैं। आलोचकों द्वारा रासो काव्य-रचनाओं पर अतिवाद का आरोप लगाया जाता है किन्तु सच तो यह है कि प्रेम और युद्ध के वर्णन में अतिवाद होना सहज संभाव्य है। पुष्टि के लिए सूरदास के पद की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं– "सदा रहत पावस ऋतु इन पर उर बिच बहत पनारे, निस दिन बरसात नैन हमारे"। रासोकाव्य-रचनाओं में प्रमुख ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' है। रासो काव्य में वीरगाथाओं के माध्यम से इतिहास और साहित्य संरक्षित हुआ है। इसमें कल्पना और यथार्थ का सम्यक् समावेश है। रासोकाव्य की मुख्य प्रवृत्तियों में वीरगाथा, शृंगार, डिंगल-पिंगल भाषा का प्रभाव, सजीव भाषा शैली, काव्यानुकूल छन्दों का प्रयोग, आश्रयदाता राजा की पराजय के बावजूद उसकी युद्ध-वीरता का वर्णन करना आदि हैं।

रासो साहित्य सामन्त युग की देन है। इनमें वर्णित कथा का स्वरूप भी उसी के अनुकूल है। राजा हर्षवर्धन के बाद केन्द्रीय सत्ता का अभाव हो गया था। क्षेत्रीय ताकतों में युद्ध होते रहते थे। रासो साहित्य के मूल में यही कथाएँ विद्यमान हैं। कवियों ने युद्ध के मध्य भी प्रेम-प्रसंगों को चुन लिया है। रासो-काव्य-परम्परा में जो दूसरे प्रकार की रचना है वह वीरकाव्य है। परमाल रासो वीरगाथा के रूप में लोक-कण्ठ में विद्यमान रहा। यह जीवन से जुड़ा हुआ काव्य है। इसकी स्मृति आज भी लोगों के मन-मस्तिष्क में निवास करती है। समय-प्रवाह में भाषा चाहे बदल गई है किन्तु आल्हा का वीरभाव एवं गायन शैली ज्यों-की-त्यों बनी हुई है।

प्रारम्भिक काल में हिन्दी में वीरगाथाओं के आलावा लोक-साहित्य की भी रचनाएँ मिलती हैं। वस्तुतः प्रारम्भिक हिन्दी काव्य को समझने से पूर्व तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों को सही परिप्रेक्ष्य में समझा जाना अत्यावश्यक है तभी सही अर्थों में तत्कालीन साहित्य को समझा जा सकता है। सत्ता का सीधा प्रभाव समाज पर पड़ता है। समाज की स्थिति से आर्थिक तथा धार्मिक रूप तय होते हैं और इन सबका प्रभाव साहित्य पर देखा जा

सकता है। प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य में प्रमुखता धार्मिक एवं चारण कवियों द्वारा रचित वीर कृतियों की है किन्तु यह भी सत्य है कि उस समय में रचित लौकिक काव्य का अपना महत्त्व है। सही अर्थों में यह सब देशभाषा काव्य है, उस समय का लोक-साहित्य है। राजस्थान, दिल्ली और मिथिला क्षेत्र में इस साहित्य की धारा प्रवाहित हो रही थी। इनमे तत्कालीन संवेदनाओं की झाँकी है। ये रचनाएँ भक्ति और शृंगार की प्रगाढ़ भावानुभूतियों से युक्त हैं। अमीर ख़ुसरो ने जन-सामान्य को लक्ष्य कर पहेलियों, मुकरियों आदि का सृजन किया। जैन कवि धनपाल ने जनसाधारण को अपनी रचना का काव्य-नायक बनाया है।

इन पद्य रचनाओं के साथ ही व्याकरण और शास्त्र सम्बन्धी कतिपय गद्य-कृतियों की भी रचना इस समय में हुई है। इस काल की तीन प्रमुख गद्य रचनाएँ हैं – रोड़ा-कृत 'राहुलवेल', दामोदर भट्ट-कृत 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' और ज्योतिरीश्वर ठाकुर-कृत 'वर्णरत्नाकर'।

1.3.6 पाठ-सार

प्रारम्भिक काल में भाषा और संवेदना दोनों स्तरों पर रूपान्तर हुआ। संस्कृत-अपभ्रंश तथा देसी भाषाओं के विकास-क्रम में ही हिन्दी का विकास हुआ। हिन्दी शब्दावली एवं कथ्य-शैली पर पूर्ववर्ती साहित्य का प्रभाव पड़ा। हिन्दी साहित्य का क्षेत्र पूर्वी भारत, पश्चिमी भारत, मध्य भारत और दक्षिणी भारत तक व्याप्त था लेकिन इसके रूप और संवेदना के स्तर भिन्न-भिन्न थे। सिद्ध, नाथ, जैन साहित्य में लोक संवेदना से संपृक्त साहित्य हैं। इनकी धार्मिक परत हटाने पर ही भाषाई दृष्टि से इनका अध्ययन किया जा सकता है।

1.3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
2. हिन्दी साहित्य का आदिकाल – आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ॰ नगेन्द्र

1.3.8 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. अपभ्रंश की शुद्ध रचना है–
   (क) पउम चरिउ
   (ख) परमाल रासो
   (ग) खुम्माण रासो
   (घ) हम्मीर रासो

2. हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है –
   (क) बीसलदेव रासो
   (ख) पृथ्वीराज रासो
   (ग) परमाल रासो
   (घ) महापुराण

3. आदिकालीन हिन्दी की गद्य रचना है –
   (क) सन्देशरासक
   (ख) ढोला मारू रा दूहा
   (ग) कीर्ति पताका
   (घ) उक्ति व्यक्ति प्रकरण

4. रास मूलतः किस प्रकार का काव्य है ?
   (क) वीरगति
   (ख) प्रेमकाव्य
   (ग) महाकाव्य
   (घ) धर्मकथा

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. रास काव्य से क्या आशय है ?
2. रासो काव्य का तात्पर्य क्या है ?
3. नाथ साहित्य का ऋण परवर्ती किस साहित्य पर है ?
4. हिन्दी कविता का प्रारम्भिक रूप किसकी रचनाओं में मिलता है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. प्रारम्भिक हिन्दी की प्रवृत्तियों का वर्णन कीजिये।
2. रासो साहित्य की विस्तृत चर्चा कीजिये।
3. हिन्दी में जैन साहित्य के योगदान को बताइए।
4. अपभ्रंश-प्रभावित एवं अपभ्रंश-प्रभाव से मुक्त हिन्दी-रचनाओं पर तार्किक प्रकाश डालिए।

❖❖❖

खण्ड – 2 : रासो-काव्य-परम्परा

इकाई – 1 : 'पृथ्वीराज रासो' में तथ्य और कल्पना, प्रामाणिकता : ऐतिहासिक तथ्य, तिथि, भाषा तथा कवि सम्बन्धी मत

इकाई की रूपरेखा

2.1.0 उद्देश्य कथन
2.1.1 प्रस्तावना
2.1.2 'पृथ्वीराज रासो' में तथ्य और कल्पना
 2.1.2.1 प्रामाणिकता : ऐतिहासिक तथ्य
 2.1.2.2 तिथि
 2.1.2.3 भाषा तथा कवि सम्बन्धी मत
2.1.3 'पृथ्वीराज रासो' की साहित्यिकता
 2.1.3.1 काव्य-रूप
 2.1.3.2 छन्द-योजना
 2.1.3.3 कथानक-रूढ़ियाँ
2.1.4 'पृथ्वीराज रासो' का महाकाव्यत्व
 2.1.4.1 काव्य-सौष्ठव
2.1.5 पाठ-सार
2.1.6 बोध प्रश्न
2.1.7 सन्दर्भ / उपयोगी ग्रन्थ-सूची

2.1.0 उद्देश्य कथन

इस इकाई में 'पृथ्वीराज रासो' में तथ्य और कल्पना, प्रामाणिकता : ऐतिहासिक तथ्य , तिथि, भाषा तथा कवि सम्बन्धी मत पर विचार किया गया है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. 'पृथ्वीराज रासो' में तथ्य और कल्पना का विवेचन कर सकेंगे।
ii. 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता सम्बन्धी तथ्यों के आधारों का विश्लेषण कर सकेंगे।
iii. 'पृथ्वीराज रासो' में प्रयुक्त भाषा के स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।
iv. इस काव्य के रचनाकार के अभिमत को जान सकेंगे।

2.1.1 प्रस्तावना

रासो शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। रामचन्द्र शुक्ल इसे 'रसायण' से बना हुआ मानते हैं। बीसलदेव रासो में काव्य के अर्थ में 'रसायण' शब्द बार-बार आता है इसलिए 'रसायण' शब्द

बाद में 'रासो' हो गया। कुछ लोग इसे 'राजयश', 'राजयज्ञ' या 'रहस्य' से निकला हुआ मानते हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे नाट्य उपरूपक 'रासक' से प्रादुर्भूत मानते हैं।

'रासो' लोकप्रचलित नाट्य 'रास' से निकला प्रतीत होता है। इसमें गीत और नाट्य दोनों का मिश्रण होता है। जैन अप्रभंश में 'रास' की लम्बी परम्परा है। 'रास' से ही 'रासह', 'रायण', 'रासु' आदि बने। जैन रास मूलतः सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्धित है परन्तु साहित्य में प्रविष्ट होकर इसका रूप शृंगारस्वीर मिश्रित हो गया।

रासो-परम्परा का प्रारम्भ अपभ्रंश के काव्य 'सन्देशरासक' से माना जाता है। 'सन्देशरासक' के रचयिता मुल्तान के मुस्लिम कवि अब्दुर्रहमान थे जिन्होंने प्रोषितपतिका नायिका के विरह का अभूतपूर्व वर्णन भावुकता के साथ किया है। इसमें अनुभूति की व्यंजना बड़ी ही मार्मिक है। इसका रचनाकाल विक्रम की 11वीं शती से 13वीं शती के पूर्वार्द्ध में माना जाता है। अपभ्रंश से गुजराती में रासो की परम्परा आई और फिर राजस्थानी और हिन्दी में विस्तार पाती गई। सन्देशरासक के बाद भरतेश्वर बाहुबलिरास, बुद्धिरास, जीवदया रास, चन्दनबाला रास आदि कई 'रास' मिलते हैं। 12वीं से 15वीं शताब्दी के बीच रासो परम्परा का पर्याप्त विकास हुआ। नरपति नाल्ह-कृत 'बीसलदेव रासो' रासो परम्परा की महत्त्वपूर्ण रचना मानी जाती है। इसी प्रकार सत्रहवीं-अट्ठारहवीं शताब्दी में विभिन्न रासो काव्यों की रचना हुई जिसमें कुमारपाल रास, राम रासो, छत्रसाल रासो, सगतसिंह रासो, खुम्माण रासो आदि मुख्य है। इसी प्रकार हम्मीर रासो, राणा रासो, रतन रासो, कयाम रासो आदि ग्रन्थ लिखे गए हैं। रासो परम्परा में लिखा गया 'पृथ्वीराज रासो' अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

रासो काव्य की मूल प्रवृत्ति सामन्तों और राजाओं के शौर्य और विलास का अतिरंजित चित्र प्रस्तुत करना है। 'पृथ्वीराज रासो' आदिकाल का सर्वाधिक प्रसिद्ध काव्य है। 'पृथ्वीराज रासो' इतिहासग्रन्थ न होकर एक काव्य-ग्रन्थ है। इस चरितकाव्य में चन्दवरदाई ने पृथ्वीराज चौहान के चरित्र-वर्णन में कथा, चरित, आख्यायिका और कथानक-रूढ़ियों का भरपूर समावेश किया है। इस काव्य में पृथ्वीराजकालीन इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसकी प्रामाणिकता और ऐतिहासिकता पर अत्यन्त विवाद है। 'पृथ्वीराज रासो' आदिकालीन काव्य है और उसमें ऐतिहासिक तथ्यों की खोज उचित प्रतीत नहीं होती क्योंकि जैसा कि डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी का मानना है कि इन काव्यों में व्यापक रूढ़ियों के आधार पर अपने राजा या काव्य-नायक को उत्साह का आश्रय और रति का आलम्बन बनाना चाहा है। इनमें इतिहास को समझने का कम और तत्कालीन प्रचलित काव्य-रूढ़ियों को समझने का अधिक साधन है।"

इस युग में राजा के सद्‌गुणों के विकास के स्थान पर उनके शौर्य और पराक्रम को प्रमाणित करना ही राज्याश्रित कवियों का प्रयोजन रह गया था। इसी कारण उनकी रचनाओं में इतिहास की बजाय अतिशयोक्तियाँ और अपतथ्य भरे पड़े हैं। फिर भी यहाँ रासो काव्यों की एक सुदीर्घ परम्परा प्रचलित रही।

इस पाठ में हम 'पृथ्वीराज रासो' में तथ्य और कल्पना, प्रामाणिकता : ऐतिहासिक तथ्य, तिथि, भाषा तथा कवि सम्बन्धी मत पर विचार करेंगे। चन्दवरदाई-कृत 'पृथ्वीराज रासो' भारतीय साहित्य का एक जगमगाता

रत्न तथा हिन्दी साहित्य का आदि महाकाव्य माना गया है। यह हिन्दी साहित्य का सर्वाधिक विख्यात और लोकप्रिय महाकाव्य है पर इसकी प्रामाणिकता के बारे में कुछ विद्वानों ने सन्देह प्रकट किया इसीलिए यह महाकाव्य विवादग्रस्त महाकाव्य के रूप में चर्चित है। इसके मूलस्वरूप, रचयिता व रचनाकाल के सम्बन्ध में विवाद है।

'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता का प्रश्न आज सबसे ज्यादा उलझा हुआ है और यह उलझन उस समय में शुरू हो गई जब सबसे पहले बंगाल एशियाटिक सोसायटी से 1873 ई. में इसका प्रकाशन शुरू किया गया। जॉन बीन्स के सम्पादन में यह कार्य शुरू हुआ पर डॉ॰ बूलर ने 'पृथ्वीराज रासो' को इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं माना उन्हें जयनिक-कृत 'पृथ्वीराज विजय' महाकाव्य अधिक प्रामाणिक प्रतीत हुआ इसलिए बूलर ने पत्र लिखकर सोसायटी से 'पृथ्वीराज रासो' के प्रकाशन को बन्द करवा दिया। तब से विवादों में घिरे रहने के कारण 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता पर शंका की जाने लगी। यहाँ इसमें वर्णित तथ्य और कल्पना पर विचार करना समीचीन होगा।

2.1.2 'पृथ्वीराज रासो' में तथ्य और कल्पना

'रासो' में पृथ्वीराज के 11 वर्ष से 36 वर्ष की आयु तक 14 विवाह होना लिखा है। 'पृथ्वीराज रासो' में वर्णित कई तथ्य काल्पनिक और जनुश्रुतियाँ मात्र हैं जिसमें कई निर्मूल सिद्ध होते हैं –

1. पृथ्वीराज की 11 वर्ष की अवस्था में मंडोर के नाहरराय की पुत्री से शादी होने का उल्लेख मिलता है परन्तु इसे इसलिए नहीं माना जा सकता है कि नाहरराय तो उससे कई सौ वर्ष पूर्व हो चुका था। इतिहाससम्मत तथ्य यह है कि नाहरराय सं. 894 में मंडोर का शासक था। पृथ्वीराज के समय (सं. 1200) मंडोर पर प्रतिहारों का शासन नहीं था।
2. आबू के राजा सलख की पुत्री से भी शादी होना इसलिए नहीं माना जा सकता कि सलख जैत नाम का कोई राजा आबू पर हुआ ही नहीं। 'पृथ्वीराज रासो' के अनुसार आबू के शासक जैत और सलख थे किन्तु तत्कालीन शिलालेखों में उनका कोई उल्लेख नहीं मिलता। सं. 1200-1274 तक आबू पर धारावर्ष परमार का शासन था।
3. दाहिमा चामण्ड की बहिन से पृथ्वीराज का विवाह होना और उससे युवराज रैणसी का जन्म होना भी गलत है क्योंकि पृथ्वीराज का पुत्र गोविन्दराज था और वही पृथ्वीराज के बाद अजमेर का राजा हुआ।
4. इसी प्रकार देवगिरी के यादव राजा भान और रणथम्भौर के यादव राजा भानराय की पुत्रियों से पृथ्वीराज का विवाह होना भी कल्पित है। क्योंकि देवगिरी पर भान नाम का कोई राजा ही नहीं हुआ और रणथम्भौर पर कभी यादवों का राज्य नहीं रहा। रणथम्भौर चौहानों के अधिकार में था।
5. 'पृथ्वीराज रासो' के अनुसार गुजरात के राजा भीमसेन को पृथ्वीराज चौहान ने मारा परन्तु यह तथ्य सत्य नहीं क्योंकि शिलालेखों के उल्लेख के अनुसार वह पृथ्वीराज के बाद भी जीवित था।

6. रासो में यह वर्णित है कि पृथ्वीराज की बहन पृथा का विवाह चित्तौड़ के राजा समरसिंह के साथ हुआ था। पर इतिहाससम्मत तथ्य यह है कि समरसिंह 13वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में था जबकि पृथ्वीराज की मृत्यु 12वीं शती में ही हो गई थी।
7. 'पृथ्वीराज रासो' में यह वर्णित है कि शहाब-उद-दीन मुहम्मद ग़ोरी को पृथ्वीराज चौहान ने शब्दभेदी बाण से मारा था। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि शहाब-उद-दीन मुहम्मद ग़ोरी गक्करों के हाथों मारा गया।

रासो में केवल संवत् ही अशुद्ध नहीं हैं प्रत्युत घटनाएँ भी असत्य हैं। पृथ्वीराज को कैद कर गजनी ले जाना, कवि चन्दवरदाई का वहाँ योगी बनकर जाना, तीरंदाजी देखने को उत्सुक करके पृथ्वीराज के शब्दबेधी बाण द्वारा शाह को मरवाना, तत्पश्चात् पृथ्वीराज और कविचन्दवरदाई का आत्मघात करना। रासो में वर्णित ये सम्पूर्ण तथ्य काल्पनिक हैं, ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं हैं। ऐतिहासिक सत्य यह है कि पृथ्वीराज की मृत्यु वि.सं. 1249 में हुई और बाद में वि.सं. 1263 में धमोक के पास नदी किनारे नमाज़ पढ़ते समय गक्करों ने शाह को मारा।

'पृथ्वीराज रासो' में तथ्य और कल्पना पर गौर करने से इसकी प्रामाणिकता व ऐतिहासिकता पर शंका व सन्देह उत्पन्न होता है तथा इसमें वर्णित घटनाएँ तथा तथ्य काल्पनिक प्रतीत होते हैं इसी कारण इस काव्य की प्रामाणिकता के विषय में अत्यधिक विवाद है।

2.1.2.1 प्रामाणिकता : ऐतिहासिक तथ्य

'पृथ्वीराज रासो' के रचयिता चन्दवरदाई अपने आश्रयदाता पृथ्वीराज चौहान के दरबारी कवि ही नहीं उनके अंतरंग मित्र थे। अतः ऐसी आशा की जाती थी कि इसमें 12 शताब्दी के बारे में ऐतिहासिक व प्रामाणिक जानकारी प्राप्त होगी परन्तु ऐसा न होकर इतिहासविदों को इससे निराशा ही हाथ लगी। इसके बावजूद भी इस काव्य की प्रसिद्धि और अपना महत्त्व कायम है।

लम्बे समय तक 'पृथ्वीराज रासो' एक अत्यन्त लोकप्रिय श्रव्यकाव्य के रूप में प्रचलित रहा। ऐसा कहा जाता है कि अकबर ने अपने दरबार में कवि गंग भाट से चन्दवरदाई-कृत इस काव्य को सुना था। अकबर के अभिलेखागार व शासन-व्यवस्था सम्बन्धी अध्यादेशों व विवरण-संग्रह का दायित्व अबुल फज़ल के जिम्मे था। अबुल फज़ल ने 'पृथ्वीराज रासो' को हिन्दू इतिहास का गौरव प्रदान कर इसके वृत्तान्तों का गहन अध्ययन किया।[1] अबुल फज़ल जैसे इतिहासकार द्वारा इसे इतना महत्त्व देना बहुत बड़ी बात है। इससे इस काव्य की महत्ता पर दूरगामी प्रभाव पड़ा।

इसके पश्चात् कर्नल जेम्स टॉड (राजस्थान के प्रथम विस्तृत इतिहास के प्रणेता) ने इसे सर्वव्यापक इतिहास के रूप में स्वीकार किया है।[2] टॉड के हस्तलिखित ग्रन्थों के संग्रह में रासो की 12 प्रतियाँ थीं। सन् 1829 तथा 1832 में टॉड के एनल्स एंड एंटीक्विटीज ऑफ राजस्थान के दो भाग प्रकाशित हुए। इसमें टॉड ने पृथ्वीराज रासो' का उपयोग किया। रासो जैसे काव्य-ग्रन्थों से प्राप्त सामग्री की प्रामाणिकता के बारे में टॉड को कोई सन्देह नहीं

था। भारत की ऐतिहासिक सामग्री के लिए उसके युद्ध सम्बन्धी काव्य भी सहायता करते हैं। लेकिन कविता और इतिहास दोनों दो चीजे हैं ... कवि प्रशंसा के पुरस्कार के रूप में धन प्राप्त करता है और उसके ऐसा करने से तथ्यों की ईमानदारी में अन्तर आ जाता है। कवि का पक्षपात और विद्रोह दोनों ही इतिहास के लिए घातक है। वह अपनी दोनों आस्थाओं में सत्य से दूर निकल जाता है। युद्ध सम्बन्धी काव्यों में इस प्रकार के दोष स्वाभाविक रूप से आते हैं। ... इस प्रकार के दोष होते हुए भी भारतीय भाटों की पुस्तकों से इतिहास की बहुत-सी सामग्री प्रस्तुत की जा सकती है।[3]

टॉड ने अपनी इस मान्यता के अनुरूप ऐसे काव्यों के कथानकों को ऐतिहासिक रूप में प्रस्तुत करते हुए रासो की आन्तरिक वीर भावना को जीवित रखा। रासो की हस्तलिखित प्रतियों का रुचि से अध्ययन करते हुए संयोगिता वाले प्रसंग का अंग्रेजी में काव्यानुवाद किया, वह इस ग्रन्थ के प्रति उसकी श्रद्धा का प्रमाण है। पूरे रासो का अंग्रेजी में काव्यानुवाद करने की इच्छा थी पर असमय मृत्यु के कारण पूरी न हो सकी।[4]

कर्नल टॉड ने आइने अकबरी के बाद पृथ्वीराज रासो को गौरव और अभूतपूर्व प्रतिष्ठा प्रदान की। इतना ही नहीं रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में निबन्ध लिखकर रासो की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कर इस ग्रन्थ की महत्ता प्रतिष्ठापित करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

'रासो' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में अगला उल्लेखनीय योग्य नाम महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण का है। सूर्यमल्ल मिश्रण ने अपने 'वंश भास्कर' में जिन थोड़े से ग्रन्थों का उल्लेख किया है उसमें 'पृथ्वीराज रासो' भी है। उन्होंने रासो का उल्लेख मात्र ही नहीं किया अपितु बहुत-सी घटनाओं के सन्दर्भ में बहुधा रासो की सूचनाओं का आधार स्वीकार किया है। आश्चर्य की बात तो यह है कि 'रासो' को अविश्वसनीय कहते हुए भी सूर्यमल्ल मिश्रण ने उसके विवरणों को अपने महाकाव्य में स्वीकार किया है –

भई यो न तो ज्यों भई, होय सत्यतिम होहु।
कही चंद सुहि हम कहत, घटहु प्रमान न कोहु॥[5]

रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल द्वारा 'रासो' की ओर सर्वप्रथम लोगों का ध्यान आकृष्ट किया गया। एफ.एस. ग्राउज ने 'पोइम्स ऑफ चन्दवरदाई' नामक निबन्ध द्वारा 'रासो' के प्रकाशन की आवश्यकता पर बल दिया। ग्राउज और बीम्स के द्वारा किये गए 'पृथ्वीराज रासो' के कुछ अनुवाद के अंश प्रकाशित हुए। इससे गार्सा द तासी, जेम्स मॉरिसन, राबर्ट लेंज, ग्रियर्सन और बूलर आदि विद्वान् भी रासो के अध्ययन में प्रवृत्त हुए। 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा तथा व्याकरण के साथ उसके अनुवाद के पक्ष-विपक्ष में लम्बी बहस चली। जान बीम्स द्वारा किये गए अनुवाद और सम्पादन को बूलर ने इतिहास की दृष्टि से 'रासो' की बजाय जयनिक-कृत 'पृथ्वीराज विजय' को अधिक प्रामाणिक माना। ग्रियर्सन जैसे विद्वानों ने पहले इसका समर्थन किया था बाद में अपनी राय बदल दी और 'रासो' को अनैतिहास और अप्रामाणिक मानकर इसका प्रकाशन बन्द कर दिया। डॉ॰ बूलर ने रासो को अप्रामाणिक इसलिए माना कि उदयपुर के श्यामलदास तथा जोधपुर के कविराजा मुरारीदान दोनों ने ही इसे

इतिहास के लिए अनुपयोगी मान लिया था। श्यामलदास ने अनेक प्रमाणों द्वारा 'पृथ्वीराज रासो' को अप्रामाणिक सिद्ध किया है ।[6] श्यामलदास ने एशियाटिक सोसाइटी कलकता से निकलने वाले जर्नल में एक लेख लिखकर 'रासो' को सर्वथा जाली ग्रन्थ घोषित कर दिया इसीलिए बीम्स द्वारा सम्पादित 'पृथ्वीराज रासो' का प्रकाशन बन्द कर दिया गया।

इस प्रकाशन के बन्द हो जाने से पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या जो सोसाइटी के आजीवन सदस्य थे बहुत दुखी हुए। उनकी दृष्टि में 'रासो' सर्वथा प्रामाणिक ग्रन्थ था। उन्होंने अकेले ही 'रासो' का प्रकाशन शुरू किया। 1887 ई. में बनारस से 'रासो' का पहला भाग प्रकाशित किया गया। सन् 1906 में पण्ड्याजी को नागरी प्रचारिणी सभा का समर्थन मिला और श्यामसुन्दरदास और राधाकृष्णदास ने रासो के सम्पादन में सहयोग किया। सन् 1913 तक इसका अन्तिम भाग प्रकाशित हुआ। पण्ड्याजी 26 वर्ष तक अपने इस विश्वास पर दृढ़ रहे अन्यथा रासो का प्रकाशन ही नहीं होता।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने नागरी प्रचारिणी सभा वाली मुद्रित प्रति के आधार पर संक्षिप्त 'पृथ्वीराज रासो' का सम्पादन किया। राजमल बोरा ने इस संस्करण और द्विवेदीजी के निर्णय की प्रक्रिया का महत्त्व स्वीकार करते हुए कहा – "आचार्य द्विवेदी ने सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि 'नागरी प्रचारिणी सभा' वाले संस्करण का अध्ययन किया। 'रासो' के कथानक को पहचानने के लिए उन्होंने संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश काव्यों की कथा-परम्परा में 'रासो' के कथानक को परखा और इस आधार पर इतिहास और कल्पना को अलग करने की कोशिश की।"[7] डॉ० नामवर सिंह ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि – " 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता पर विचार करते समय यह न भूलना चाहिए कि वह काव्य-ग्रन्थ है, इतिहास नहीं । यदि जायसी के पद्मावत की अनैतिहासिक घटनाओं को लेकर इतना शोरगुल नहीं हुआ तो कोई आवश्यक नहीं कि 'पृथ्वीराज रासो' पर ऐसा कोप किया जाए। 'पृथ्वीराज रासो' में कितना अंश अनैतिहासिक है, इसकी चर्चा यहाँ प्रासंगिक नहीं है।"[8]

'पृथ्वीराज रासो' के विभिन्न संस्करण अलग-अलग समय में मुद्रित हुए हैं। हस्तलिखित प्रतियों के लिपिकारों तथा प्रकाशित प्रतियों के सम्पादकों का प्रयोजन भी अलग-अलग रहा। समय-समय पर 'रासो' का स्वरूप बदलता रहा तथा कई नये कथानक जुड़ते रहे इसलिए प्रामाणिकता की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जहाँ एक ओर इसमें ऐतिहासिक भ्रान्तियों का बोलबाला है, घटनाएँ कल्पित हैं और संवत् प्रामाणिक नहीं हैं वहीं दूसरी ओर 'रासो' का इतिहास बोध बहुत सशक्त रहा है। इसने बदलते समय में ऐतिहासिक भावना को जगाया है तथा अप्रामाणिक होते हुए भी इतिहास व काव्य के रूप में बहुत प्रसिद्ध रहा है। यह काव्य लोक-जीवन का इतिहास हो गया है और इस काव्य का ऐतिहासिक स्वरूप लोक-जीवन के विश्वासों के अनुरूप बदला है। काव्य होते हुए भी इतिहास के रूप में जीने वाला यह हिन्दी का अन्यतम महाकाव्य है। विवाद और विरोध के बावजूद इसकी प्रसिद्धि और लोकप्रियता में कोई कमी नहीं आई है।

2.1.2.2 तिथि

'पृथ्वीराज रासो' के सम्बन्ध में डॉ० गौरीशंकर हीराचंद ओझा लिखते हैं कि "हमने जाँच करके देखा है कि 'पृथ्वीराज रासो' बिल्कुल अनैतिहासिक ग्रन्थ है। उसमें चौहानों, प्रतिहारों और सोलंकियों की उत्पत्ति सम्बन्धी कथा, चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता, भाई, बहिन, पुत्र और रानियों आदि के विषय की कथाएँ तथा बहुत-सी घटनाओं के संवत् और प्रायः सभी घटनाएँ तथा सामन्तों आदि के नाम अशुद्ध और कल्पित है।"[9]

डॉ० ओझा का यह कथन पृथ्वीराज 'रासो' में वर्णित तिथि और संवतों के सम्बन्ध में यह दर्शाता है कि 'रासो' के रचयिता ने जगह-जगह पर जो तिथियाँ व संवत् दिये हैं वे अशुद्ध और कल्पित हैं। इसके सम्बन्ध में पण्ड्या मोहनलाल के मतानुसार 'रासो' के संवत् में 91 वर्ष जोड़ने पर (जिसे अनन्द संवत् कहा गया) सारे संवत् सही बैठ जाते हैं। किन्तु पण्ड्या का यह कथन कसौटी पर खरा नहीं उतरता। 'रासो' में पृथ्वीराज का जन्म संवत् अ.सं. 1115 लिखा है जिसमें 91 वर्ष जोड़ने पर वि.सं. 1206 होता है। लेकिन वि.सं. 1206 में तो पृथ्वीराज का पिता सोमेश्वर भी बालक था। उसके वि.सं. 1218 के बाद कर्पूरी देवी से शादी की जिससे पृथ्वीराज का जन्म वि.सं. 1220 से 1224 के बीच हुआ माना जाता है। इसी प्रकार पृथ्वीराज के सामन्त सलख और चामुण्ड ने अ.सं. 1136-38 वि.सं. 1227-29 में कैद करना लिखा है परन्तु वि.सं. 1232 में मुहम्मद ग़ोरी ने मुल्तान जीतकर भारत पर चढ़ाई की इससे पूर्व भारत में नहीं आया, इसलिए यह तिथि कल्पित है।

इसी प्रकार पृथ्वीराज का अ.सं. 1138 में दिल्ली की गद्दी पर बैठना, अ.सं. 1139 में समुद्रशिखर की कुमारी से विवाह करना तथा अ.सं. 1141 में कर्नाटक देश की वैश्या को प्राप्त करना जिससे क्रमशः 1229, 1230 और 1232 वि.सं. होते हैं किन्तु ये सब अशुद्ध है क्योंकि इस समय तक तो पृथ्वीराज गद्दी पर भी नहीं बैठा था इसलिए रासो में दिये गए संवत् कल्पित हैं।

कविराव मोहनसिंह उदयपुर ने रासो में वर्णित अनन्द संवत् को विसं. और शक संवत् से भिन्न पृथ्वीराज के शासन का) तीसरा संवत् माना है। उनके अनुसार 'रासो' की तिथियों में 91 वर्ष सर्वत्र मिलाने से 'रासो' के संवतों में कहीं गड़बड़ मालूम नहीं होती, किन्तु कहीं लेख-दोष और कहीं हमारे समझने में दोष हो तो उसको जाँच द्वारा ठीक कर लेना आवश्यक है। इसके आधार पर उन्होंने कुछ संवतों का मिलान करते हुए शंका का समाधान किया है।[10]

2.1.2.3 भाषा तथा कवि सम्बन्धी मत

'रासो' की भाषा के सम्बन्ध में भी विद्वानों में अनेक मत हैं। 'वीरकाव्य' के लेखक डॉ० उदयनारायण तिवारी के अनुसार "लंदन की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी में संगृहीत एक हस्तलिखित प्रति में लिखा है– "चन्दवरदाई लिखित पिंगल भाषा में पृथुराज का इतिहास'।" गार्सा द तासी ने इसे कन्नौजी बोली का काव्य कहा है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा 'रासो' की भाषा के व्याकरणिक ढाँचे को ब्रजभाषा का और डॉ० दशरथ शर्मा इसे प्राचीन

राजस्थानी मानते हैं। 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' में डॉ० नामवर सिंह ने 'रासो' की भाषा के बारे में विचार करते हुए लिखा है कि "वस्तुतः अपभ्रंश के बाद प्रायः पश्चिमी भारत में दो मुख्य भाषाएँ उत्पन्न हुईं – दक्षिणी पश्चिमी राजस्थान में 'डिंगल' तथा पूर्वी राजस्थान में ब्रजमण्डल में 'पिंगल'। काव्य-परम्परा की दृष्टि से डिंगल में रचना करने वाले प्रायः चारण हुए और पिंगल के कवि प्रायः भाट। 'पृथ्वीराज रासो' पूर्वी राजस्थान में मूलतः चंद बलिद्द भट्ट द्वारा अपभ्रंशोत्तर युग में रचा गया और अनेक प्रक्षेपों के साथ अपने विभिन्न रूपान्तरों में भी वह पिंगल की रचना है।" 'रासो' की भाषा आदिकालीन साहित्य की काव्य-भाषा है जिसमें अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी दोनों की भाषाई प्रवृतियों का मेल है। स्वयं रासोकार ने अपनी काव्य-भाषा को 'षड्भाषा पुरान च कुरानं च कथितं मया' बताया है। विपिन बिहारी त्रिवेदी ने 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा को 'दुर्भेद्य दीवाल' कहा है।

जिस प्रकार 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विविध विवाद है उसी प्रकार उसके रचनाकार के सम्बन्ध में भी विवाद है। 'रासो' का रचयिता कौन है ! इस प्रश्न पर विद्वानों ने अपने-अपने विचार रखे हैं। डॉ० नामवर सिंह ने सुदृढ़ जनश्रुति के आधार पर चंद बरद्दिय को 'रासो' का रचनाकार माना है। उन्होंने बरद्दिय को शुद्ध करके 'वरदाई' (वर देने वाला अथवा जिसे दुर्गा ने वर दिया हो) स्वीकार किया है।

रासो का रचनाकार चन्दवरदाई था। चन्दवरदाई के जीवन पर विपिन बिहारी त्रिवेदी ने 'पृथ्वीराज रासो' के अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर विस्तार से विचार किया है। चन्दवरदाई ने स्वयं अपने आपको जातीय बताया है। इसका नाम चन्दवरदाई प्रसिद्ध है। 'पृथ्वीराज रासो' के अनुसार 'वरदाई' का अर्थ है कि चन्दवरदाई को देवी सरस्वती का वरदान प्राप्त था। हरप्रसाद शास्त्री ने 'वरदाई' उपाधि को ज्वालादेवी से वर प्राप्त होना माना है। वरदान प्राप्त होने के परिणामस्वरूप चन्दवरदाई में असामान्य सिद्धि थी जिसके बल पर जो कुछ घटित होने वाला है या हुआ है वे सब जान जाते थे।

चन्दवरदाई के जीवन सम्बन्धी तथ्यों का आधार 'पृथ्वीराज रासो' और अनेक जनश्रुतियाँ या पारम्परिक मान्यताएँ ही हैं। 'रासो' के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर चन्दवरदाई का जन्मस्थान लाहौर था। 'रासो' में उल्लेख मिलता है कि पृथ्वीराज और चन्दवरदाई दोनों का जन्म एक ही दिन एक ही मुहूर्त में हुआ था। चन्दवरदाई पृथ्वीराज का आश्रित सम्मानित दरबारी और आत्मीय मित्र था। चन्दवरदाई ने स्वयं अपने को भट्ट जातीय बताया है। इनका नाम चन्दवरदाई प्रसिद्ध है।

चन्दवरदाई और पृथ्वीराज का साथ पृथ्वीराज रासो में प्रायः सर्वत्र दिखाई देता है परन्तु जब-जब पृथ्वीराज पर कोई संकट आता है या वह सन्मार्ग से विचलित होता है, चन्दवरदाई उसे एक सच्चे शुभचिन्तक मित्र की भाँति नेक और निर्भीक् सलाह देता है। चन्दवरदाई ने पृथ्वीराज के दोषों को छिपाया नहीं है। कैमास वध में वह पृथ्वीराज को यह कहने से नहीं हिचकता कि आपने बाण से स्वयं उसका वध किया है। संयोगिता के साथ केलि विलास के वर्णन में वह स्पष्ट कहता है कि संयोगिता की प्रौढ़ रति में निमग्न होकर वह (पृथ्वीराज) यह नहीं जानता कि कब दिन हुआ कब रात हुई ! इस कारण गुरु मृत्यु सब लोगों की राय उसके विपरीत हो गई। इससे चन्दवरदाई का चरित्र दीप्त होता है।

चन्दवरदाई की मृत्यु के सम्बन्ध में अत्यन्त प्रसिद्ध अनुश्रुति के उल्लेख के अनुसार यह प्रसिद्ध है कि शहाब-उद-दीन मुहम्मद ग़ोरी द्वारा पृथ्वीराज को बन्दी बनाकर गजनी ले गया। इससे चन्दवरदाई अत्यन्त दुखी हुआ और उसने अपने द्वारा रचित 'पृथ्वीराज रासो' नामक पोथी अपने पुत्र जल्हण को सौंपकर सबसे विदा ली और गजनी पहुँचा। गजनी पहुँचकर चन्दवरदाई ने नाना प्रकार से प्रयत्न कर शाह से भेंट की ओर पृथ्वीराज के शब्दभेदी बाण चलाने की कुशलता का ऐसा प्रभावी वर्णन किया कि मुहम्मद ग़ोरी उस कौशल को देखने के लिए उत्सुक हुआ। पृथ्वीराज ने शब्दभेदी बाण द्वारा मुहम्मद ग़ोरी का वध कर डाला। चन्दवरदाई ने अपनी पगड़ी से कटार निकाल कर आत्महत्या कर ली और पृथ्वीराज ने भी उसी कटार से मृत्यु का वरण किया। रासो की कथा का यह अत्यन्त मार्मिक स्थल है।

जब गजनी के कारागार में अन्धे पृथ्वीराज से चन्दवरदाई की भेंट होती है उसके सम्बन्ध में डॉ॰ नामवर सिंह की यह टिप्पणी बड़ी हृदयस्पर्शी है – "वह प्रसंग कितना मार्मिक है जब अन्धा नरेश अपने प्रिय सहचर चन्दवरदाई का स्वर सुनता है। पहले वह पहचान नहीं पाता। फिर थोड़ी देर बाद स्वर के सहारे पहचान लेता है। उल्लास होता है, लेकिन फिर न जाने कितने भाव मन में उठते हैं! शायद यह कि आज इस 'विरुद' के उपलक्ष्य में पहले की तरह पुरस्कार देने के लिए मेरे पास कुछ नहीं है। शायद यह कि आज यह 'विरुद' व्यंग्य की तरह चुभता है। शायद यह कि अपना यह विपन्न रूप चन्दवरदाई को दिखाने के लिए मैं क्यों जीवित हूँ, शायद यह कि डूबते को सहारा मिला और बहुत दिनों के बाद परदेश में स्वजन का स्वर सुनने को सौभाग्य प्राप्त हुआ है।" यहाँ पृथ्वीराज के मन की व्यथा का चित्रण करते हुए चन्दवरदाई लिखता है –

नेह नीर रुकि कण्ठ कवि, नैन भाल झलझझल पानि।
बिअन बोलत बोल्यो नृपति चांद चिंति बर बानि॥

'बिअन बोलत बोल्यो नृपति' पृथ्वीराज के मन की सारी बात कह देता है। वास्तविक कथावस्तु और ऐतिहासिक घटनावली में चन्दवरदाई द्वारा स्थापित सर्वथा इतिहास विरूद्ध मनगढ़ंत स्थापनाएँ बिना किसी हिचक के लोककाव्य द्वारा प्रचारित होकर अत्यन्त लोकप्रिय हो गईं।

2.1.3 'पृथ्वीराज रासो' की साहित्यिकता

'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता और ऐतिहासिकता के बारे में इतना विवाद हुआ है कि इसकी साहित्यिकता की ओर लोगों ने ध्यान ही नहीं दिया। एक तो इसकी भाषा इतनी दुरूह थी कि बहुत कम लोगों ने इसकी साहित्यिक महत्ता को उजागर करने की कोशिश की। फिर भी कुछ लोगों ने इसके साहित्यिक पक्ष की भी विवेचना की है।

2.1.3.1 काव्य-रूप

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने आदिकाल की साहित्यिक परम्परा के आधार पर 'पृथ्वीराज रासो' की साहित्यिकता को परखने का रास्ता सुझाया है। 'रासो' में शुक-शुकी संवाद का उपक्रम है और यह मध्यकालीन प्रबन्धकाव्यों में पाया जाता है । कथा का प्रारम्भ प्रायः दो पात्रों के संवाद के माध्यम से किया जाता है । मध्यकालीन प्रबन्धकाव्यों में रचनाकार या वाचक भी बीच-बीच में स्वयं भी पात्र के रूप में सामने आते हैं। उनके अनुसार शुक-शुकी संवाद के रूप में रासो का जो स्वरूप प्रस्तुत होता है वह काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से भी उत्तम है। पृथ्वीराज के तीन विवाहों – इच्छिनी, शशिव्रता और संयोगिता की कथा की योजना शुक-शुकी के संवाद के माध्यम से ही की गई है। 'रासो' के एक प्रमुख सम्पादक माताप्रसाद गुप्त 'रासो' के मूल रूप पर विचार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मूल में उक्ति शृंखला और छन्द शृंखला पद्धति थी और उनके आधार पर रासो काव्य का सृजन हुआ।

2.1.3.2 छन्द-योजना

काव्य में छन्दों के प्रयोग का प्रचलन रहा है। मध्यकाल में तो काव्य सृजकों ने इसका भरपूर प्रयोग करते हुए छन्दों की छटा से काव्य को चमत्कृत करने का प्रयास किया जैसे छन्द ही काव्य का साध्य बन गया। जहाँ तक 'पृथ्वीराज रासो' में छन्दों के प्रयोग-कौशल की बात है तो वह अद्‌भुत और अतुलनीय है। छन्द भाषा में विविध प्रकार की लय उत्पन्न करने के साधन हैं और पाठक के मन में प्रसंगानुकूल उद्वेलन उत्पन्न कर रसानुभूति में सहायक होते है। छन्दों की भरमार काव्य को बोझिल बना देती है पर इसका समुचित प्रयोग काव्य की सजीवता के लिए सार्थक होता है, 'रासो' में यही सजीव व सार्थक रूप दिखाई देता है।

चन्दवरदाई छन्द के राजा माने जाते हैं। जैसे-जैसे भाव बदलते हैं वैसे-वैसे कवि के छन्द-प्रयोग से भाषा संगीतमय लय में गुनगुनाती है । वियोग वर्णन में भाव तन्मयता के लिए शिथिल प्रवाह के निमित्त कवित्त का उपयुक्त प्रयोग हुआ है। श्यामलदास ने 'रासो' में छप्पय और दूहा के अलावा अन्य किसी छन्द का अस्तित्व ही नहीं माना है। परन्तु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार – "वैसे तो हर तलवार की झंकार में चन्दवरदाई गोटक, तोमर, पद्धति और नाराच पर उतर आते हैं, पर जमकर वे छप्पय और दूहा ही लिखते हैं ।" इस प्रकार चन्दवरदाई को छन्दों का अधिकारी कवि कहा जा सकता है जिन्होंने अपने समय के प्रचलित छन्दों का प्रयोग करते हुए अपने काव्य में भावानुकूल सौन्दर्यात्मकता की सृष्टि की है। चन्दवरदाई ने अपने काव्य में मार्मिक चित्रण के लिए प्रायः छप्पय छन्द को ही चुना है तथा कथा को आगे बढ़ाने के लिए गाथा छन्द का प्रयोग करते हैं।

गंगा वर्णन का यह छन्द गंगा की महिमा का कथन करता हुआ जिस लयबद्धता के साथ गंगा के तरल प्रवाह को मूर्तिमान कर देता है वह द्रष्टव्य है–

हरि हरि गंगे तरल तरंगे अघ क्रित भंगे व्रित चंगे।
हरि सिर परसंगे जटनि विलंगे विहरति दंगे जल जंगे ॥

मुन गंध्रब छंदे जै जै बंदे क्रित अघ कंदे मुख चंदे।
मति उच गति मंदे दरसत नंदे पढ़ि वर छंदे गत द्वंदे ॥

2.1.3.3 कथानक-रूढ़ियाँ

'पृथ्वीराज रासो' रासक शैली में लिखा हुआ एक चरित काव्य है। इसके नायक पृथ्वीराज चौहान हैं। पृथ्वीराज क्षत्रिय वीर, रसिक, विलासी, दृढ़प्रतिज्ञ, शरणागतवत्सल और चन्दवरदाई का अभिन्न मित्र है। उससे जुड़ी हुई मुख्य कथा के साथ की अनेक कथाएँ भी 'रासो' में हैं। 'रासो' का कथानक मध्यकाल में प्रचलित अनेक कथानक-रूढ़ियों से भरा पड़ा है। हमारे देश में साहित्य के कथानक को गति और घुमाव देने के लिए कुछ अभिप्राय बहुत दीर्घकाल से यहाँ व्यवहृत होते आए हैं जो थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और आगे चलकर कथानक-रूढ़ि में बदल गए हैं।[11]

कथानक-रूढ़ियों का अभिप्राय ऐसे घटना-प्रसंगों से है जो कथानक को आगे बढ़ाने के लिए काव्य में प्रयुक्त होते हैं। मध्यकालीन प्रबन्धकाव्यों में ये घटना-प्रसंग एक रूढ़ि की तरह प्रयोग में लाये जाते रहे इस कारण इन्हें 'कथानक-रूढ़ि' कहा जाता है। काव्य में किस तरह की काव्य रूढ़ियाँ प्रचलित हो गईं! उसके कुछ उदाहरण[12] यहाँ दिये जा रहे हैं – कहानी कहने वाला सुग्गा, स्वप्न देखकर, चित्र देखकर या कीर्ति श्रवण से प्रेमासक्ति होना, मुनि का शाप, आकाशवाणी, षड्ऋतु-बारहमासे के बहाने विरह वेदना का वर्णन, रूप परिवर्तन, परकाया प्रवेश, हंसकपोत से सन्देश-कथन आदि।

'रासो' में प्रेम सम्बन्धी लगभग सभी रूढ़ियों का समावेश हुआ है। इच्छिनी, शशिव्रता और संयोगिता के विवाहों में शुक-शुकी वार्तालाप का प्रयोग किया गया है। 'रासो' में कहानी कहने वाला सुग्गा, गुण-श्रवण से अनुराग, रूप परिवर्तन, षड्ऋतु वर्णन आदि कथानक-रूढ़ियों का भरपूर प्रयोग हुआ है।

2.1.4 'पृथ्वीराज रासो' का महाकाव्यत्व

'पृथ्वीराज रासो' को हिन्दी का प्रथम महाकाव्य माना जाता है। हमारे यहाँ महाकाव्यों के भेदों की विवेचना प्रायः संस्कृत साहित्य के आधार पर की जाती रही है। उसके अनुरूप 'रासो' में महाकाव्य के सभी लक्षण घटित नहीं होते हैं और न ही 'रासो' में छन्दों का विधान संस्कृत महाकाव्यों जैसा है। इसमें खण्डों का विभाजन भी संख्या क्रम की बजाय घटनाओं के आधार पर किया है जैसे कनवज्ज समय, पद्मावती समय, कैमासवध आदि। काव्य-रूप की दृष्टि से 'रासो' संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में न होकर अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों की परम्परा में है। 'रासो' में मध्यकालीन प्रबन्धकाव्यों के कई रूपों का सम्मिश्रण है। उसमें कथाकाव्य, चरित काव्य, आख्यायिका आदि सम्मिलित हैं। रासो काव्य में कथानक-रूढ़ियों का भी भरपूर मात्रा में प्रयोग हुआ है। 'पृथ्वीराज रासो' ऐतिहासिक एवं वीरतापरक काव्य है। 'पृथ्वीराज रासो' में सन्देशरासक काव्य-रूप के लक्षण भी मिलते हैं।

'पृथ्वीराज रासो' के नामकरण से ही स्पष्ट है कि यह एक चरित काव्य है। मूलतः रासो काव्य है परन्तु उसमें कथाचरित और आख्यान आदि काव्य-रूपों का भरपूर उपयोग किया गया है। डॉ॰ नित्यानन्द तिवारी के अनुसार 'पृथ्वीराज रासो' रोमांचक आख्यान है। उसमें कथानक तो है पर उसमें परस्पर आन्तरिक गठन नहीं है। उसमें अनेक असम्बद्ध कथाओं का संकलन है। कथाओं और घटनाओं के विस्तार में आन्तरिक घात-प्रतिघात नहीं है। उसमें कई जोड़ और गाँठें हैं। यह महाकाव्य कथात्मकता की प्रवृति (कहते जाने की प्रवृति) पर है। इसमें चरित्र तो है पर चरित्रगत वैयक्तिक विशेषताएँ प्राय नहीं मिलती। इसमें जो रोमांचक आख्यान संकलित है उनका कोई ऐतिहासिक उद्देश्य नहीं है और न ही ये आख्यान कथानक के उद्देश्य की अन्तस्सूत्रता से बँधे हुए हैं। इसमें पृथ्वीराज के विवाहों और युद्धों की घटनाएँ है। इसमें दो-चार विवाह और युद्ध के प्रसंग 'रासो' में जोड़ दिए जाएँ या निकाल दिए जाएँ तो 'रासो' के रूप में कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

'पृथ्वीराज रासो' का कथानक अनेक कथानक-रूढ़ियों और काव्य-रूढ़ियों से युक्त है। 'रासो' का रचयिता अपने काल की प्रचलित परम्परा से सुपरिचित है तथा उसकी पालना करते हुए मौलिक उद्भावना द्वारा कथानक के विकास करने की प्रतिभा से सम्पन्न है। पृथ्वीराज अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर का पुत्र था। इनकी माँ दिल्ली के तोमर राजा अनंगपाल की कन्या थी। अनंगपाल की दूसरी बेटी कन्नौज के राजा विजयपाल को ब्याही थी जिससे जयचन्द का जन्म हुआ। बाद में पृथ्वीराज के जीवन के घटना-प्रसंगों का उल्लेख है।

एक प्रसंग ऐसा भी है जिसमें सामन्तकालीन घटना का वर्णन है। पृथ्वीराज के चाचा कन्ह बड़े पराक्रमी थे। पृथ्वीराज चौहान के आश्रय में चालुक्यवंशी सात भाई रहते थे। एक दिन वे दरबार में बैठे थे। उनमें से एक भाई प्रतापसी ने मूँछों पर ताव दे दिया। चाचा कन्ह को यह बात नागवार गुजरी कि कोई उनके सामने अपनी मूँछों पर ताव दे। उसने प्रतापसी को मौत के घाट उतार दिया। अपने शरण में रहने वाले चालुक्य प्रतापसी की हत्या किसी अन्य ने की होती तो पृथ्वीराज उसे मृत्युदण्ड देता पर चाचा का क्या किया जाय ! आखिरकार यह तय हुआ कि चाचा कन्ह की आँखों पर रत्न-स्वर्ण से जड़ित पट्टी बाँध दी गई। आदेश हुआ कि "उनकी यह पट्टी केवल दो अवसरों पर उतारी जाए, युद्ध क्षेत्र में और शय्या पर।

एक अन्य प्रसंग भी द्रष्टव्य है – कैमास पृथ्वीराज का प्रधान अमात्य था। वह पृथ्वीराज का विश्वस्त मंत्री था। पृथ्वीराज जब छोटा था तब उसकी माता ने कैमास की देख-रेख में ही राज-काज चलाया था। जब पृथ्वीराज संयोगिता के प्रेम में डूब कर आखेट करता हुआ वन में घूम रहा था। उसने अपने शासन का भार कैमास को सौंप दिया था। इधर कैमास कर्णाटी नाम की दासी पर अनुरक्त हो गया। एक दिन कैमास उसके महल में विहार कर रहा था। उस समय पृथ्वीराज को यह समाचार उनकी बड़ी रानी इच्छिनी ने भिजवाया। पृथ्वीराज ने रात में ही जाकर कैमास का वध कर दिया। कैमास-वध के इस प्रसंग को दरबार में चन्दवरदाई ने बड़ी निर्भीकता से और दृढ़ता से उजागर किया। अपने आश्रयदाता और अंतरंग मित्र को स्पष्ट कहा कि तुम्हारे इस अकार्य का क्या फल होगा ! पृथ्वीराज ! तुम्हारी कीर्ति के कमल को कैमास-वध ने कवलित कर दिया है। चन्दवरदाई के आग्रह पर ही पृथ्वीराज ने कैमास का शव उसकी पत्नी को सौंपा।

पृथ्वीराज ने इच्छिनी के भाई से युद्ध कर इच्छिनी से विवाह किया। युद्धों के फलस्वरूप विवाह और विवाह के निमित्त युद्ध के क्रम में कुछ दिनों बाद संयोगिता का अपने प्रति प्रेम जानकर ज्योतिषियों और हितैषियों के मना करने पर भी पृथ्वीराज कन्नौज जाता है। यात्रारम्भ के पहले रनिवास से अनुमति लेने के लिए जाने पर छह रानियों द्वारा एक-एक ऋतु में रुकने का आग्रह करने के फलस्वरूप साल भर रुका रह जाता है। अन्त में ससैन्य कन्नौज के लिए प्रस्थान करता है। संयोगिता के प्रेमवश गंगा किनारे उससे भेंट होने पर घोड़े पर बिठाकर चल देता है। पृथ्वीराज तो शत्रु सेना को काटता निकल गया पर उसके अनेक वीर योद्धा इस युद्ध में मारे गए।

संयोगिता से विवाह करने के बाद वह भोग-विलास में डूब गया। राज्य के दायित्व के निर्वाह से बेखबर पृथ्वीराज पर शहाब-उद-दीन मुहम्मद ग़ोरी का हमला हुआ। पृथ्वीराज को बन्दी बनाया गया और गजनी ले गया। उसकी आँखें निकाल दी गईं और कैद में डाल दिया। बाद में चन्दवरदाई गजनी पहुँचा और मुहम्मद ग़ोरी को शब्दबेधी बाण का कौशल देखने को राजी कर लिया। पृथ्वीराज ने शब्दबेधी बाण से मुहम्मद ग़ोरी को मारा और अन्त में चन्दवरदाई व पृथ्वीराज भी अपना प्राणान्त कर लेते हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार उस युग की काव्य-प्रवृत्तियों और काव्य-रूपों के आधार पर 'रासो' के मूलरूप का सन्धान पा सकते हैं। अब तक 'रासो' के चार संस्करण उपलब्ध हैं – संवत् 1767 की उदयपुर वाली प्रति के आधार पर नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित बृहत् संस्करण का सम्पादन मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने किया है। यह छह भागों में प्रकाशित है तथा इसमें 3088 पृष्ठों में 'रासो' के 67 समय और रासोसार छपे थे।

साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर से कविराज मोहनसिंह के सम्पादन में चार भागों में 'रासो' का प्रकाशन हुआ। इस संस्करण में कुल 4439 छन्द हैं।

सन् 1963 में बेनीप्रसाद शर्मा ने 'रासो' का लघु रूपान्तर प्रकाशित किया जो 19 खण्डों में है। अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर की तीन प्रतियों के आधार पर सम्पादन किया। इसमें 1800 छन्द हैं।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने 10 हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर 'रासो' का लघुतम संस्करण का सम्पादन किया।

इसके बाद आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के सम्पादन में संक्षिप्त 'पृथ्वीराज रासो' का प्रकाशन सन् 1952 में हुआ। द्विवेदीजी ने 'रासो' के कथानक को संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश काव्यों की कथा-परम्परा में परखा। द्विवेदीजी का कथन है कि – "चन्दवरदाई का मूलग्रन्थ शुक-शुकी संवाद के रूप में ही लिखा गया था और जितना अंश इस संवाद के रूप में है उतना ही वास्तविक है। … 'पृथ्वीराज रासो' ऐसी ही सालंकार युद्धबद्ध कथा थी, जिसका मुख्य विषय नायक की प्रेम-लीला, कन्या-हरण और शत्रु-पराजय था।"

2.1.4.1 काव्य-सौष्ठव

'पृथ्वीराज रासो' मूलतः काव्य है जिसमें कथा, चरित और आख्यान काव्य-रूप में है। यह एक चरित काव्य है। इसमें काव्य-रूढ़ियाँ व कथानक-रूढ़ियों का भरपूर उपयोग किया गया है। इच्छिनी, शशिव्रता और संयोगिता विवाह में शुक-शुकी संवाद का प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त कथानक के घटनाक्रम के विकास के लिए किसी कार्य-कारण शृंखला की बजाय कथानक-रूढ़ियों का सहारा लिया गया है। नट के मुख से यादव कन्या शशिव्रता के रूप की प्रशंसा सुनकर पृथ्वीराज का उस पर आसक्त होना, यह ज्ञात होना कि कामध्वज राजा को शशिव्रता नहीं चाहती इसलिए उससे विवाह के लिए वह तैयार नहीं है, कन्या प्राप्ति के लिए शिव-पूजन और शिव-मन्दिर में मनोरथ सिद्धि या वरदान, ये सब पुरुष प्रेम की पुरानी भारतीय कथा-रूढ़ियाँ हैं। इसका नियोजन कवि ने बहुत ही निपुणता से किया है जो प्रशंसनीय है। भिन्न-भिन्न ऋतुओं में काम-पीड़ा से पृथ्वीराज की व्याकुलता भी रूढ़ि है उसके बहाने रासोकार ने षड्ऋतु वर्णन किया है।

रूप-गुण-श्रवणजन्य आकर्षण और प्रेमोत्पत्ति प्राचीनकाल से प्रचलित भारतीय कथानक-रूढ़ि है। इसी भाँति अन्य कई प्रचलित कथारूढ़ियों के प्रयोग के सहारे, संभावनाओं के विस्तार से रस-सृष्टि इस काव्य के रचयिता का प्रयोजन है।

कथावस्तु के विस्तार हेतु युद्धों की तैयारी, सेना की व्यूह-रचना, नगरों, दरबारों, राजाओं के वैभव, नारियों के सौन्दर्य और ऋतुओं की शोभा के प्रसंग उल्लेखनीय हैं। युद्धों की अनवरत शृंखला, युद्धों की तैयारी सम्बन्धी विवरण, युद्धों में चक्रव्यूह, मयूर-व्यूह, सिद्ध-व्यूह और गरुड़-व्यूह का वर्णन करते हुए कवि ने युद्ध सम्बन्धी वर्णन में बहुत उत्सुकता दर्शायी है। नगर-वर्णन भी दर्शनीय है। गुर्जर नरेश भीमदेव चालुक्य की राजधानी पट्टनपुर, पृथ्वीराज चौहान की इन्द्रपुरी सदृश दिल्ली और कन्याकण्णेश्वर जयचन्द के कन्नौज नगर प्रमुख हैं।

नगर-वर्णन के साथ योजनाओं तक फैले उद्यान जिसमें भाँति-भाँति के फल-फूल, नगर की द्यूत-शालाएँ, वीणा-वादन, विभिन्न व्यवसाय वाले स्त्री-पुरुष, नगर-हाट में रत्न-मोती-माणिक्य के हार, बहुमूल्य वस्त्रों का क्रय-विक्रय समस्त क्रिया-व्यापार कवि ने परम्परानुरूप गिनाये हैं। ज्योनार में व्यंजनों की विस्तृत सूची है तो होली-दीवाली जैसे पर्वों पर कवि ने अपनी जानकारी प्रदर्शित करने में विशेष रुचि दिखाई है।

वस्तुवर्णन की अपेक्षा भाव-व्यंजना में कवि की सदस्यता विशेषरूप से प्रभावित करती है। युद्धों के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन के लिए चन्दवरदाई की प्रसिद्धि ज्यादा है परन्तु 'रासो' में ऐसे अनेक प्रसंग है जहाँ पात्रों के कोमल तथा करुण मनोभावों से कवि का सम्पूर्ण तादात्म्य हुआ है और उसकी अभिव्यंजना में चमत्कार-प्रदर्शन की जगह मर्मस्पर्शिता मुखर हुई है।

नारी-सौन्दर्य के प्रसंग में कवि की विशेष रुचि रही है। शशिव्रता की वयःसन्धि का वर्णन देखिये – शशिव्रता की वयःसन्धि ऐसी है मानों शृंगाररूपी सुमेरु के दोनों ओर उदय होता सूर्य और अस्ताचलगामी चन्द्रमा एक साथ दिखाई दे। इस उत्प्रेक्षा में अद्‌भुत कल्पनाशीलता के साथ यौवन के तेजोदीप्त रूप की शोभा और

कैशोर्यकाल की चन्द्रमा-सी शीतलता की व्यंजना अत्यन्त सटीक और कलात्मक है। सौन्दर्य-वर्णन के क्रम में सद्यःस्नाता इच्छिनी का मोहक रूप, प्रथम मिलन की हल्की घबराहट और आनन्द का मिला-जुला अनुभूतिजन्य कम्पन, इच्छिनी की कमनीय देह यष्टि और उमंगित मनःस्थिति की अत्यन्त सटीक व्यंजना कवि ने की है। नख-शिख का परिपाटी वर्णन करने में भी कवि सजग है। कवि अपनी कल्पना से सौन्दर्य के नवोन्मेष से रस-सृष्टि करता है। भाषा पर कवि का पूर्ण अधिकार है और पूर्व से चली आ रही काव्य-परम्परा को चन्दवरदाई ने निश्चित रूप से एक ऊँचाई प्रदान की है। भावों के अनुरूप भाषा को मोड़ने की कवि में अद्भुत क्षमता है।

2.1.5 पाठ-सार

'पृथ्वीराज रासो' का हिन्दी साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे हिन्दी साहित्य का आदि महाकाव्य माना गया है। 'पृथ्वीराज रासो' की ऐतिहासिकता और प्रामाणिकता के विषय में अत्यधिक विवाद रहा है। इसके बावजूद यह एक प्रसिद्ध और लोकप्रिय महाकाव्य है। यह महाकाव्य प्रारम्भ में मौखिक परम्परा में प्रचलित रहा। चन्दवरदाई-कृत 'पृथ्वीराज रासो' अकबर के समय यह लोकप्रिय श्रव्यकाव्य के रूप में प्रचलित था। अकबर ने अपने दरबारी कवि गंगभाट से इसे सुना था। अकबरकालीन इतिहासकार अबुल फजल ने 'रासो' के वृत्तान्तों का गहन अध्ययन करने के बाद इसे 'हिन्दू इतिहास' का गौरव प्रदान किया। जहाँगीर के काल में 'पृथ्वीराज रासो' का लेखन प्रारम्भ हुआ इससे पूर्व अपने जन्म से मौखिक रूप में सुरक्षित रहा।

रासो काव्य की सुदीर्घ परम्परा रही है। कर्नल टॉड ने 'आईने अकबरी' के बाद 'पृथ्वीराज रासो' को अभूतपूर्व प्रतिष्ठा प्रदान की और विद्वानों का ध्यान इस ओर खींचा। इसका प्रथम प्रकाशन रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, कलकता से किया गया। जॉन बीन्स के सम्पादन वाले इस प्रकाशन को बूलर ने अनैतिहासिक और अप्रामाणिक बताकर उसका प्रकाशन बन्द करवा दिया। 'वीर विनोद' के रचयिता श्यामलदास, कविराजा मुरारीदान, पण्डित गौरीशंकर हीराचंद ओझा आदि ने 'पृथ्वीराज रासो' व उसमें वर्णित संवतों व घटना-प्रसंगों को अप्रामाणिक माना।

पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने 'रासो' को प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हुए नागरी प्रचारिणी सभा से इसका प्रकाशन करवाया। उनके प्रयासों से ही 'रासो' का प्रकाशन सम्भव हो पाया। इसके बाद साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर से कविराज मोहनसिंह द्वारा सम्पादित 'रासो' चार खण्डों में प्रकाशित हुआ। इसके बाद बेनीप्रसाद शर्मा व माताप्रसाद गुप्त ने भी क्रमशः लघु रूपान्तर तथा लघुतम संस्करण प्रकाशित किए। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने संक्षिप्त 'पृथ्वीराज रासो' का सम्पादन किया और 'पृथ्वीराज रासो' के कथानक को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्यों की कथा-परम्परा में परखने का प्रयास किया।

चन्दवरदाई-कृत 'पृथ्वीराज रासो' की ऐतिहासिकता और प्रामाणिकता के विवाद के चलते इसकी साहित्यिकता पर कम ध्यान दिया गया है तथापि 'रासो' एक अत्यन्त लोकप्रसिद्ध श्रव्यकाव्य के रूप में प्रचलित रहा। पृथ्वीराज चौहान इसका नायक है तथा वह एक ऐतिहासिक पात्र है। इसके साथ विभिन्न कथानक-रूढ़ियों व

काव्य-रूढ़ियों के माध्यम से कथा का विस्तार करते हुए कवि ने विविध प्रसंगों को कल्पना शक्ति के आधार पर बहुत ही प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है।

'पृथ्वीराज रासो' अपने पूर्ववर्ती काव्य-प्रवृतियों और परवर्ती काव्य-प्रवृतियों का सेतु है। यह मध्ययुगीन भारतीय इतिहास का एक काव्यात्मक इतिहास है । इसमें मानव जीवन की विविध परिस्थितियों और भावाभिव्यंजनाओं का समावेश हुआ है इसीलिए हिन्दी के आदिकाल के महाकाव्यों में 'रासो' को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। ऐतिहासिक भ्रान्तियों के होते हुए भी 'रासो' का इतिहास-बोध बहुत सशक्त रहा है। इस काव्य का ऐतिहासिक स्वरूप लोक-जीवन के विश्वासों के अनुरूप बदला है और परिवर्तित स्वरूप को भी इतिहास कहा गया है। काव्य होते हुए भी इतिहास के रूप मे जीने वाला यह हिन्दी का अन्यतम महाकाव्य है।

2.1.6 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. "'पृथ्वीराज रासो' इतिहास का कम और तत्कालीन प्रचलित काव्य-रूढ़ियों को समझने का अधिक साधन है।" उपर्युक्त कथन किस विद्वान् का है ?
   (क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
   (ख) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
   (ग) जेम्स टॉड
   (घ) नामवर सिंह

   सही उत्तर – (ख)

2. 'पृथ्वीराज रासो' का सर्वप्रथम प्रकाशन किस संस्थान ने किया ?
   (क) काशी नागरी प्रचारिणी सभा
   (ख) बंगाल एशियाटिक सोसायटी
   (ग) हिन्दी साहित्य सम्मेलन
   (घ) साहित्य संस्थान, उदयपुर

   सही उत्तर – (ख)

3. डॉ॰ बूलर को 'पृथ्वीराज रासो' से अधिक प्रामाणिक कौनसा ग्रन्थ लगा ?
   (क) खम्माण रासो
   (ख) दलपत विजय
   (ग) सन्देशरासक
   (घ) पृथ्वीराज विजय

   सही उत्तर – (घ)

4. पृथ्वीराज चौहान का किस मुस्लिम शासक से युद्ध हुआ ?

(क) मुहम्मद गजनी

(ख) बाबर

(ग) औरंगजेब

(घ) शहाब-उद-दीन मुहम्मद ग़ोरी

सही उत्तर – (घ)

5. 'पृथ्वीराज रासो' के रचयिता कौन हैं ?

(क) चन्दवरदाई

(ख) नाल्ह कवि

(ग) जगनिक

(घ) नानूराम

सही उत्तर – (क)

6. "पुस्तक जल्हण हत्थ दै चलि गज्जन नृपकाज" किस ग्रन्थ की पंक्ति है ?

(क) पृथ्वीराज रासो

(ख) आल्हा

(ग) खम्माण रासो

(घ) दलपत विजय

सही उत्तर – (क)

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा पर टिप्पणी लिखिए।
2. रासो काव्य-परम्परा में 'पृथ्वीराज रासो' का क्या स्थान है ? टिप्पणी लिखिए।
3. "'पृथ्वीराज रासो' तथ्य और कल्पना का मिश्रण है।" टिप्पणी लिखिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 'पृथ्वीराज रासो' की ऐतिहासिकता तथा अप्रामाणिकता का विश्लेषण कीजिए।
2. 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा तथा कवि सम्बन्धी मत पर अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।
3. कथानक-रूढ़ि किसे कहते हैं ? पृथ्वीराज रासो में वर्णित कथानक-रूढ़ियों पर प्रकाश डालिए।
4. 'पृथ्वीराज रासो' की साहित्यिकता का उल्लेख करते हुए इसके महाकाव्यत्व को रेखांकित कीजिए।

2.1.7 सन्दर्भ / उपयोगी ग्रन्थ-सूची

01. अकबर नामा : खण्ड – 3, पृ. 167

02. एनल्स एंड एंटीक्विटीज ऑफ राजस्थान, टॉड, खण्ड – 1, पृ. 297 से 298

03. टॉड-कृत राजस्थान का इतिहास, अनु. केशव ठाकुर, प्रस्तावना, पृ. 4
04. चन्दवरदाई, शान्तासिंह, पृ. 25
05. महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण स्मृति ग्रन्थ में रघुवीरसिंह का निबन्ध, पृ. 48 से 56
06. वीर विनोद, श्यामलदास, भाग – 1, पृ. 254 से 289
07. पृथ्वीराज रासो : इतिहास और काव्य, राजमल बोरा, पृ. 56
08. संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, सं. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं डॉ॰ नामवर सिंह पृ. 180
09. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास, हजारीप्रसाद द्विवेदी
10. शोध पत्रिका, भाग – 2, अंक – 4, जून, सन् 1951 में कविराव मोहनसिंह का आलेख – "पृथ्वीराज रासो : शंकाएँ और समाधान", पृ. 230 से 243
11. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 80
12. वही, पृ. 92
13. शर्मा, दशरथ, सन् 1972, चौहान सम्राट् पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
14. TOD JAMES, Reprint 1987, Annals and Antiquities of Rajasthan, Delhi, Motilal Banarsidas, ISBN 81-208-0397-3, (Vol. I), Page No. 38
15. श्यामलदास, संवत् 1943, वीर विनोद, द्वितीय भाग, उदयपुर, राजयन्त्रालय, पृष्ठ 555
16. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, संस्करण 2000, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, नयी दिल्ली, वाणी प्रकाशन, ISBN : 81-7055-330, पृष्ठ क्रमांक 94-95
17. सिंह, शान्ता, प्रथम संस्करण 2000, चन्दवरदाई, नयी दिल्ली, साहित्य अकादेमी, ISBN : 81-260-0865-2, पृष्ठ क्रमांक 15, 43, 63
18. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, संस्करण 1992, हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, ISBN : 81-7178-159-4, पृष्ठ क्रमांक 43 से 47
19. शुक्ल, रामचन्द्र, संवत् 2007 वि., हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी पृष्ठ क्रमांक 38 से 49
20. द्विवेदी, हजारीप्रसाद एवं सिंह नामवर, संस्करण 2003, संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, साहित्य भवन प्रा.लि., इलाहाबाद, पृष्ठ क्रमांक 199 से 203
21. सिंह, कविराव मोहन, पृथ्वीराज रासो पर की गई शंकाओं का समाधान, जून, सन् 1951, शोध पत्रिका, उदयपुर, राजस्थान विद्यापीठ, साहित्य संस्थान, पृ. 230
22. बोरा, राजमल, पृथ्वीराज रासो प्रामाणिकता, अक्टूबर-दिसंबर 1972, शोध पत्रिका, उदयपुर राजस्थान विद्यापीठ, साहित्य संस्थान, पृ. 07 से 30

❖❖❖

खण्ड – 2 : रासो-काव्य-परम्परा

इकाई – 2 : 'पृथ्वीराज रासो' की साहित्यिकता, काव्य-रूप, छन्द-योजना, अलंकार-निरूपण, कथानक-रूढ़ियाँ

इकाई की रूपरेखा

2.2.00 उद्देश्य कथन
2.2.01 प्रस्तावना
2.2.02 'पृथ्वीराज रासो' के काव्यत्व का आधार : मार्मिक प्रसंगों का वर्णन
2.2.03 चरित्र-चित्रण
2.2.04 कथानक-रूढ़ियाँ
2.2.05 वस्तु-वर्णन कौशल
2.2.06 प्रकृति-चित्रण
2.2.07 'पृथ्वीराज रासो' का काव्य-रूप
2.2.08 रासो काव्य
2.2.09 चरित काव्य
2.2.10 छन्द-विधान
2.2.11 अलंकार योजना
2.2.12 रस उत्कर्ष
2.2.13 रासो की भाषा
2.2.14 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

2.2.00 उद्देश्य कथन

पिछली इकाई में 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता पर विचार किया जा चुका है। इस इकाई में 'पृथ्वीराज रासो' की साहित्यिकता, काव्य-रूप, छन्द-योजना, अलंकार-निरूपण, कथानक-रूढ़ियाँ आदि महत्त्वपूर्ण पक्षों का विश्लेषण किया जा रहा है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. 'पृथ्वीराज रासो' की साहित्यिकता का मूल्यांकन कर सकेंगे।
ii. 'पृथ्वीराज रासो' के काव्य-रूप की विवेचना कर सकेंगे।
iii. 'पृथ्वीराज रासो' की छन्द-योजना का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
iv. 'पृथ्वीराज रासो' में निरूपित अलंकारों से परिचित हो सकेंगे।
v. 'पृथ्वीराज रासो' में वर्णित कथानक-रूढ़ियों का अध्ययन कर सकेंगे।

2.2.01 प्रस्तावना

चन्दवरदाई हिन्दी के प्रथम महाकवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनका पृथ्वीराज रासो एक उच्चकोटि का प्रबन्धकाव्य है। रासो की प्रामाणिकता तथा अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से उसके मूल्यांकन की ओर आलोचकों का ध्यान पर्याप्त रूप से अभी तक नहीं गया है। 'पृथ्वीराज रासो' एक काव्य-ग्रन्थ है, इतिहास नहीं। उसकी रचना दिल्ली और अजमेर के पराक्रमी हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज के राजकवि चन्दवरदाई ने की है। चन्दवरदाई महाराज पृथ्वीराज के राजकवि ही नहीं, सामन्त, सखा और सलाहकार भी थे। महाराज के जीवन के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। अपने आश्रयदाता को एक असाधारण नायक के रूप में चित्रित करते हुए उसकी वीरता, उदारता एवं ऐश्वर्य के वर्णन में चन्दवरदाई ने निस्सन्देह अत्युक्ति और अतिशयोक्ति का सहारा लिया है। चारण-कवियों की परम्परा में अनेक कण्ठों से गुजरने के कारण 'पृथ्वीराज रासो' में प्रक्षिप्त अंशों का समावेश भी समय-समय पर होता रहा है फलतः 'पृथ्वीराज रासो' के वर्तमान परिवर्धित स्वरूप में चन्दवरदाई-निर्मित 'पृथ्वीराज रासो' का मूलरूप बहुत-कुछ लुप्त-सा हो गया है किन्तु काव्य की दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' का महत्त्व अक्षुण्ण है। 'पृथ्वीराज रासो' में वर्णित घटनाओं तथा प्रसंगों को इतिहास की कसौटी पर परखने में तो आलोचकों ने अपनी पूरी शक्ति लगा दी है पर उसकी साहित्यिक गरिमा पर प्रकाश डालने का प्रयत्न अभी तक बहुत कम हुआ है। यदि ऐतिहासिकता से सम्बद्ध वाद-विवाद को छोड़कर विशुद्ध काव्य की दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' का अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि 'पृथ्वीराज रासो' चरितकाव्य-शैली में लिखा गया एक महत्त्वपूर्ण वीर-काव्य है और उसमें कवि की सरस्वती पूर्णरूप से मुखरित हुई है।

इसकी रचना संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश से चली आती हुई चरितकाव्य-शैली में की गई है। इसके चरितनायक महाराज पृथ्वीराज हैं। ग्रन्थारम्भ में कवि ने मंगलाचरण, पूर्ववर्ती कवियों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन, आत्मविनय, खलनिन्दा, सज्जन-प्रशंसा, काव्य-रचना का उद्देश्य आदि को स्थान दिया है और तदनन्तर अपने चरित-नायक की जीवन-गाथा का वर्णन किया है। 'पृथ्वीराज रासो' में आबू के यज्ञ-कुण्ड से चार क्षत्रिय कुलों की उत्पत्ति एवं चौहानों की अजमेर में राज्य-स्थापना से लेकर शहाब-उद-दीन मुहम्मद ग़ोरी द्वारा पृथ्वीराज का पकड़ा जाना, चन्दवरदाई के संकेत से पृथ्वीराज के शब्दबेधी बाण द्वारा मुहम्मद ग़ोरी की मृत्यु और अन्त में पृथ्वीराज की आत्महत्या तक की कथा विस्तार के साथ वर्णित है। पृथ्वीराज के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त घटनाओं पर इस काव्य में विशेष प्रकाश डाला गया है। शहाब-उद-दीन मुहम्मद ग़ोरी तथा अन्य अनेक राजाओं के साथ पृथ्वीराज के युद्ध और अनेक राजकन्याओं के साथ उनके विवाह की कथाएँ रासो में भरी पड़ी हैं।

2.2.02 'पृथ्वीराज रासो' के काव्यत्व का आधार : मार्मिक प्रसंगों का वर्णन

एक उत्कृष्ट प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से पृथ्वीराज रासो एक सफल रचना सिद्ध होती है। उसका काव्य-सौन्दर्य मुख्यतया मार्मिक प्रसंगों की सृष्टि, सशक्त भाव-व्यंजना तथा रस-परिपाक, अद्भुत वर्णन-कौशल, भावोद्रेक में समर्थ अलंकार-योजना और शैलीगत गम्भीरता एवं मनोरमता पर अवलम्बित है। 'पृथ्वीराज रासो' में

कथानक के स्वाभाविक विकास की ओर कवि का ध्यान बहुत कम गया है । मुख्य कथा के साथ प्रासंगिक घटनाओं की कलात्मक अन्विति 'पृथ्वीराज रासो' में नहीं पाई जाती । कथानक में वेगयुक्त प्रवाह का अभाव है, वह मंथर गति से विविध वर्णनों के बीच धीरे-धीरे आगे बढ़ता है । वास्तव में चन्दवरदाई उन कवियों में से हैं जो कथानक की उपेक्षा कर सकते हैं पर विशेष प्रसंगों के मनोरम वर्णन द्वारा पाठकों को रसविभोर एवं मुग्ध करने का मोह नहीं छोड़ सकते । इतना होते हुए भी चन्दवरदाई ने कथानक के मार्मिक प्रसंगों को पहचानने की चेष्टा अवश्य की है और ऐसे प्रसंगों के चित्रण में उनकी उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है । पृथ्वीराज की बाल्य-क्रीड़ा, शशिव्रता और पृथ्वीराज का प्रथम साक्षात्कार, संयोगिता-हरण, वियोग-वर्णन, गजनी के कारागृह में पृथ्वीराज का पश्चात्ताप और अन्त में चन्दवरदाई से उनकी भेंट आदि प्रसंग 'पृथ्वीराज रासो' में अत्यन्त हृदयस्पर्शी बन पड़े हैं ।

डॉ॰ नामवर सिंह के अनुसार घटनाओं की नवीनता के अभाव में प्राचीन चरितकाव्यों के कथा-बंध का सौन्दर्य केवल दो बातों में देखा जाता है – या तो उसमें मार्मिक प्रसंगों की सृष्टि की गई हो अथवा कम-से-कम कवि ने कथा-प्रवाह में उसकी संभावना को पहचाना हो। ऐसे प्रसंगों के वर्णन में ही कवि-दृष्टि तथा कवित्व-शक्ति का पता चलता है । इस दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' मार्मिक प्रसंग उल्लेखनीय हैं –

सर्वप्रथम रासोकार ने माँ की कोख में पृथ्वीराज के गर्भाधान का प्रभाव परखा है और उसे इन शब्दों में काव्यात्मक रूप दिया है –

कितिक दिवस अन्तरह रहिय आधान रानि उर ।
दिन दिन कला बढ़ंत मेघ ज्यों बढ़त भद्द धुर ।
चन्द्रकला सित पष्ष जेम बाढंत दिनं दिन।
मुगधा जीवन चढ़त मिलत भरतार षिनं षिनं।
उद्दित अधान सुभ गातनह, जेम जलधि पुन्निम बढ़हि ।
हुलसन्त हीय जे प्रीय त्रिय जिम सु जोति जनिता चढ़हि ॥

गर्भस्थ शिशु की निरन्तर बढ़ती हुई कला तथा माँ के रूप पर पड़ने वाले उसके अन्तःप्रभाव का चित्रण यहाँ देखने योग्य है ।

पर्यवेक्षण का दूसरा स्थल है शिशु-क्रीड़ा । बाल क्रीड़ा के कुछ चित्र अत्यन्त मनोहारी बन पड़े हैं –

नह तलप इक्क थह षिन रहत, हुलसि-हुलसि उठि-उठि गिरत ।

शय्या छोड़कर कालीन पर लोटने की बाल-प्रकृति तथा इस उल्लास में बार-बार उठने का असफल प्रयत्न करना अत्यन्त स्वाभाविक है और सम्भवतः बाल लीला के सिद्धहस्त कवि सूर के यहाँ भी इसका चित्रण नहीं हुआ है।

युवक पृथ्वीराज के जीवन के मधुर प्रसंगों में उसके विभिन्न विवाह-वृत्तान्तों के वर्णन का स्थान अन्यतम है । अनेक विवाह-वृत्तान्तों के बीच कवि का मन तीन विवाहों में विशेष रमा है । ये तीन विवाह हैं – इच्छिनी, शशिव्रता तथा संयोगिता-विवाह । इन विवाहों के वर्णन में कवि की सबसे बड़ी विशेषता है, 'पुनरावृत्ति को बचा जाना' । प्रायः एक प्रकार की घटनाओं के वर्णन में पुनरावृत्तियों की आशंका बनी रहती है किन्तु ऐसे ही स्थलों पर विशिष्ट कवि की पहचान होती है । ध्यातव्य है कि चन्दवरदाई ने इन प्रसंगों में अपनी विशिष्टता प्रमाणित कर दी है । तीनों विवाह तीन प्रकार से सम्पन्न होते हैं । इच्छिनी-विवाह हिन्दू-विवाह प्रणाली का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें ब्राह्मण द्वारा लग्न भेजने से लेकर बारात का सजना, अगवानी, तोरण-कलश-द्वारचार विधान, जनवासा, मण्डप-निर्माण, कन्यादान, गठबन्धन, भाँवरी, गणेश, नवग्रह, कुलदेवता पूजन, गारी, शाखोच्चार, ज्योनार, दान-दहेज, विदाई आदि का सुन्दर वर्णन है। शशिव्रता-विवाह में ये बातें दुहराई नहीं गई हैं। इसमें कवि काव्यों में वर्णित पूर्वानुराग की प्रसंगोद्भावना करके हंस और गन्धर्व द्वारा दोनों पक्षों को पहले से ही परस्पर अनुरक्त बनाता है । इसके पश्चात् पृथ्वीराज शशिव्रता का हरण करता है । संयोगिता-विवाह में उक्त दोनों ही वर्णनों का दुहराव नहीं होता । यहाँ पूर्वानुराग केवल एक ओर से आरम्भ होता है । वस्तुतः संयोगिता पृथ्वीराज का स्वयंवर करती है और समय पाते ही पृथ्वीराज उसकी सखियों की उपस्थिति में उससे गन्धर्व विवाह कर लेता है । हरण तो यहाँ भी होता है किन्तु विषम परिस्थिति के कारण वरण का रूप यहाँ कुछ भिन्न है।

अब इनमें से एक-एक विवाह का सौन्दर्य अंकन देखा जाना अभिप्रेत है । नारी की वयःसन्धि की शोभा कवियों के लिए सदैव आकर्षण की वस्तु रही है। 'पृथ्वीराज रासो' में इसके लिए नाना उपमाओं का जमघट लगाया गया है। 'रासो' में इच्छिनी और शशिव्रता की वयःसन्धि का वर्णन अतुलनीय है।

इच्छिनी की वयःसन्धि का वर्णन –

बाले तन्वय मुग्ध मध्यत इमं स्वपनाय वै संधयं।
मुग्धे मध्यम स्यांम वामति इमं मध्यान्ह छाया पगं॥
बालप्पन तन मध्य जीवन इमं सरसी अवग्गी जलं।
अंगं मद्धि सुनीर जे मल ससी सुम्भै सुसैसव इमं॥

शशिव्रता की वयःसन्धि का वर्णन –

राका अरु सूरज्ज बिच, उदै अस्त दुँहुँ बेर।
बर शशिवृत्ता सोभई, मनौ शृंगार सुमेर ॥

वस्तुतः शशिव्रता का रूप और शील इच्छिनी से कहीं अधिक आकर्षक था इसीलिए कवि ने शशिव्रता के रूप-वर्णन में अधिक ध्यान दिया है । उपर्युक्त उदात्त वर्णन से संतुष्ट न होकर चन्दवरदाई ने शशिव्रता के यौवनागम को वसन्त से उपमित किया –

पत्त पुरातन झरिग पत्त अंकुरिय उट्ठ तुछ।
ज्यौं सैसव उत्तरिय चढ़िय बैसब किसोर कुछ॥
शीतल मन्द सुगन्ध आइ रितिराग अचानं।
रोसराइ संग कुच नितंब तुच्छ सरसानं॥
बढढै न सीत कटि छीन ह्वै लज्ज मान ढंकति फिरै।
ढंकै न पत्त ढंकै कहै बन बसन्त मंत जु करै॥

प्रायः कवियों ने युवती नायिका के रूप को विभिन्न स्थितियों तथा वातावरण की मनोरम पटभूमि में रखकर नए-नए चित्र उकेरे हैं। सद्य:स्नाता का चित्र भी इन्हीं में से एक है। 'रासो' में सद्य:स्नाता इच्छिनी की यह उपमा रूढ़ियों से अलग एक नई सूझ प्रकट करती है –

करि मंजन अंगाछि तन, धूप वासि बहु रंग।
मनो देह जनु नेह फुलि, हेम भोज जन गंग॥

इसी प्रकार सौन्दर्यदृष्टा कवि ने प्रिय के सम्मुख जाने से पूर्व डरती हुई नववधू इच्छिनी के बाह्य रूप-वर्णन से सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक रेखाओं को उभारकर चित्र में नई ओप ला दी है –

हलहलै लता कछु मंद वाया। नव बधू केलि भय कंप पाय।
उपमां उर कव्वि कहीय तांम। जुब्बन तरंग अंग्गि-अंगि काम।

नारी-सौन्दर्य की चरम परिणति है उसकी सौभाग्य-तिलकित दशा। सौभाग्यवती इच्छिनी के नख-शिख का परिपाटी-विहीन लम्बा वर्णन करने के बाद अन्त में कवि उसकी मंगलमूर्ति का परिचय देताहै –

जरकस घुघर घमंड जानु रवि किन्न कदलि ग्राह
कुसम्भ लरे नीसार, रंग छवि छंडि हंड हर
पीत कञ्चुकी संचि षंडि कस अंग उपट्टिय
कंकन कर वर बरत गन्ध हरदीय उपट्टिय
आलोल नैन गति बचन बहु, सषिन सोभ मंडिय मनह।
फुल्ली सु साँझ कवि चंद कहि, मनहु बीजु थरकी घनह॥

शशिव्रता-विवाह में पूर्वराग के लिए रूप-गुण वर्णन को विस्तार देने के बाद कवि ने जिस प्रियदर्शन प्रसंग पर ध्यान केन्द्रित किया है, वह है शशिव्रता और पृथ्वीराज का प्रथम साक्षात्कार। इच्छिनी-विवाह में इस प्रसंग की सृष्टि उतनी मनोरम नहीं हो सकती थी क्योंकि वहाँ पूर्वराग का अस्तित्व ही नदारद था। बहुत दिनों से जिसका गुण-श्रवण करते-करते मानस-प्रतिमा निर्मित होती रहती है उसके प्रथम साक्षात्कार के समय की मानसिक स्थिति कितनी रूमानी हो सकती है इसे चन्दवरदाई के शब्दों में देखिए –

यों करतं दुत्तिय बियौ, कथा श्रवन सुनि मंत।
जाकौ ते पतिवृत्त लिय, सो आयौ अलि कंत॥
श्रवन नयन को मेल कै, भय चंचल चल चित।
श्रोतानं दिष्टान अरु, मिलि पुच्छैं दोई मित्त॥
कनं प्रयंत कटांछ सुरंग विराजही
कछु पुच्छन को जाहि पै पुच्छत लाजहीं॥
नैन सैन में बात जु स्रवनन सों कहै।
काम किधों प्रथिराज मेदि करि ना लहै॥

प्रायः दीर्घ दृगों के लिए कवियों ने "काननचारी नयन मृग नागर नरनु सिकार" जैसा चमत्कार दिखाया है परन्तु कान तक खिंचे नयनों को देखकर कल्पना की उड़ान उनके मधुर वार्तालाप में नहीं बल्कि "कछु पुच्छन को जाहि पै पुच्छन लाजहीं" में है क्योंकि श्रवण-नयन की बातचीत वास्तविक नहीं है। इस उत्प्रेक्षा का सौन्दर्य इसकी प्रसंगोद्भावना में है। बात यह है कि अब तक श्रवणों ने ही प्रिय का रूप-गुण सुन रखा था, नयनों को तो आज पहले-पहल देखने का अवसर मिला है इसलिए नयनों का श्रवणों के पास पूछने के लिए जाना स्वाभाविक ही है कि क्या जिनके विषय में सुन रखा था ! वे यही हैं ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि जो मैं देख रहा हूँ वह सुने हुए रूप-गुण से कहीं अधिक है ! ये तमाम बातें तथा इससे भी अधिक "पुच्छत लाजहीं" द्वारा संकेतित है। तुलसीदास ने तो इतना ही कहा कि "गिरा अनयन नयन बिनु बानी" लेकिन चन्दवरदाई ने इस तथ्यपरक कथन में अपनी सूझ से मधुर विशेषता ला दी है।

इस प्रथम दर्शन से भी अधिक मार्मिक है, 'प्रथम स्पर्श'। पृथ्वीराज जन-समूह के बीच से सहसा शशिव्रता को हाथ से पकड़कर अपनी ओर खींचता है और तुरन्त चन्दवरदाई की फड़कती हुई उपमा निकलती है "मानों किक लता कंचल लहरि मत्तबीर गजराज गहि।" पूरी पदावली जैसे स्नेह-उमंगित बाहु की तरह लहरा उठी है। इस पर लज्जाशीला शशिव्रता की भावशबलता देखने योग्य है –

गहत बाल पिय पानि सु गुरुजन सम्भरे।
लोचन मोचि सुरंग सु असुं बहे ढरे॥
अपमंगल यि जानि सु नैनन मुष बही॥
मनो षंजन मुष मुत्ति मरक्कत नंषही॥

इसके बाद कवि की उत्प्रेक्षा-शक्ति फिर से मुखर हो उठती है –

कोमलता कल्हरी प्रेम मारूत झकझोरी।

इसके बाद ही भीषण युद्ध की पटभूमि आती है और उसी के बीच पृथ्वीराज तथा शशिव्रता की प्रथम मधुयामिनि व्यतीत होती है –

कुमुद उघरि मंदिय सु बंधि सत पत्र प्रकारय।
चकिय चक्क विच्छुरहि, चक्कि ससिवृत्त निहारय ॥
जुवती जन चढ़ि काम, जाँहि कोतर तर पंषी।
अवृत्त वृत्त सुंदरिय, काम बढ्ढिय बर अंषी॥
नव नित्त हंस हंसिह मिलै, विमल चंद उग्यौ सु नभ।
सामन्त सूर त्रप रष्षि कै, करहि बीर विश्राम सभ ॥

इसके बाद भी कवि चन्दवरदाई ने वर्णन-कौशल दिखाने का अवसर निकाल लिया है। उस युग की सबसे समृद्ध नगरी कान्यकुब्ज की शोभा का वर्णन न करना कवि की अरसिकता ही होती इसलिए रसिक कवि ने कान्यकुब्ज के प्रथम दर्शन-जनित प्रभाव में नाम परिगणन ही नहीं बल्कि दृश्य-चयन और उपमा-उत्प्रेक्षा मण्डन का खूब परिचय दिया है। गंगा के तट पर बसे हुए विशाल भवन वाले नगर के नागरिकों के क्रियाकलापों को भी कवि ने सजीव शब्दों में चित्रित किया है।

तदनन्तर कान्यकुब्जेश्वर के दरबार में चन्दवरदाई के उपस्थित होने का प्रसंग आता है। राजाओं के यहाँ मानसिक थकान मिटाने अथवा मनोरंजन के निमित्त कुछ नोक-झोंक अक्सर होती ही रहती थी। कन्नौज पहुँचने पर राजा जयचन्द के दरबार में घटित हुए एक ऐसे ही प्रसंग का रोचक वर्णन चन्दवरदाई ने किया है। राजा जयचन्द चन्दवरदाई के बलिद्द नाम अथवा बलिद्द विरुद को ही लेकर मजाक करते हैं –

मुह दरिद्र अरु तुच्छ तन चरन, जंगल राव सु हद्द।
बन उजार पसु तन चरन, क्यों दूबरो बरद्द ॥

इस पर चन्दवरदाई बिना चूके धाराप्रवाह पाँच छप्पयों में खरी स्पष्टोक्ति द्वारा राजा को निरुत्तर कर देता है। एक बानगी देखिए –

हंस न्याय दुब्बरौ मुत्ति लम्भै न चुनंतह।
सिंघ न्याय दुब्बरौ करी चंपे न कण्ठ कह॥
म्रग्ग न्याय दुब्बरौ नाद बंधियै सु बन्धन।
चैल छक्क दुब्बरौ त्रिया दुब्बरी मीत मन ॥
आसाढ़ गाढ़ बन्धन धुरा, एकहि गहि हहरद्दिया।
जंगर जुरारि उज्जर षर न, यौ दुब्बरौ बरद्दिया ॥

इसके बाद संयोगिता और पृथ्वीराज के साक्षात्कार, गन्धर्व विवाह तथा संयोगिता-हरण प्रकरण में कवि की वाणी पूर्णरूप से मुखरित हुई है। शशिव्रता की तरह संयोगिता का साक्षात्कार मन्दिर में नहीं बल्कि गंगा के किनारे होता है जब पृथ्वीराज अनमने भाव से मछलियों को मोती चुगा रहा था। संयोगिता ने उसे पहले देखा और उसे थोड़ा सन्देह हुआ। उसने तुरन्त चित्रशाला में रखे हुए चित्र से उसका मिलान किया और फिर लौट आई।

पृथ्वीराज की भी आँखें उठीं। सहसा उसने उस रूप में जानु, कटि, कुच, कुचकोर, मुख, नासिका, दृग, भौंह, वेणी आदि न देखकर आश्चर्यचकित हो क्या देखा कि –

कुंजर उप्पर सिंघ सिंघ उप्पर दो पव्वय।
पव्वय उप्पर भृंग भृंग उप्पर ससि सुभ्भय॥
ससि उप्पर सि कीर कीर उप्पर मृग दिट्ठौ।
मृग उप्पर कोवंड संघ कन्द्रप्प वयट्ठौ॥
अहि मयूर महि उप्परह हीर सरन हेमन जर्यो।
सुर भुवन छंडि कविचंद कहि तिहि धोषै राजन पर्यो॥

शिकारी राजा आखिर यह सब न देखता तो क्या देखता !

प्रथम दर्शन में ही दोनों अपनी सुध-बुध खो बैठते हैं। समझ में नहीं आता कि बात क्या करें ! संयोगिता सोचती है –

जो जंपौ तौ चित्त हर अनजंपै विहरंत।
अहि उट्ठे छच्छुन्दरी हियै विलग्गी वंति॥

दूसरा प्रसंग वह है जब पृथ्वीराज संयोगिता को घोड़े पर चढ़ाने हेतु आग्रह करता है और वह लजा उठती है। आगे चलकर घोर संग्राम में लड़ते हुए अश्वारोही दम्पति की शोभा मन को रोमांचित कर देती है। दाम्पत्य प्रणय का प्रस्फुटन कर्मक्षेत्र में ही होता है जहाँ युगल हृदय एक-दूसरे को सहयोग देते हुए परस्पर श्रमसिक्त मुख देखते चलते हैं। होता यह है कि कोई योद्धा पृथ्वीराज के गले में कमान डालकर खींच लेना चाहता है कि –

गुन कट्टिय रमनिय सुवर, दसनह पंग कुंआरि।
असि बर झर प्रथिराज हनि, सूर हत्थ तरवारि॥

इसके बाद -

देख संयोगिय पिय सुबल, श्रम जल बूँद बदन्न।
रतिपति अहित पवित्र मुष जालि प्रजालि भरन्न॥

इन सुखमय प्रसंगों के बाद रासो मेंदुःखमय स्थल आते हैं। इतने सुख और विलास के बाद करुण प्रसंगों का आगमन उनको और भी अधिक मार्मिक बना देता है। पृथ्वीराज मुहम्मद ग़ोरी से लोहा लेने के लिए प्रस्थान करता है। यों तो मुहम्मद ग़ोरी से पहले भी उसकी कई बार मुठभेड़ हो चुकी है परन्तु इस बार ऐसा प्रतीत हुआ जैसे अब फिर मिलना न होगा। अभी किसी रानी के सामने पृथ्वीराज के दीर्घ वियोग का अवसर आया ही न था। यह वियोग वर्णन का पहला अवसर है और यहाँ रासोकार की सहृदयता देखने योग्य है –

वही रत्ति पावस्य वही मघवान धनुष।
वही चपल चमकत्त वही बगपंत निरष॥
वही घटा घन घोर वही पप्पीह मोर सुर।
वही जमीं असमान, वही रवि ससि निसि वासुर॥
बेई आवास जुग्गनि पुरह, वेई सहचरि मंडलिया।
संयोगि षयंपति कंत बिन, मुहि न कछू लागत रलिय॥

भावों के आवेग में सभी अलंकार बह जाते है और भाषा ही भावों का साक्षात् रूप धारण कर लेती है। इन पंक्तियों को देखकर सहसा विश्वास नहीं होता कि इनका रचयिता पूर्व प्रसंगों में उपमा-उत्प्रेक्षा आदि की राशि उड़ेलने वाला कवि चन्दवरदाई ही है । इसी प्रकार पृथ्वीराज के बन्दी बनाये जाने का समाचार मिलने पर सहगामिनी संयोगिता का आर्त क्रन्दन तथा वैधव्य का रूप हृदयविदारक है।

उधर गजनी के कैदखाने में पड़े हुए अन्धे महाराज पृथ्वीराज का पश्चात्ताप और भी अधिक कारुणिक है । राजा अपने इस पतन के कारणों का मन-ही-मन विश्लेषण करता है और पाता है कि यह सब उसके कुकृत्यों और अत्याचारों का परिणाम है। उसकी आँखों के सामने एक-एक कर सभी अत्याचार साकार हो उठते हैं। फिर उसे अपने अतीत के वैभव तथा सुखोपभोग का स्मरण हो आता है। अभाव की पटभूमि में वे सुखमय दिन बड़े मोहक प्रतीत होते हैं फिर उस मोहक पटभूमि के विरोध में कैद की दारुण दशा और भी अधिक मार्मिक हो उठती है । रासोकार ने महाराज के इस मानसिक द्वन्द्व का अत्यन्त सफल अंकन किया है। राजा सोचता है –

सहौ फूल की फूलनी नाहिं नाथं। तुरत्तं तराऔ जु मालीन हाथं॥
नहीं सर सामन्त परिवार देसं। नहीं गज्ज बाजं भडारं दिलेसं॥
नहीं पंगजा प्रान ते अत्ति प्यारी। नहीं गोष महिला इतं चित्रसारी॥
नहीं मृगनयनी चरन्नं तलासै। नहीं कूक कोका सबद्दं उलासै॥
नहीं पातुरं चातुरं नृत्यकारी। नहीं ताल संगीत आलापचारी॥

और अन्त में –

नहीं चोम मौजं करूँ लष दानं। नहीं भट्ट चंदं विरद्दं बषानं॥

उस समय तो नहीं लेकिन कुछ दिनों बाद चन्दवरदाई अवश्य उसके पास आ पहुँचता है और फिर एक बार विरुदावली सुनाता है लेकिन इस बार की विरुदावली कुछ और है। वह अन्धे तथा हताश योद्धा के हृदय में नयी आशा का संचार करती है, वह मुक्ति का सन्देश देती है, जो कार्य-विशेष के लिए तैयार करती है। किन्तु वह प्रसंग कितना मार्मिक है ! जब अन्धा नरेश अपने प्रिय सहचर चन्दवरदाई का स्वर सुनता है । पहले वह पहचान नहीं पाता । फिर थोड़ी देर बाद स्वर के सहारे पहचान लेता है। उल्लास होता है, लेकिन फिर न जाने कितने भाव मन में उठते हैं। शायद यह कि आज इस विरुद के उपलक्ष्य में पहले की तरह पुरस्कार देने के लिए मेरे पास कुछ नहीं हैं, शायद यह कि आज यह विरुद व्यंग की तरह चुभता है, शायद यह कि अपना यह विपन्न रूप चन्दवरदाई

को दिखाने के लिए मैं क्यों जीवित हूँ, शायद यह कि डूबते को तिनके का सहारा मिला और बहुत दिनों के बाद परेदश में स्वजन का स्वर सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। पृथ्वीराज कुछ नहीं बोलता केवल –

नेह नीर रुकि कण्ठ कवि, नैन झलझ्झल पानि।
बिन बोलत बोल्यो नृपति, चंद चिंति बर बानि॥

ऐसे शोकपर्यवसायी महाकाव्य का अन्त भी भारतीय कवि ने सुखान्त से उद्‌भासित कर दिया क्योंकि धरणी का म्लेच्छ से उद्धार होना राजशोक से अधिक आनन्दप्रद है –

मरन चंदबरदाइ, राज पुनि सुनिग साहि हनि।
पुहपंजलि असमान, सीस छोड़ी सुदेव तनि॥
मेछ अवद्धित धरनि, धरनि, सब तीय सोह सिग।
तिनहि तिनहि संजोति, जोति जोतिह संपातिग॥
रासो अलंभ नव रस सरस, चंदद छन्द किय अमिय सम।
शृंगार बीर करुना विभछ, भय अद्‌भुत हसन्त सम॥

ऐसे काव्य में यदि यदा-कदा ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लंघन हो गया है तो वह महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि इसमें तथ्यों से भी बड़े मानवीय सत्यों की अवहेलना नहीं की गई है बल्कि सच तो यह है कि कवि ने मानवीय सत्य की रक्षा के लिए ही सुविधानुसार ऐतिहासिक तथ्यों से इधर-उधर हटकर अपनी कल्पना-शक्ति का जौहर दिखाया है।

2.2.03 चरित्र-चित्रण

मध्यकालीन प्रबन्धकाव्यों के पात्र प्रायः एक निर्दिष्ट साँचे में ढले होते हैं। वे अच्छे हैं तो अच्छे, बुरे हैं तो बुरे। इस स्थिति में रासोकार का चरित्र-चित्रण सुखद आश्चर्य का विषय है। पृथ्वीराज किसी निर्दिष्ट साँचे में ढला पात्र नहीं, वह अच्छाइयों एवं कमजोरियों का एक समेकित पुंज है। आज की भाषा में कहें तो पृथ्वीराज बहुत हद तक एक यथार्थवादी पात्र है। निस्सन्देह उसके चरित्र-निर्माण पर मध्यकालीन प्रबन्धकाव्यों के आदर्शवाद की भी छाप है। पृथ्वीराज क्षत्रिय, सामन्त, वीर, रसिक, विलासी, दृढ़ प्रतिज्ञ, शरणागत-वत्सल और चन्दवरदाई का अभिन्न मित्र है। उसे अपने गुणों एवं दुर्गुणों का फल इसी जीवन में मिल जाता है।

'रासो' में वर्णित घटनाओं की ऐतिहासिकता के विषय में चाहे कितना मतभेद हो, घटनाओं के उपस्थापन का शिल्प यथार्थ-परक है। उसका कारण यह है कि उसमें पृथ्वीराज के मन का द्वन्द्व छिपाया नहीं गया है प्रत्युत उसे प्रकट कर दिया गया है। रासो के आदि पर्व में एक ऐसी घटना का वर्णन है जो पृथ्वीराजकालीन सामन्ती मूल्यों का मनोरंजक दस्तावेज़ मालूम पड़ता है। पराक्रमी कन्ह पृथ्वीराज के चाचा थे। चालुक्यवंशी सात भाई पृथ्वीराज के दरबार में बैठते थे। पृथ्वीराज की उन पर कृपादृष्टि थी। एक दिन भरे दरबार में उनमें से एक भाई प्रतापसी ने मूँछों पर हाथ फेर दिया – 'परताप सि मुच्छन पान' यानी मूँछों पर ताव दे अपनी मूँछें एँठ लीं। उनका

ऐसा करना था कि कन्ह चाचा ने उसे मौत का घाट उतार दिया । न केवल उसे बल्कि उसके भाइयों को भी । पृथ्वीराज धर्म-संकट में पड़ गए। जिनको अभयदान दिया था, उन्हीं का वध कर दिया गया। यह कृत्य किसी अन्य ने किया होता तो पृथ्वीराज उसे प्राणदण्ड दे देते। लेकिन कन्ह चाचा का क्या किया जाए ! अन्ततोगत्वा विधान हुआ कि कन्ह चाचा की आँखों पर रत्न स्वर्णादि की पट्टी बाँध दी गई। आदेश हुआ कि आँखों से पट्टी केवल दो अवसरों पर उतारी जाए, एक युद्ध क्षेत्र में और दूसरे शय्या पर –

सो पट्टी निसि दिन रहै छोरि देइ द्वै ठाय।
कै सिज्जा बामा रमत के छुट्ट संग्राम॥

कवि ने पृथ्वीराज के चरित्र का जो चित्रण किया है वह उतना आदर्श-कल्पित नहीं है जितना कि यथार्थ परक। पृथ्वीराज की वीरता का चित्रण युद्ध के प्रायः प्रत्येक प्रसंग में हुआ है। पृथ्वीराज की वीरता सामन्ती नैतिकता से परिपुष्ट है । संयोगिता विवाह के अवसर पर कनवज्ज-युद्ध में विश्वस्त सेनापतियों ने पृथ्वीराज को संयोगिता सहित दिल्ली पहुँच जाने की राय दी। पृथ्वीराज जैसा शूरवीर इसे सहन नहीं कर सका। उसने अपने सेनापतियों को उत्तर दिया कि "तुम मुझे मरने का भय दिखा रहे हो। तुम्हारी बुद्धि नष्ट हो गई। तुम जो मुझे मृत्यु का भय दिखा रहे हो क्या वह मृत्यु यम की चिट्ठी के बिना सम्भव है। तुमने भीम को हराया, इसी का तुम्हें गर्व हो गया है। मैंने शहाब-उद-दीन मुहम्मद ग़ोरी जैसे बलिष्ठ शत्रु को हराया है। हिन्दू और तुरक दोनों मेरे शरणागत हैं। उसे तुम शरणागत करना चाहते हो। तुम शूरसामन्त बूझ नहीं रहे हो। मेरे ऊपर इतना बड़ा बोझ मत रखो।"

पृथ्वीराज की इस उक्ति में उसकी अकूत निर्भयता, दर्प, पराक्रम, औदात्य, शूर-सामन्तों से आत्मीय भाव आदि प्रकट होता है। "हिन्दू-तुरक दोनों को मेरी शरण है" कथन से शासक-योद्धा के रूप में हिन्दू-तुरक दोनों पर उसका समान भाव भी व्यंजित हो रहा है। ऐसा कथन पृथ्वीराज चौहान के वीरत्व की प्रतिष्ठा करता है।

शूर-सामन्त होने के साथ पृथ्वीराज विलासी भी है। राजकुमारियों के सौन्दर्य का वर्णन सुनकर वह पूर्ण राग से विह्वल हो उठता है। वस्तुतः उसकी विलासिता ही उसकी पराभव का कारण रहा। चन्दवरदाई ने पृथ्वीराज के दोषों को छिपाया नहीं है। संयोगिता के साथ केलि-विलास के वर्णन में कवि ने स्पष्ट शब्दों में लिखा कि संयोगिता की प्रौढ़ रति में निमग्न वह जान ही नहीं पाता था कि कब रात हुई और कब दिन हुआ। उसकी इसी राग-अनुरक्ति के कारण गुरु, बन्धुओं, भृत्यों आदि की गति (राय) उसके विपरीत हो गई –

अह निसि सुध्धि न जानहि माननि प्रौढ़ रति।
गुरु बन्धन, भृत, लोइ भई विपरीत गति॥

पृथ्वीराज के चरित्र को वर्णित करने वाले कवि चन्दवरदाई का स्वयं का चरित्र सरस्वती के वरद-पुत्र और एक निर्भीक् वीर के रूप में वर्णित है। चन्दवरदाई पृथ्वीराज का सच्चा मित्र एवं शुभचिन्तक है। दोनों मित्रों की मैत्री-परीक्षा का सबसे मार्मिक अवसर कैमास-वध में उपस्थित होता है। ध्यातव्य है कि कैमास-वध 'पृथ्वीराज रासो' का सर्वाधिक प्रामाणिक अंश है। इसी प्रसंग के छप्पय पुरातन प्रबन्ध-संग्रह में प्राप्त हुए हैं।

कैमास (संस्कृत नाम : कदम्बवास) पृथ्वीराज का प्रधान अमात्य और सर्वाधिक विश्वस्त मंत्री था। पृथ्वीराज के बचपन में उनकी माँ ने उसी की देख-रेख में राजकाज चलाया था। पृथ्वीराज संयोगिता के विरह में स्थिर नहीं था। वह आखेट करता हुआ वन में घूम रहा था। उस समय राज्य का शासन दायित्व उसने कैमास को सौंप दिया था –

तिहि तप आखेटक भभइ थिर न रहइ चहुवान।
वह प्रधान जुगुनि प्ररह धर रख्खइ परवान॥

इधर कैमास की बुद्धि धर्म-क्षीण हो गई। जो राजा की प्रतिमा (प्रतिनिधि) है उसका मन रमणियों में रम गया। उसके हाथ में तीर नहीं रहा। वह वासना में पड़कर शय्या गति को प्राप्त होने लगा –

राजं जा प्रतिभा सचीन धर्मा रामा रमे सा मतीन।
नितीरे कर काम वाम बसना संगेन स्ज्जिा गतिः॥

कैमास कर्णाटी नाम की दासी पर अनुरक्त था। एक रात्रि जब वह अपने महल में विहार कर रहा था। अपनी बड़ी रानी इछिनी से समाचार ज्ञात कर पृथ्वीराज ने रात में ही आकर कैमास की हत्या कर दी। प्रातः भरे दरबार में अनजान बनकर कैमास की अनुपस्थिति के विषय में पूछा। चन्दवरदाई ने उत्तर दिया – "मैं पाताल और आकाश के बीच का सब रहस्य बता सकता हूँ। किन्तु दाहिम (कैमास) दुर्लभ हो गया है, मुझसे कहा नहीं जाता। पृथ्वीराज ने चन्दवरदाई से कहा – "तुम क्या आकाश-पाताल की बातें कर रहे या तो यह तो बताओ कि कैमास कहाँ है अन्यथा 'मुझे हरसिद्धि (देवी) का वर प्राप्त है', ऐसा कहना छोड़ दो। हे निकम्मे कवि ! काव्य-रचना बंद कर दो –

महा भजुंग कहा उदै सुर निकमु कव्ब कवि षंड्ड
कै कैमास बताइ मोहि कइ हरसिद्धि बर छंडु॥

चन्दवरदाई ने सोचा पृथ्वीराज साँप के मुँह में अँगुली डाल रहा है अब मुझे सच बताना ही पड़ेगा। चन्दवरदाई को स्वप्न में सरस्वती ने आकर सब बता दिया था। चन्दवरदाई की काव्यधारा प्रस्फुटित हो उठी –

एकु बान पुहुमी नरेस कयमासह मुक्कउ
उर उप्परि षर हरि उबीर कषन्तर चुक्कउ
बीउ बान संधनि हनउ सोमेसुर नंदन
गाडउ करि निग्गहउ षनिव खोदउ सम्भरिर धनि
थर छंडि न जाइ अभाग रउ गारइ गहउ जु गुन षरउ।
इमे चपइ चंद बिरद्दआ सु कहो निमद्दि हि इह प्रलउ॥

चन्दवरदाई ने कैमास-वध का अन्तर्बाह्य विवरण देते हुए बताया कि "हे पृथ्वी नरेश ! तुमने पहला बाण कैमास को मारा। वह उसके वक्ष पर खरहराता हुआ काँख से चूक गया (निकल गया)। दूसरे बाण का सन्धान

करके तुमने उसे मार डाला । शाकम्भरी नरेश पृथ्वीराज ! तुमने खन खोद कर गड्ढे में उसे डाल दिया। अब उस अभागे से वह थल छोड़ा नहीं जा रहा । उसे गुणरूपी पाषाण ने दृढ़ता से पकड़ रखा है ।" चन्दवरदाई कहता है कि "यह प्रलय कहाँ निपटेगा । तुम्हारे इस अकार्य का क्या फल होगा ?"

मध्यकालीन सामन्त निरंकुश होता था । चन्दवरदाई के उक्त प्रत्युत्तर पर पृथ्वीराज के एक इशारे पर चन्दवरदाई को मृत्युदण्ड दिया जा सकता था । ऐसे में अनुमान किया जा सकता है कि चन्दवरदाई कितने निर्भीक् व्यक्ति थे । वे कवि की मर्यादा का निर्वाह कर सकते थे । चन्दवरदाई का उत्तर सुनकर सभा में खलबली मच गई । अपने कानों से चन्दवरदाई का बयान सुनकर सभासद अपने घर भाग गए। पृथ्वीराज को रात भर नींद नहीं आयी । चन्दवरदाई ने उस सभा की तत्कालीन अवस्था का जो वर्णन किया है वह मध्यकाल में दुर्लभ है । यथार्थपरकता और चन्दवरदाई की निर्भीकता दोनों का प्रमाण इस वर्णन में है – "राज-सभा में सम्भ्रम हुआ । उसे शान्त करने के लिए प्रधान दरबान ने प्रवेश किया । सभी सामन्तों के सिर पर मानों लाठी लगी । केवल चन्दवरदाई स्थिर रहा । वह विमुख नहीं हुआ। मुख नहीं मोड़ा, पैर नहीं सरकाया ।"

चन्दवरदाई की निर्भीकता एवं चारित्र्य-दृढ़ता का प्रमाण रासो में तब मिलता है जब कैमास की पत्नी को वचन देकर वे पृथ्वीराज से कैमास का शव उसे देने को कहते हैं । कैमास की पत्नी सती होना चाहती थी और कैमास का शव केवल पृथ्वीराज ही उसे दे सकते थे । चन्दवरदाई कुपित पृथ्वीराज के दरबार में पहुँचे और बोले – "पृथ्वीराज ! तुम्हारी कीर्ति के कमल को कैमास वध ने कवलित कर लिया है । तुम उसका शव दे दो ।" चन्दवरदाई का कथन उल्लेखनीय है – "रावण ने भी पराई स्त्री का हरण किया था । क्रुद्ध राम ने उसे बाण से मारा (किन्तु उसका शव नहीं छिपाया था) । इसी प्रकार सुग्रीव ने बाली के प्राण हर लिए। चन्द्रमा ने गुरुपत्नी से रमण किया किन्तु उसके शव को पृथ्वी में किसने गाड़ा । पाण्डु ने सूर्य को नहीं गाड़ा । (कुन्ती के साथ रमण करने के अपराध में) सहदेव से पूछ लो । गौतम ने इन्द्र को नहीं गाड़ा । हाँ ! शाप अवश्य दिया । इस दोष पर इतना रोष करना (अनुचित) है। सुनो साम्भरधनी ! (कैमास को) मत गाड़ो ।

रावन किनि गड्डियउ क्रोध रघुराय बान दिनि
बालि किनि गड्डियउ सुत सुग्रीव जीव लिय
चंद किनि गड्डियउ कीय गुरुदार सो किल्लउ
रवि न पंउ गड्डियउ पुच्छ सहदेव पहिल्लउ
गड्डियउ न इंदु गोतम रिषी बल सराप छंडिय जिनी॥
इह रोस दोस पृथिराज सुन मम गड्डिय सम्भर धनी ॥

अन्ततोगत्वा पृथ्वीराज ने कैमास का शव उसकी पत्नी को सौंप दिया । जिसके साथ वह सती हुई । इस मनमुटाव के बाद पृथ्वीराज और चन्दवरदाई गले मिले । इस मित्र-मिलन का जैसा मार्मिक चित्रण कवि ने किया है वह अनुपम है ।

चन्दवरदाई की विशेषता यह है कि वे पात्रों की दुविधा का मनोवैज्ञानिक चित्रण करना नहीं भूलते । चाहे वयःसन्धि नायिका की दुविधा हो, चाहे पृथ्वीराज के साथ दिल्ली जाने के लिए घोड़े पर बैठती संयोगिता की दुविधा का प्रसंग हो। माता-पिता का घर छोड़कर पृथ्वीराज से मिलने के लिए मन्दिर जाने की तैयारी करती हुई शशिव्रता के मन का द्वन्द्व द्रष्टव्य है। एक ओर देव (गुरुजन और माता-पिता) से विछोह का दुःख और दूसरी ओर हृदय में प्रेम-अंकुर का प्रस्फुटन। इस दुविधा से शशिव्रता ने अपने को यह कह कर सांत्वना दी कि काल बलवान् है –

दुक्र देवल को छंउनइ उर सिंचन अंकूर।
दीह काल बल बीच वदि लिय समान सपूर ॥

इसी प्रकार, कितना मनोवैज्ञानिक है कवि का यह चित्रण, जब पृथ्वीराज ने पहली बार शशिव्रता का हाथ अपने हाथ में लिया –

गहत बाल पिय पानि सु गुर जन सम्भरे
लोचन मोचि सुरंग सु अंसु बहे खरे
अपमंगह जिय जानि सु नैन मुख वहीं।
मनो खंजन मुख मुत्त मरक्कत नरंवही॥

जब प्रिय पृथ्वीराज ने बाला का हाथ पकड़ा तो उसने अपने गुरुजनों (माता-पिता, मायके के लोगों) का स्मरण किया। सुन्दर नेत्रों से आँसू बहने लगे। लेकिन उसने इसे अशुभ समझकर रोका। कुछ आँसू आँखों के कोनों में लगे रहे।

तुलसीदास ने जहाँ यह कहा है – "तुलनीय-लोचन जल रह लोचन कोना"। वहीं चन्दवरदाई ने इसे इस प्रकार उपमित किया है – "मानों खंजन मोती खा रहा हो कुछ उसके मुँह में लगे हैं, कुछ नीचे गिर रहे हैं।"

2.2.04 कथानक-रूढ़ियाँ

वस्तुतः इतिहास को आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया। ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम पर जो काव्य लिखे गए उनमें ऐतिहासिक तथ्य कल्पना को उकसा देने के साधन मान लिए गए हैं। 'पृथ्वीराज रासो' में मध्यकालीन प्रबन्धकाव्यों में प्रचलित अनेक कथानक-रूढ़ियों का उपयोग किया गया है। कथानक-रूढ़ियों से अभिप्राय ऐसे घटना-प्रसंगों से है जो कथानक को आगे बढ़ाने के लिए मध्यकालीन प्रबन्धकाव्यों में प्रायः प्रयुक्त किये जाते रहे हैं। ऐसे घटना-प्रसंग इन प्रबन्ध-रचनाओं में एक प्रकार से रूढ़ि की तरह प्रयुक्त होते हैं अतएव इन्हें कथानक-रूढ़ि कहा गया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में इन कथानक-रूढ़ियों पर सम्यक् विचार करते हुए रासो की ऐतिहासिकता के सन्दर्भ में विद्वानों की जिज्ञासाओं का तर्कयुक्त उत्तर दिया है। उनके अनुसार "ऐतिहासिक चरित का लेखक संभावनाओं पर अधिक बल देता है। संभावनाओं पर बल देने का परिणाम यह हुआ कि हमारे देश में साहित्य के कथानक को गति और घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे अभिप्राय

दीर्घकाल से व्यवहृत होते आए हैं, जो बहुत थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और जो आगे चलकर कथानक-रूढ़ि में बदल गए हैं। इस विषय में ऐतिहासिक कथाओं में विशेष भेद नहीं किया गया। केवल इसी बात का ध्यान रखा गया कि संभावना क्या है? चितौड़ के राजा से सिंहल देश की राजुकमारी का विवाह हुआ था या नहीं, इस ऐतिहासिक तथ्य से कुछ लेना-देना नहीं है, हुआ तो बहुत अच्छी बात, न हुआ हो तो होने की संभावना तो है ही। राजा से राजकुमारी का विवाह नहीं होगा तो किससे होगा ? शुक नामक पक्षी थोड़ा बहुत मानव-वाणी का अनुकरण कर लेता है, और भी तो कर सकता था। ऋषि के वरदान से वह शक्ति बढ़ सकती है ऋषि के शाप से पतित गन्धर्व यदि सुआ हो गया हो तो पुनर्जन्म के संस्कार उसको कला मर्मज्ञ बना सकते हैं। जब ये संभावनाएँ हैं तो क्यों न उसे सकल शास्त्र विचक्षण सिद्ध किया जाय।" द्विवेदीजी ने इस सन्दर्भ में कथानक-रूढ़ियों का उल्लेख किया है, जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं – कहानी कहने वाला सुग्गा, स्वप्न में प्रियदर्शन, चित्र-दर्शन, कीर्ति श्रवण से अनुराग, मुनि का शाप, रूप-परिवर्तन, परकाया-प्रवेश, आकाशवाणी, षड्ऋतुमासा-वर्णन, हंस-कपोत से सन्देश-कथन आदि।

रासो कथानक-रूढ़ियों से आक्रान्त चरितमूलक काव्य है। इसमें प्रेम-सम्बन्धी रूढ़ियों का मानों योजनापूर्वक समावेश किया गया। जो बात मूल लेखक से छूट गई है उसे कालान्तर में प्रक्षेप द्वारा पूरा कर दिया गया है। रासो में कहानी कहने वाला सुग्गा, गुण-श्रवण से अनुराग की उत्पति, रूप-परिवर्तन, षड्ऋतु-वर्णन आदि तो हैं ही इसके अतिरिक्त सेना-वर्णन, युद्ध-वर्णन, नखशिख-वर्णन, कन्याहरण, वयःसन्धि-वर्णन आदि कथानक-रूढ़ियों का भी उपयोग किया गया है। रासो में शुक-शुकी संवाद वाली कथानक-रूढ़ि को महत्त्वपूर्ण मानते हुए हजारीप्रसाद द्विवेदी का मानना है कि इसके द्वारा कथासूत्रों की योजना करके रासो के मूलरूप को पहचाना जा सकता है।

शुक-सारिका, तोता-मैना भारतीय साहित्य के बहुत पुराने साथी हैं। कथाओं में इनसे तीन काम लिए गए हैं – (i) कथा कहने वाले श्रोता के रूप में (ii) कथा की गति को अग्रसर करने वाले सन्देशवाहक प्रेमी के रूप में और (iii) कथा-रहस्यों को उजागर करने वाले निर्दोष भेदिये के रूप में। रासो की पूरी कहानी शुक-शुकी और तोता-मैना के संवाद रूप में कहलायी गई है। शुक-शुकी वार्तालाप के रूप में प्रथम विवाह इछिनी का है। परन्तु इसमें किसी कथानक-रूढ़ि का आश्रय न लेते हुए कवि ने सहज रीति से विवाह के विविध प्रसंगों का वर्णन किया है। दूसरा विवाह शशिव्रता का और तीसरा संयोगिता का है और इन दोनों विवाहों के वर्णन में कवि ने जमकर कथानक-रूढ़ियों का उपयोग किया है।

राजा का नट से यादवराज कन्या शशिव्रता के रूप की प्रशंसा सुनना और आसक्त होना और यह जानना कि उज्जैन के कामध्वज राजा को सगाई भेजी गई है पर कन्या उसे नहीं चाहती, कन्या-प्राप्ति के लिए शिव-पूजन और शिवजी का स्वप्न में आकर मनोरथ सिद्धि के लिए वरदान देना। ये पुरुष राग की सुपरिचित भारतीय कथानक-रूढ़ियाँ हैं जिन्हें कवि ने बड़ी निपुणता के साथ प्रस्तुत किया है। इसी विवाह के प्रसंग में हंस की भी कल्पना की गई है। शशिव्रता की सगाई जयचन्द के भतीजे वीर से हुई है जो आयु में उससे छोटा है। किसी गन्धर्व ने यह बात सुन ली और वह हंस बनकर शशिव्रता के पास पहुँचकर उसे सच्चाई बताता है। स्वर्णकाय हंस

शशिव्रता के पूर्वजन्म में उसके चित्ररेखा नामक अप्सरा होने की बात बताता है । शशिव्रता के मन में पृथ्वीराज के प्रति प्रेमाकुंर उत्पन्न करने के बाद हंस बना वह गन्धर्व पृथ्वीराज के पास दिल्ली जाता है और उसके सम्मुख शशिव्रता के रूप-गुण वर्णन के करता है और उसके अप्सरा होने की बात भी पृथ्वीराज को बताता है। इस प्रकार पृथ्वीराज और शशिव्रता के मन में नट और हंस के माध्यम से गुण-श्रवणजन्य आकर्षण उत्पन्न करना भी भारतीय साहित्य की प्रचलित कथानक-रूढ़ि है जिसके उपयोग से कवि नायक और नायिका के मन में अनुराग उत्पन्न करने के अपने उद्देश्य को सिद्ध करता है।

मन्दिर में पूजा के बहाने आयी हुई कन्या का हरण पुराना भारतीय अभिप्राय है जो कथानक-रूढ़ि के रूप में साहित्य में प्रचलित रहा है । जब शशिव्रता मन्दिर की ओर बढ़ी उस समय 500 सखियाँ उसे घेरे हुए थीं । कान्यकुब्जेश्वर की सेना डटी हुई थी। सखि ने शशिव्रता को दिखाया, "वह देखो, जिसे चाहती है वह आ गया है।" आँखें चार हुईं और पृथ्वीराज ने उसकी बाँह पकड़ी मानों गजराज ने लहराकर आई हुई कंचनलता को पकड़ लिया हो –

चौहान हथ्थ बाला गहिय सो ओपम कवि चंद कहि।
मानों की लता कंचन लहरि मत्त वीर गजराज गहि ॥

संयोगिता विवाह के प्रसंग में कवि को ऋतुवर्णन करने का अच्छा बहाना मिल गया है।

पृथ्वीराज तो बाहर जाते ही रहते हैं, लड़ना उनका स्वभाव है और कन्या-हरण तथा विवाह भी नया नहीं होने जा रहा है। फिर भी कवि यहाँ रुकता है। पृथ्वीराज हर रानी के पास विदा लेने जाते हैं और जिस ऋतु में जाते हैं उसका मनोरम वर्णन सुनकर रुक जाते हैं।

वसन्त ऋतु में वे इच्छिनी के पास जाते हैं पर अनुमति नहीं मिलती । इच्छिनी ने पैरों में पड़कर विनय किया – "हे प्राणनाथ ! इस ऋतु में बाहर मत जाओ।"

भंवरी अब फुंल्लिग कदंब रयनी दिघ दीसं।
भंवर भाव भल्ले भ्रमंत मकरंद बरीसं॥
पय लगि प्रानपति बिनवौं नाह नेह मुझ पर चित्त धरहु।
दिन दिन अवद्धि जुब्बन घटय कंत बसन्त न गमकरहु ॥

यह ऋतु-वर्णन मिलनजन्य आनन्द में उद्दीपन का संचार करता है। कवि ने विरह के समय ऋतु-वर्णन की प्रथा को न अपनाकर संयोगकालीन उद्दीपक ऋतु-वर्णन की पुरानी प्रथा को ही अपनाया है । यद्यपि वर्ण्य-विषयों की योजना में कोई नवीनता नहीं है वे तत्काल प्रचलित रूढ़ियों के अनुसार ही हैं तथापि उनमें अपना सौन्दर्य है ।

राजा के कन्नौज प्रस्थान के समय कवि ने अनेक शकुनों, फलों और कन्नौज नगर के विविध दृश्यों का सुन्दर वर्णन किया है। इसी प्रसंग में दासियों और नगर की सुन्दरियों की शोभा के वर्णन में नखशिख-सौन्दर्य की कथानक-रूढ़ि का भी पालन किया है।

इन कथानक-रूढ़ियों के उपयोग की पटभूमि को खंगालते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इनके औचित्य को भारतीय साहित्यशास्त्र के सन्दर्भ में उजागर करने का युक्तिसंगत प्रयास करते हुए इसके दो कारण बताये हैं। एक तो भारतीय साहित्यशास्त्र में नायक की धीरोदात्त चरित्र के रूप में कल्पना, जिसके कारण इस ऐतिहासिक काव्य के नायक में वास्तविक जीवन के कर्त्तव्य, द्वन्द्व, आत्मविरोध और आत्मप्रतिरोध जैसी बातें उनमें नहीं आ पाती। दूसरे इस देश के पुराणों और लोककथाओं में दीर्घकाल से चले आ रहे कुछ विश्वास जैसे कर्मफल की अनिवार्यता, दुर्भाग्य और सौभाग्य की अद्भुत शक्ति और मनुष्य के अपूर्व शक्ति का भण्डार होने में दृढ़ विश्वास के कारण ऐतिहासिक तथ्यों को भी कवि के कल्पना के रंग में रंगा ... भारतीय कवि इतिहासप्रसिद्ध पात्र को भी निजन्धरी कथानकों की ऊँचाई तक ले जाना चाहता है जो कथानक को अभिलाषित ढंग से मोड़ देने के लिए दीर्घकाल से चले आ रहे हैं। यही कारण है कि जब ऐतिहासिक कवियों का चरित्र भी लिखा गया, तब भी इतिहास का कार्य नहीं हुआ। अन्त तक ये रचनाएँ काव्य ही बन सकीं, इतिहास नहीं। 'पृथ्वीराज रासो' भी इसका अपवाद नहीं। रासो के पृथ्वीराज में भी तथ्य और कल्पना (फैक्ट्स और फिक्शन) का अद्भुत योग हुआ है।

2.2.05 वस्तु-वर्णन कौशल

'पृथ्वीराज रासो' में विविध वर्णन कवि की विलक्षण वर्णन-कुशलता के परिचायक हैं। 'पृथ्वीराज रासो' के विविध वर्णनों में व्यूह-वर्णन, युद्ध-वर्णन, नगर-वर्णन, विवाह-वर्णन, नखशिख-वर्णन, संयोग-वियोग-वर्णन, ऋतु-वर्णन आदि विशेष महत्त्व रखते हैं। कवि ने पृथ्वीराज की सेना के चक्रव्यूह, मयूरव्यूह, गिद्धव्यूह आदि अनेक व्यूहों का विशद् वर्णन किया है। 'पृथ्वीराज रासो' के युद्ध-वर्णन अत्यन्त सजीव और प्रभावशाली हैं। वे रणभूमि का जीता-जागता चित्र आँखों के सामने प्रस्तुत कर देते हैं। घग्घर नदी के युद्ध का वर्णन कवि ने इन पंक्तियों में किया है –

च्च्हुअ सद्द सुसद्दह नद्द भरं। घन घेरिक कीय सुफौज वरं॥
लष लष्ष मिले दल संमिलयं। नर भद्दव बाहल संमिलियं॥
सुअगें हथनारि अपार सजं। तिन देषत कायर दूर भजं॥
तिन पि हजारउ मत्त चलें। छहरित्त भरंत करी तिहले॥
ङ्ग ङ्ग ङ्ग ङ्ग
मचे कूह कूहं बहै सार सारं। चमक्कै-चमक्कै करारं सुधारं॥
भभक्कै भभक्कै बहे रत्तधारं। सनक्कै सनक्कै बहे बान भारं॥

विविध युद्धों के ऐसे वर्णनों की संख्या 'पृथ्वीराज रासो' में अधिक है। कवि चन्दवरदाई ने अनेक युद्धों में स्वयं भाग लिया था, इसलिए युद्धों के अनेक दृश्य उनकी आँखों के सामने घूमते रहते थे। इन वर्णनों में प्रत्यक्षानुभूति की अभिव्यक्ति होने के कारण स्वाभाविकता और सजीवता पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है।

राजकुमारियों के नखशिख-वर्णन में भी चन्दवरदाई की दृष्टि अधिक रमी है। रासोगत नखशिख-वर्णन प्रसंगों में कन्नौज की राजुकमारी संयोगिता का नखशिख-वर्णन अधिक विस्तार के साथ किया गया है। नखशिख-वर्णन में कवि ने परम्परागत शैली को अपनाते हुए परम्परागत उपमानों की ही योजना की है। शशिव्रता के नखशिख-वर्णन का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है –

मय मंजन मंडित बाल तनं। घनसार सुगन्ध सुबोरि घनं॥
नव लोइन अंजित मंजि चली। कि मनो कस कुन्दन षंभ हली॥
सुभ वस्त्र सुअंग सुरंग नसी। सुहली मनु साष मदन्न कसी॥
जरि जेहरि पाइ जराइ जरी। सजि भूषन नभ्भ मनौ उतरी॥
सिगरी लट यों बिथरी बिगसें। शशि के मुख तें अहि सें निकसें॥

इस प्रकार के वर्णनों में नारी-सौन्दर्य के सुन्दर चित्र कवि ने अंकित किए हैं। 'पृथ्वीराज रासो' में नगर, विवाह, आखेट आदि के वर्णन भी कवि की अद्भुत वर्णन-शक्ति के परिचायक हैं। वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा आदि छह ऋतुओं का वर्णन भी 'पृथ्वीराज रासो' में विस्तार के साथ किया गया है। ऋतु-वर्णन में कवि ने भिन्न-भिन्न ऋतुओं की विशेषताओं का उद्घाटन सुन्दर ढंग से दिया है। प्रत्येक ऋतु को कवि ने साकार रूप देने की चेष्टा की है। वसन्त-वर्णन का एक उदाहरण देखिए –

भवरि अंब फुल्लिग कदंब रयनी दिघ दीसं॥
भँवर भाव भुल्लै, भ्रमंत मकरंद बरीसं॥
बहत बात उज्जलति, मोर अति विरह अगनि किय।
कुहकुहंत कल कण्ठ, पत्र राषस, रति अग्गिय॥
पय लग्गि प्रानपति बीनवौं, नाह नेह मुक्त चित धरहु।
दिन-दिन अवद्धि जुब्बन घटै, कंत बसन्त न गम करहु॥

यह वर्णन उद्दीपन विभाव के रूप में हुआ है। इस प्रकार के अनेक वर्णन 'पृथ्वीराज रासो' में विद्यमान है। उनमें कवि की उत्कृष्ट कल्पना-शक्ति, विस्तृत जानकारी और वर्णन-कौशल का परिचय मिलता है। अधिकांश वर्णनों का मुख्य कथा के विकास में योग न होने पर भी कवित्व की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। नख-शिख, विवाह और युद्ध-जैसे अनेक विषयों का वर्णन कवि ने कई बार किया है पर फिर भी उसमें पुनरावृत्ति या पिष्टपेषण की प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। अपनी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा-द्वारा कवि ने सर्वत्र नवीनता का सृजन किया है।

2.2.06 प्रकृति-चित्रण

पृथ्वीराज राजो में वर्णित संयोगिता-विवाह की विशेषता उसकी मार्मिक प्राकृतिक पृष्ठभूमि में है । वैसे तो शशिव्रता विवाह के आरम्भ में भी थोड़ा-सा उद्दीपक ऋतु-वर्णन है, किन्तु संयोगिता विवाह से पूर्व के षड्ऋतु-वर्णन की-सी स्वाभाविक प्रासंगिकता तथा अनुभूति की तीव्रता उसमें कहाँ ? इससे पूर्व किसी नई विवाह-यात्रा के लिए प्रस्थान करते समय पृथ्वीराज अपनी रानियों से अनुमति लेने नहीं जाता । किन्तु इस बार बहुत बड़े शत्रु का सामना है । पता नहीं लौटना सम्भव हो सकेगा या नहीं । फलतः पृथ्वीराज अनुमति के लिए सर्वप्रथम बड़ी रानी इच्छिनी के पास जाता है । संयोग ऐसा कि वह ऋतुराज का शासनकाल था। आखिर पटरानी का मिलना कवि ऋतुराज में न कराए तो कब कराए ! रानी के मुख से यह निकलना स्वाभाविक था –

भंवरि अंब फुल्लिग कदंब रयनी दिघ दीसं ।
भंवर भाव भुल्लै भ्रमंत मकरंदव बरीसं॥
बहत बात प्रज्जलति मोर अति विरह अगनि किय ।
कुहकुहंत कल कण्ठ, पत्र राषस रति अग्गिय ॥
पयलग्गि प्रान पति बीनवों, नाह नेह मुझ चित धरहु।
दिन दिन अवद्धि जुव्वन, कंत वसन्त गम करहु ॥

राजा उस ऋतु में वहीं रुक जाता है। ग्रीष्म ऋतु के आरम्भ होते ही दूसरी रानी के मन्दिर में जाता है और वहाँ भी ग्रीष्म का भीष्म रूप दिखलाकर रानी रोकती है –

दीरघ दिन निस हीन छीन जलधर वैसनर।
चक्रवाक चित मुदित उदित रवि थकित पंथ नर॥
चलत पवन पावक समान परसत सु ताप मन।
सुकत सरोवर मचत कीच तलफत मीन तन॥
दीसन्त दिगंबर सम सुरत, तरु लतान गय पत्त झरि।
अक्कुलं दीह सम्पति, विपति कंत गमन ग्रीष्म न करि॥

इसी तरह ग्रीष्म भी बीत जाता है और पावस ऋतु में तीसरी रानी इन्द्रावती नाना प्रकार से राजा को रोकती है –

घुमड़ि घोर घन गरजि करत आडम्बर अंबर।
पूरत जलधर धसतधार पथ थकित दिगंबर।
झंझकित द्रिग शिशु मृग समान दमकत दामिन द्रिस।
बिहरत चात्रग चुवत पीय दुषंत समं निसि।
ग्रीष्म विरह द्रुम लता तन, परिरम्भन क्रत सेन हरि।
सज्जंत काम निसि पंचसर, पावस पिय न प्रवास करि॥

शरत् का आकर्षण पावस से कम नहीं है। यदि पावस इंद्रावती के यहाँ बीता तो शरत को हंसावती के यहाँ बीतना चाहिए था –

द्रप्पन सम आकास स्रवत जल अमृत हिमकर।
उज्जल जल सलिता सु सिद्धि सुन्दर सरोज सर॥
प्रफुल्लित ललित लतानि करत गुंजानन भंमर।
उदति सित्त निसि नूर अंग अति उमंगि अंग बर॥
तलफत प्रान निसि भवन तन देषत दुति रिति मुष जरद।
नन करहू गवन, नन भवन तजि, कंत दुसह दारुन सरद॥

हंसावती का अन्तिम तीर है, 'सरद दरद करि मति चलौ'। राजा इतना कठोर थोड़े हो सकता है। हेमन्त का कठिन शीत यों ही रोकने के लिए बहुत था, फिर उसके साथ रानी का मृदुल निवेदन भी हो तो क्या कहना –

न चलि कंत सुभचित्त धनी बहु वित्त प्रगासी।
गहगहि ऐसी प्रेम सौज आनन्द उहासी॥
दीरघ निसि दिस तुच्छ सीत सन्तावै अंगा।
अधर दसन धरहरै प्रात परजरै अनंगा॥
जा ऐनि रैनि हर हर जपत, चक्क सद्द चक्की कियौ।
हिमवंत कंत सुग्रह ग्रहित, हहकरंत फुट्टै हियौ॥

इसी तरह रुकते-रुकाते वर्ष की अन्तिम ऋतु शिशिर आ धमकती है तब जैसे पाँच ऋतुएँ गई वैसे ही छठी भी जाए तो क्या हर्ज है। लेकिन शिशिर का अपना आग्रह भी है –

आगम फाग अवंत कंत सुनि मित्त सनेही।
सीत अन्त तप तुच्छ होइ आनन्द सब गेरही॥
नर नारी दिन रैनि मैन-मदमाते डुल्लैं।
सकुच न हिय छिन एक बचन मनमाने बुल्लैं॥
सुनौ कंते सुभ चित्त करि, रयनि गवन किम कीजियइ।
कहि नारि पीय बिन कामिनी, रिति ससिहर किम जीजियइ॥

ध्यान देने की बात है कि शिशिर की प्राकृतिक शोभा में विशेषता न होने के कारण कवि ने उधर से दृष्टि हटाकर मानवीय क्रियाओं का प्रलोभन दिखाया है।

स्पष्ट है कि रानियों के आग्रह और ऋतुओं के उद्दीपन के अतिरिक्त राजा का अपना प्रणय-लुब्ध मन भी था जो उसने साल-भर के लिए कनवज्ज-गमन का कार्यक्रम रद्द कर दिया। किन्तु दूसरा ऋतु-चक्र आरम्भ होते ही राजा की परेशानी के साथ पाठक की उत्सुकता भी लगी हुई है कि देखें कवि इसी तरह कथा-प्रसंग को ऋतु-वर्णन के आवर्त में ही घुमाते-घुमाते डुबा देता है अथवा राजा के साथ ही कथा-प्रवाह की मुक्ति के लिए कोई युक्तिसंगत

प्रसंग की उद्भावना करता है। यहीं कवि-प्रतिभा की परीक्षा है। इतने सुन्दर ऋतु-वर्णन का समापन भी मधुर ढंग से ही होना चाहिए अन्यथा अब तक की सारी कारीगरी निष्प्रभावी हो सकती थी। ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग पर चन्दवरदाई स्वयं उपस्थित होता है। ज्यों ही दूसरा वसन्त आता है त्यों ही पृथ्वीराज चन्दवरदाई के पास परामर्श के लिए जाते हैं। लेकिन वे ठहरे राजाधिराज। सीधे-सीधे मुक्ति का उपाय पूछने से हेठी हो सकती थी। इसीलिए वे कवि को भी तोलते हुए से पूछते हैं–

षट रिति बारह मास गय, फिर आयौ रु बसन्त।
सो रिति चंद बताउ मुहि तिया न भावै कंत॥

चन्दवरदाई जैसे पहले ही से इस सवाल के लिए तैयार बैठा हो, वह तुरन्त ऋतु शब्द पर श्लेष करता है–

रोष भरै उर कामिनी, होइ मलिन सिर अंग।
उहि रिति त्रिया न भावई, सुनि चुहान चतुरंग॥

इस प्रकार यह मधुर प्रसंग समाप्त होता है। निस्सन्देह कनवज्ज समय का षड्ऋतु-वर्णन रासो के दो-तीन मार्मिक तथा सुन्दर प्रसंगों में से एक तो है ही, हिन्दी काव्य-परम्परा के षड्ऋतु वर्णनों में भी ऊँचा स्थान रखता है। ऊपर से देखने पर इसमें परिपाटी-विहित बातें पर्याप्त मिलेगी और उद्दीपन के ही रूप में प्राकृतिक सुषमा का प्रयोग दिखेगा, किन्तु यह उस ह्रासयुग के दृष्टिकोण की सीमा है। रासो के षड्ऋतु दर्शन की विशेषता इस बात से है कि वह आरोपित न होकर मानवीय क्रियाकलाप का अभिन्न अंग बनकर आया है और इस प्रकार कथा-प्रवाह को गति देता है। उसकी क्रियाशीलता में ही शोभा है।

चन्दवरदाई के प्रकृति-वर्णन में खास बात यह होती है कि वे प्रकृति का ऐसा चित्रण करते हैं उससे पात्रों की तत्कालीन मनःस्थिति का चित्रण हो जाता है। कैमास वध प्रसंग में कैमास अँधेरी रात में कर्णाती के साथ केलि-विलास में निमग्न है। घोर अँधकार है, मूसलाधार वर्षा हो रही है। इस स्थिति के वर्णन में कवि के बिम्बों पर ध्यान दीजिए तो प्रकृति-वर्णन के साथ संयोग-शृंगार में मन और शरीर दोनों की चेष्टाओं की अकुण्ठ व्यंजना मिलेगी –

अंधारेन जलेन छिन्न छितया तारानि धारा सत।
सा मंत्री कयमास काम अंधा दैवो विचित्र गत॥

अँधकारपूर्ण रात में पृथ्वी घनघोर वर्षा से छिन्न-विदीर्ण हो रही है। तारे भी मूसलाधार वर्षा में छिपे हैं। वह मंत्री कैमास कामान्ध है। दैव की गति विचित्र है। पृथ्वी का घनघोर वर्षा से विदीर्ण होना घोर शृंगार का संकेत है। वर्षा में तारे छिपे हैं। इधर कैमास भी कामान्ध है। जिसे आधुनिक आलोचना का कविता में समानान्तरवाद (पैरेलेज्मि) कहती है यह उसका उत्कृष्ट उदाहरण है। इस वर्णन के बाद कवि मानों दृश्य से तटस्थ हो गया है और दार्शनिक टिप्पणी करता है, "दैवो विचित्रा गति" ("दैव की गति विचित्र है")। पर्यासान एक प्रकार के भाग्यवादी

अवसाद में होता है। "सा मंत्री कयमास काम अंधा।" ऐसा योग्य और कर्त्तव्यपरायण मंत्री विवेकहीन हो गया यह दैवगति की विचित्रता नहीं तो और क्या है ?

2.2.07 'पृथ्वीराज रासो' का काव्य-रूप

'पृथ्वीराज रासो' को हिन्दी का प्रथम महाकाव्य होने का गौरव प्राप्त है। अधिकांशतः संस्कृत साहित्य को ध्यान में रखकर काव्य-भेद पर विचार हुआ है। रासो में महाकाव्य के सभी लक्षण घटित नहीं होते। उदाहरणार्थ, रासो में छन्दों का विधान संस्कृत महाकाव्य जैसा नहीं है। विभिन्न खण्डों का विभाजन भी संख्या क्रम से नहीं घटनाओं के आधार पर शीर्षक में है। जैसे – "च्कनवज्ज समयज् या च्कैमास-वधज्।" वस्तुतः रासो की रचना संस्कृत के आचार्य काव्यशास्त्रियों द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों के अनुसार नहीं हुई है। काव्य-रूप की दृष्टि से रासो प्राकृत, अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों की परम्परा में है, संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में नहीं।

'पृथ्वीराज रासो' में मध्यकाल में प्रचलित प्रबन्धकाव्यों के अनेक रूपों का सम्मिश्रण हुआ है। उसमें कथाकाव्य, चरितकाव्य, आख्यायिका आदि के लक्षण मिल जाएँगे। रासो तो वह है ही।

कथा की कहानी दो व्यक्तियों के संवाद के रूप में प्रस्तुत की जाती थी। इस दृष्टि से रासो को कथा कह सकते हैं क्योंकि इसकी कहानी शुक्-शुकी एवं कवि एवं कविपत्नी के संवाद के रूप में प्रस्तुत की गई है। आख्यायिका की कहानी का नायक कल्पित नहीं, ऐतिहासिक होता है। संस्कृत में कादम्बरी कथा मानी जाती है और हर्षचरित आख्यायिका। यद्यपि हर्षचरित चरित भी है। इस दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' को आख्यायिका भी कह सकते हैं क्योंकि नायक पृथ्वीराज कल्पित पात्र नहीं है और उसमें बाणभट्ट की भाँति चन्दवरदाई का भी वर्णन है। रासो चरितकाव्य भी है क्योंकि उसमें पृथ्वीराज का जीवनचरित वर्णित है।

2.2.08 रासो काव्य

'पृथ्वीराज रासो' रासो काव्य के रूप में विख्यात है। यहाँ हमें रासो काव्य के विषय में थोड़ी जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। इससे 'पृथ्वीराज रासो' के काव्य-रूप का निर्णय करने में सहायता मिलेगी। रासो, रासा, रास, रासउ समानार्थक शब्द हैं। इनका विकास रास नामक नृत्य से हुआ है। रास मूलतः वन्य नृत्य था। हर्षचरित में रास का उल्लेख नृत्य और गान दोनों रूपों में हुआ है। अपभ्रंश के महान् कवि स्वयंभु ने रास छन्द का लक्षण दिया है। अतः रास नृत्य है, गान है और छन्द भी। गान शब्दों से बनता है। एक बार शब्दों का आगमन हुआ तो कथा का समावेश हो गया और रास प्रबन्धकाव्य भी बन गया होगा। रास नृत्य से कृष्ण की रासलीला का सम्बन्ध है।

रास काव्यों की परम्परा अपभ्रंश से ही शुरू हो जाती है। अपभ्रंश में नेमिनाथरासो, भरतेश्वर बाहुबलिरास, कच्छूलीरास आदि मिलते हैं। प्रबन्धकाव्य हो जाने के बाद रास किसी एक ही विषय तक सीमित नहीं रह गया। यद्यपि यह सत्य है कि 11वीं शताब्दी से अपभ्रंश में रासोकाव्य की जो परम्परा प्रारम्भ होती है उसमें जैन

मतावलम्बी काव्य ही अधिक मिलते हैं। किन्तु कालान्तर में रासो ऐसा प्रबन्धकाव्य बन गया जो केवल धर्म या जैन धर्म तक ही सीमित नहीं रह गया। धार्मिक रासो के साथ-साथ, ऐतिहासिक, वीरतापरक, शृंगारी रासक काव्य भी लिखे गए। 'पृथ्वीराज रासो' ऐतिहासिक एवं वीरतापरक रासो काव्य है।

आचार्य हेमचन्द्र के शब्दानुशासन में रासक को गेय उपरूपक बताया गया है। ये गेय रूपक तीन प्रकार के होते थे – (i) मसृण अर्थात् कोमल, (ii) उद्धत और (iii) मिश्र। रासक मिश्र गेय उपरूपक है। टीका में इन गेय उपरूपकों के सम्बन्ध में बताया गया है कि इनमें से कुछ तो स्पष्ट रूप से कोमल हैं, जैसे डोम्बिका। कुछ दूसरे हैं जो स्पष्ट रूप से उद्धत गेय रूपक हैं, जैसे भाणक। कुछ ऐसे हैं जिनमें मसृण की प्रधानता होती है, कुछ में उद्धत भी मिल जाता है, कुछ में उद्धत कम मिला होता है, जैसे प्रस्थान, कुछ में अधिक मिला होता है जैसे शिंगटक। परन्तु ऐसे भी कई हैं जिनका प्रधान रूप तो उद्धत होता है फिर भी थोड़ा बहुत मसृण का प्रवेश हो जाता है। भाणिका ऐसा ही है। फिर प्रेरण, रामाक्रीड़, रासक, हल्लीसक आदि ऐसे ही रूपक हैं। अतः रासक आरम्भ में एक प्रकार के उद्धत प्रयोग प्रधान गेय रूपक को कहते थे जिसमें थोड़ा बहुत मसृण या कोमल प्रयोग भी मिले होते थे। (हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली : 3)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'सन्देशरासक' और 'पृथ्वीराज रासो' के प्रारम्भिक अंशों की समानता दिखाकर प्रकट किया है कि 'पृथ्वीराज रासो' और 'सन्देशरासक' दोनों में रासक काव्य-रूप के लक्षण मिलते हैं।

2.2.09 चरित काव्य

डॉ॰ नित्यानन्द तिवारी ने अपनी पुस्तक मध्यकालीन रोमांचक आख्यान में दिखाया है कि 'पृथ्वीराज रासो' रोमांचक आख्यान है। उसमें कथानक तो है किन्तु उसमें आन्तरिक गठन नहीं, उसमें अनेक परस्पर असम्बद्ध कथाओं का संकलन और विस्तार है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'रासो' की घटना-सरणि तथा पृथ्वीराज के अनेक विवाहों और युद्धों में कोई तार्किक प्रवाह या अन्तःसूत्रता नहीं है। दो-चार विवाह और युद्ध 'रासो' में और जोड़ दिए जाएँ या निकाल दिए जाएँ तो रासो के रूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। इस सबके बावजूद, हिन्दी साहित्य में रासो की प्रतिष्ठा महाकाव्य के रूप में हैं। वह हिन्दी साहित्य के आदिकाल का ही सर्वाधिक विख्यात काव्य नहीं, हिन्दी साहित्य के प्रथम महाकाव्य के रूप में भी प्रतिष्ठित है। हमें उन कारणों की भी पड़ताल करनी चाहिए जिनके आधार पर 'पृथ्वीराज रासो' को यह प्रतिष्ठा मिली है।

डॉ॰ नगेन्द्र कामायनी के महाकाव्यत्व पर विचार करते हुए पाश्चात्य एवं पौरस्त्य महाकाव्यों के लक्षणों का विवेचन करने के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि महाकाव्य का प्राण औदात्य है। (देखिए, कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ) औदात्य का आधार व्यापक संघर्ष है। भारतीय महाकाव्यों का आदर्श वाल्मीकि रामायण है और राम का आजीवन संघर्ष उसके औदात्य का आधार है। वे लोक-विख्यात है। उनकी जीवन-कथा ही ऐसी है कि विपुल जीवन-जगत् का समावेश उनके जीवन में हो जाता है। ध्यान से देखें तो महाकाव्यों के लक्षण इस बात को ही ध्यान में रखकर निर्धारित किए गए हैं कि नायक लोक में कितना प्रतिष्ठित है, लोक से उसके जीवन-

संघर्ष का कैसा सम्बन्ध है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यापकता एवं संघर्ष औदात्य के आधार है। आठ या उससे अधिक सर्गों की व्यवस्था कथा की विपुलता का लक्षण है तो एक सर्ग में एक ही छन्द की व्यवस्था दूर तक कथा प्रवाह की समतल भूमि निर्धारित करती है । सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तन एक सर्ग की कथा को अगले सर्ग की कथा से जोड़ने का संकेत है।

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर 'पृथ्वीराज रासो' की विवेचना करें तो हम कह सकते हैं कि पृथ्वीराज की ख्याति इतिहास में एक ऐसे हिन्दू शासक के रूप में हैं जिसने अपने जीवनकाल में ही अपने शौर्य, पराक्रम, त्याग, उदारता, आत्मोत्सर्ग आदि की अमिट छाप भारतीय जन-मन पर अंकित कर दी थी । अपने युग के अप्रतिम वीरशिरोमणि, उत्तर भारत के अन्तिम हिन्दू सम्राट् एवं उनके सामन्तों की जाज्वल्यमान कथा आज भी उत्तर भारत की क्षत्रिय एवं युद्धप्रिय जातियों को एक आदर्श का मार्ग दिखाती हैं। राजस्थान का शायद ही कोई क्षत्रिय शासक रहा हो जिसका पूर्व पुरुष पृथ्वीराज का सामन्त न रहा हो । पृथ्वीराज की सेवा में क्षत्रियों के छत्तीसों वंशों के रहने का उल्लेख रासो में अनेक स्थलों पर है । रासो के मूल रचयिता एवं उसकी कथा कहने की प्रणाली से भरपूर परिचित परवर्ती प्रक्षेपकर्त्ताओं ने भारतीय परिपाटी एवं पौराणिक एवं महाकाव्य की शैली में जैसा जो कुछ निबद्ध करके रखा है वह अपनी इस शैली में अति प्रशंसनीय है। लोकनायक पृथ्वीराज का चरित्र आदि से अन्त तक बड़ी ही कुशलतापूर्वक सँवारा गया है । एक ओर उनके उत्कर्ष के हेतुओं की चर्चा है तो वहीं कवि ने उनके अपकर्ष के हेतु तत्त्वों का भी समुचित विधान किया है। 'अहर्निशधर्मरत' इन युद्धों के दृश्य श्रोता एवं पाठक के मन में रासो के नायक के प्रति श्रद्धा एवं संवेदना उत्पन्न करते हैं। युद्ध की विषम विभीषिका की क्रूरता व उग्रता को करने वाले वरण-हरण सम्बन्धी रोमानी प्रसंग अपने लालित्य और आकर्षण की मधुरिका उसमें भरते चलते हैं । इनके अतिरिक्त विविध वस्तु-वर्णनों की योजना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है जिनमें पनघट, सरोवर, नदी, सागत, पर्वत, ऋतु से सम्बन्धित सुरम्य प्रसंग, विविध ऋतुओं का सांगोपांग चित्रण एवं मानव पर उनके प्रभाव की योजना, स्वप्न में शुभ-अशुभ की यथास्थान चर्चाएँ, प्रसंगानकूल शकुन-अपशकुन का उल्लेख, मनोमुग्ध करने वाले कबन्ध युद्ध, वीरगति पाने वालों का विभिन्न लोकवास, चिरयौवना अप्सराओं द्वारा हुतात्मा योद्धाओं का वरण, मृतात्माओं का स्वर्गारोहण, देवी-देवताओं द्वारा योद्धाओं का प्रोत्साहन, विविध रीति-रिवाज-संस्कार आदि के उल्लेख तथा पुरातन कथा-सूत्रों जैसे शुक, हंस, ब्राह्मण, नट, दूत, वन में अचानक खजाने की प्राप्ति आदि के सुनियोजित अपूर्व समन्वय द्वारा रासो के लगभग समान युद्धों की नीरसता को न केवल सरसता में परिणत किया है वरन् पृथ्वीराज, उनके सामन्तों एवं विपक्षियों की प्रधान कथा को भी अपेक्षाकृत लुभावना बना दिया गया है । अपने युग की राष्ट्रीय कृति को देश में बदली हुई धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण भले ही अनुदार लोग-जातीय रचना बताने का प्रयास करें, कल्पना और इतिहास पर आश्रित यह महाकाव्य उत्तर भारत की हिन्दू जनता द्वारा अपने निर्माण काल से ही समादृत होता चला आया है । ('पृथ्वीराज रासो' : एक समीक्षा, विपिनबिहारी त्रिवेदी पृ.क्र. 25-27)

डॉ॰ राजकमल बोरा का मत है कि रासो आज जिस रूप में (बृहत् संस्करण वाला रूप) उपलब्ध है, वह क्लासिक काव्य कहलाने योग्य है । रासो की काव्य-पद्धति (शैली), काव्य का प्रयोजन, काव्य का नायक, सर्गबद्ध

रचना (समय, प्रस्तावों में), इतिहासोदृशन कथानक आदि कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिनके आधार पर 'रासो' महाकाव्य होते हुए भी हिन्दी का क्लासिक काव्य सिद्ध होता है। रासोकार ने अपने से पूर्व महर्षि व्यास रचित महाभारत, कालिदास, चण्डकाली तथा जयदेव द्वारा लिखे गए क्लासिक काव्यों का अध्ययन किया। कवि चन्दवरदाई ने रासो को इन काव्यों का उच्छिष्ट कहा है – "उच्छिष्ट चंद छन्द बयन।"

रासोकार का मत है कि रासो सब प्रकार से शास्त्रानुमोदित तथा व्याकरणसम्मत रचना है जिसे पढ़ने से मनुष्य को श्रेष्ठ बुद्धि की प्राप्ति होती है, उत्तम ज्ञान और मान प्राप्त होता है तथा वह राजनीति में निपुण होता है –

रासौ बर बुद्धि सिद्धि। सुद्धि सो सव्व प्रमानिय।
राजनीति पाइयै। ग्यान पाइयै सुजानिय॥
जो पढ़त तत्त रासो सुगुर। कुमति मति नहि परसहय।

विभिन्न संस्करणों के पठन के आधार पर रासो का अध्ययन करने वाले विद्वानों के अनुसार रासो भारतीय साहित्यिक परम्परा के क्रम में विकसित हुआ कथाकाव्य है जिसने अपभ्रंश, प्राकृत और मध्यकालीन प्रबन्धकाव्य की अधिकांश विशेषताओं को आत्मसात् करते हुए महाकाव्य की औदात्य और गरिमा को प्राप्त किया और पृथ्वीराज के संघर्ष और बलिदान की गाथा को अमर बना दिया। अनेक प्रक्षिप्तांशों के बावजूद इसके महाकाव्यत्व को सिद्ध करने वाले इसके काव्य-सौन्दर्य की अनदेखी नहीं कर सकते।

2.2.10 छन्द-विधान

छन्द भाषा की गति और भंगिमा है इसलिए चन्दवरदाई जैसे भाषा पर अचूक अधिकार रखने वाले कवि का छन्दों पर अधिकार होना स्वभाविक है। चन्दवरदाई छन्दों के राजा कहे जाते हैं। रासो एक ही साथ संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की प्राचीन छन्द परम्परा के पुनरुज्जीवन तथा हिन्दी के नूतन छन्द संगीत के सूत्रपात की सन्धिवेला है। रासो में छप्पय, नाटक, नाट्य, गाना, अरिल, रसावल, चन्द्रायण, चोपाई, पद्रि, सारक, गीतमालची, रोला, मतिरफ, कुण्डलिया, मुरिल्ल, आयो, श्लोक, भुंजगी आदि छन्दों का प्रयोग है। जैसे-जैसे भाव बदलते हैं वैसे-वैसे कवि छन्द की राह बदलता है और आरोह-अवरोह के साथ भाषा संगीतमय लय में गुनगुनाती हुई ठुमकती चलती है। रासो में इस छन्द-वैविध्य को दृष्टिगत रखते हुए डॉ॰ नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक 'पृथ्वीराज रासो : भाषा और साहित्य' में लिखा है – "भाव-भंगिमा के साथ-साथ दनादन भाषा नये-नये छन्दों की गति धारण करती चलती है, और विशेषता यह है कि इस बात खाती हुई नदी में बहते हुए चित्त को कोई मोड़ नहीं खटकता। छन्द परिवर्तन के प्रवाह में सहज आत्मविस्मृति का ऐसा सुख अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। रासो एक ही साथ संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की प्राचीन छन्द-परम्परा का पुनरुज्जीवन तथा हिन्दी के तन छन्द-संगीत के सूत्रपात की सन्धि बेला है। किन्तु मार्मिक चित्रण में चन्दवरदाई का सबसे ज्यादा मन छप्पयों की रचना में लगता है इसीलिए शिवसिंह सरोज के रचयिता श्री शिवसिंह सेंगर ने चन्दवरदाई को छप्पयों का राजा कहा है। विभिन्न यतियों के छन्द छप्पय की जो सुकर भंगिमा चन्दवरदाई ने दिखलाई है, वह दुर्लभ है।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' नामक अपनी पुस्तक में लिखते हैं – "चन्दवरदाई छप्पयों का राजा था।" बहुत पहले शिवसिंह ने यह बात लिखी थी कि "रासो असल में छप्पयों का ही काव्य है।" कवि राजा श्यामलदास तो रासो में छप्पय और दूहा के अतिरिक्त और किसी छन्द का अस्तित्व ही नहीं मानते। वैसे तो हर तलवार की झंकार पर चन्दवरदाई तोटक, तोमर, पहरी और नराच पर उतर आते हैं पर जमकर वे छप्पय और दूहा ही लिखते हैं। यह अत्यन्त संकेतपूर्ण तथ्य है कि चन्दवरदाई के नाम से मिलने वाले छन्दों में जिनकी प्रामाणिकता लगभग निःसंदिग्ध है, वे छप्पय ही हैं। मुनि जिनविजय ने पुरातन प्रबन्ध-संग्रह में चन्दवरदाई नाम से मिलने वाले चार छप्पयों का उल्लेख किया है। उनमें से तीन तो मुनिजी ने स्वयं ही वर्तमान रासो में ढूँढ़ निकाले हैं। पुरातन प्रबन्ध के छप्पयों की भाषा अपभ्रंश है। वस्तुतः चन्दवरदाई हिन्दी परम्परा के आदिकवि अपेक्षा अपभ्रंश परम्परा के अन्तिम कवि थे–

अगर मगह दाहिमों देव रिपुराइ षयंकर।
कूरमंत जिन करौ मिले जंन वै जगर॥
मो सहनामा सुनौ एह परमारथ सुज्झै।
अषै चंद विरछ वियो कोर एह न बुज्झै॥
प्रतिराज सुनवि सम्भरि धनीइड सम्भलि संभारि रिस।
कैमास बलिष्ठ बसीउ विन मलेच्छ बंध वंध्यौ मखि।

रासो के रासक छन्द में विरचित वीरगाथा होने की धारणा का परिमार्जन करते हुए एक अन्य स्थल पर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने स्पष्ट किया है कि रासक, रूपक, सट्टक और विलास का अर्थ विशेष प्रकार का विनोद और मनोरंजन था। परवर्ती राजस्थानी काव्यों में चरितकाव्यों में चरितनायक के नाम के साथ रासो विलास, रूपक आदि शब्द देकर ग्रन्थ लिखना रूढ़ हो गया था, जैसे श्यामल्लरासो, रतनरासो, राजरूपक, गजसिंह रूपक, राज विलास, जगविलास, विजयविलास आदि। ये सब शब्द बाद में चरितकाव्यों के लिए रूढ़ हो गए। रासो या रासा नाम देखकर ही उसे वीरगाथा समझ लेना अच्छे अध्ययन का सबूत नहीं है ... रासो केवल चरित काव्य का सूचक था।

वस्तुतः रासाबन्ध उन दिनों काव्य का एक मुख्य भेद था और उसमें विभिन्न छन्दों का प्रयोग होता था। पृथ्वीराज रासो भी इसी श्रेणी का काव्य है। इसमें रासक छन्द का प्रयोग बहुत कम हुआ है। स्वयंभू के छन्द से स्पष्ट है कि रासक 21 मात्राओं का छन्द है, जो कोमल भाषा में लिखा जाता है। इसमें चौदह पर विश्राम होता है। इसे आभाणक भी कहते हैं। सन्देशरासक का यह मुख्य छन्द है। अनुमान किया जा सकता है कि प्रारम्भ में रासक जातीय ग्रन्थ प्रधानतः इसी छन्द में लिखे जाते होंगे। रासक छन्द का एक उदाहरण देखिए –

एक्कक वीस मत्राहिण पाऊ उद्दामगिरु।
चंदुह साइ विस्साम हो भगण वीरह थिरु॥
रासाबंध समिद्ध एड अहिराम अरु।
लहु अति अल अवसान विरउख महुर अरु॥

2.2.11 अलंकार योजना

रासोकार ने विभिन्न अलंकारों की योजना-द्वारा अपने काव्य के कलापक्ष को समृद्ध किया है। उनके अधिकांश अलंकार केवल कलापक्ष को ही नहीं, भावपक्ष को भी सौन्दर्य प्रदान करते हैं। कवि ने जान-बूझकर अलंकारों को ठूँसने का प्रयत्न कहीं नहीं किया है। उनके अलंकारों में स्वाभाविकता और भावोद्रेक-क्षमता वर्तमान है। शब्दालंकारों में से अनुप्रास और यमक का प्रयोग 'पृथ्वीराज रासो' में अधिक पाया जाता है, पर उनमें केवल चमत्कार-विधायिनी प्रवृत्ति कहीं भी लक्षित नहीं होती। उनमें स्वाभाविकता और भावों को उद्दीप्त करने की पर्याप्त क्षमता पाई जाती है। सादृश्यमूलक अर्थालंकारों के प्रयोग में चन्दवरदाई को अधिक सफलता मिली है। वैसे तो रासो-जैसे विशालकाय महाकाव्य में ढूँढ़ने पर प्रायः सभी अर्थालंकार मिल सकते हैं, पर जिनका प्रयोग अधिक मात्रा में किया गया है उनमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और अथिशयोक्ति विशेष ध्यान देने योग्य है। इन सादृश्यमूलक अर्थालंकारों के प्रयोग में जहाँ कवि ने परम्परागत प्रसिद्ध उपमानों को अधिक अपनाया है, वहाँ यत्र-तत्र नवीन, मौलिक उपमानों की भी सृष्टि की है। सादृश्य को व्यक्त करने वाले ये नवीन उपमान भाव-सौन्दर्य की वृद्धि करने की अधिक क्षमता रखते है। सादृश्यमूलक अलंकारों में रासोकार ने उत्प्रेक्षा को प्रथम स्थान दिया है। उत्प्रेक्षाओं की रासो में भरमार है। रूप-चित्रण और युद्ध-वर्णन में अनूठी उत्प्रेक्षाओं की योजना में कवि को अधिक सफलता मिली है। शशिव्रता के शृंगार-वर्णन में कवि ने उत्प्रेक्षाओं की झड़ी-सी लगा दी है –

सुगन्ध केस पासयं। सुलग्गि मुत्ति छंडियं॥
अनेक पुष्प बीचि गुंथि। भासिता त्रिषंडियं॥
मनों सनाग पुष्फ जाति। तीन पंथि मंडियं॥
दुती कि नाग चंदनं। चढंत दुद्ध पंडियं॥
सिन्दूर मध्य गुच्छता। भ्रंगं मदं विराजयं॥
मनों कि सूर उग्गतें। गहे सु पुत्र लाजयं॥
सु तुच्छ सुच्छ पाट आट। पेम वाट सोभियं॥
मनों कि चंद राह वान। बे प्रमान लोभयं॥

इसी प्रकार पृथ्वीराज की वेशभूषा के वर्णन में भी उत्प्रेक्षा का प्रयोग प्रचुर परिमाण में हुआ है –

पाघ विराजत सीस पर। जरकस जोति निहाय॥
मनों मेर के सिषर पर। रह्यौ अहप्पति आय॥
ता पर तुररा सुभत अति। कहत सोम कवि नाथ॥
मनु सूरज के सीस पर। धिषन धर्यौ धनु हाथ॥
श्रवन विराजत स्वाति सुत। करत न बनै बषान॥
मनु कमल पत्र अग्रज रहै। ओस उडग्गन आन॥
कण्ठमाल मोतीन की। सोभत सोभ विसाल॥
मेरु सिषर पारस फिरत। जानि नछित्रन माल॥

उत्प्रेक्षा के पश्चात् द्वितीय स्थान 'पृथ्वीराज रासो' में रूपक को प्राप्त हुआ है। रूपक अलंकार के प्रायः सभी भेदों के उदाहरण 'पृथ्वीराज रासो' में पाये जाते हैं। सांगरूपक की योजना कई पद्यों में की गई है। जैसे –

काव्य समुद्र कवि चंद कृत। मुगति समप्पन ग्यान ॥
राजनीति बोहिथ सुफल। पार उतारन यान ॥

अतिशयोक्ति के प्रयोग में चन्दवरदाई का अद्भुत कौशल झलकता है। रूपकातिशयोक्ति की योजना कई पद्यों में की गई है। निम्नलिखित पंक्तियों में रूपकातिशयोक्ति द्वारा राजुकमारी संयोगिता के सौन्दर्य का मनोरम चित्र अंकित किया गया है –

कुंजर उप्पर सिंह। सिंह उप्पर दोय पब्बय ॥
पब्बय उप्पर भृङ्ग। भृङ्ग उप्पर ससि सुभ्भय ॥
ससि उप्पर इक कीर। कीर उप्पर भ्रग दियौं ॥
भ्रग ऊपर कोवंड। संघ कंद्रप्प बयौं ॥
अहि मयूर महि उप्परह। हीर सरिस हेम न जयौं ॥
सुर भुअन छंडि कवि चंद कहि। तिहि धौषे राजन पर्यौ ॥

'पृथ्वीराज रासो' में कहीं-कहीं तो एक ही पद्य में अनेक अलंकारों की सुन्दर योजना हुई है। इस प्रकार विविध अलंकारों की योजना कवि ने बड़ी कुशलता से की है। 'पृथ्वीराज रासो' में अलंकार विविध प्रसंगों तथा वर्णनों को अधिक आकर्षक, प्रभावशाली एवं मार्मिक बनाने में सफल दिखाई देते हैं। रासोगत अलंकार-विधान कवि के काव्यशास्त्र विषयक ज्ञान तथा पूर्ववर्ती काव्य-परम्पराओं के विस्तृत अध्ययन का परिचायक है।

2.2.12 रस उत्कर्ष

चन्दवरदाई ने इस ग्रन्थ में अनेक घटनाओं का समावेश किया है तथा कुछ घटनाएँ बाद में चारणों द्वारा जोड़ी गई, जिससे लगता है कि यह काव्य घटना-कोश है, परन्तु समस्त घटना-चक्र के भीतर कवि ने अपनी रस-दृष्टि का नियोजित रूप से विस्तार किया है। इस काव्य में दो रस प्रमुख हैं, 'शृंगार' और 'वीर'। ये दोनों रस पृथ्वीराज चौहान के चरित्र के दो पार्श्व उन्मुक्त करते हैं। वह जितना वीर है, उतना ही शृंगार-प्रेमी भी है। कवि ने एक ओर तो उसे अप्रतिम वीर योद्धा के रूप में प्रस्तुत किया है वहीं साथ ही उसके रूप-सौन्दर्य और प्रेम के सरस चित्र भी उतारे हैं। नारी दोनों रसों के केन्द्र में है। उसे पाने के लिए युद्ध होते हैं और पा लेने पर जीवन का विलास-पक्ष अपनी पूरी रमणीयता के साथ उभरता है। उल्लेखनीय है कि प्रेम और शौर्य के सभी चित्रों में कवि ने कुछ नैतिक मर्यादाओं का निर्वाह किया है, जिनके कारण रस की सात्त्विकता सुरक्षित रही है।

पृथ्वीराज रासो एक युद्ध-प्रधान महाकाव्य है। इसमें वीररस की प्रधानता है। वीररस का परिपाक इस काव्य में सुन्दर ढंग से हुआ है। विविध युद्धों से सम्बन्धित प्रसंगों में अपने स्थलों पर आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारियों की योजना-द्वारा वीररस की निष्पत्ति सुन्दर बन पड़ी है। जैसे –

हयगयं सजे भर। निसांन बज्जि दूभरं ॥
नफेरि बीर बज्जई। मृदंग झल्लरी गई ॥
सुनंत ईस रज्जई। तनीस राग सज्जई ॥
सुभेरि भुंकयं घनं। श्रवन्न फुट्टि झंझनं॥
उषाह मध्य ते चले। सगुन्न बंदि जे भले॥
ससूर सूरयं कलं। दिनं सु अष्टमी चलं॥

शूरशिरोमणि महाराज पृथ्वीराज और उनके सामन्तगण आदर्श योद्धा थे। उनकी आदर्श वीरता एवं उत्साह की व्यंजना में कवि को अद्भुत सफलता मिली है। वीररस के साथ-साथ रौद्र और बीभत्स रस को भी सहायक रसों के रूप में 'पृथ्वीराज रासो' में पर्याप्त स्थान मिला है। रौद्ररस के स्थायीभाव क्रोध की अभिव्यक्ति युद्धकाल के सभी प्रसंगों में हुई है। युद्धभूमि में भूत-प्रेतों का रुधिर पीना, कबन्धों से रक्त का बहना, गीधों का चिल्लाना आदि दृश्यों के वर्णन में बीभत्स रस का निर्वाह अच्छा हुआ है। जैसे –

छुटे बान चहुआन आवद्ध राजं। लगे मेछ अंगं मनों वज्र बाजं ॥
फुटै संगि संनाह के अंगं अंगं। उठै श्रोन छिंछें जरै जानि ढंगं॥
हते राज प्रथिराज सामन्त सेतं। भए मेछ श्रद्धे मनों राह केतं ॥
बढ्यो बीर नन्दी सुलूली अनन्दी। नचै भूत भैरू बकें जानि बंदी॥
भिरें जुद्ध जानीय जुथ्थ्यानि जथ्थं। ग्रहै गिद्धि सेवाल लुथ्थानि लुथ्यं ॥
चुवैं ओन सट्टी किलक्कंत घुट्टै। ग्रहं मेछ लागें जुरै सूर छुट्टै॥

'पृथ्वीराज रासो' के अधिकांश युद्धों का सम्बन्ध सुन्दर स्त्रियों से है। अनेक राजकुमारियों के साथ पृथ्वीराज के प्रेम के वर्णन में शृंगार रस की व्यंजना भी इस काव्य में अनेक स्थलों पर हुई है। इच्छिनी, शशिव्रता, संयोगिता, पद्मावती आदि रूपवती नारियों के रूप-चित्रण तथा संयोग-वियोग-सम्बन्धी विविध दशाओं के वर्णन में शृंगार रस की अभिव्यक्ति हुई है। विवाह के पूर्व राजकुमारियों के नख-शिख-वर्णन तथा विवाह के पश्चात् उनके साथ पृथ्वीराज की प्रेम-कीड़ा और सहवास के चित्रण में संयोग शृंगार का निर्वाह हुआ है। पृथ्वीराज के प्रथम स्पर्श से शशिव्रता के हृदयगत विविध भावों की व्यंजना यहाँ मनोवैज्ञानिक ढंग से हुई है–

चौहान हथ्थ बाला गहिय। सो ओपम कविचंद कहि॥
मानों कि लता कंचन लहरि। मत्त वीर गजराज गहि ॥
गहल बाल पिय पानि। सु गुरुजन सम्भरे ॥
लोचन मोचि सरंग। सु अंसु बहे परे ॥
अपमंगल जिय जानि। सु नैनन मुष बही ॥
मनो षंजन मुष मुत्ति। भरक्कत नंषही ॥
दुहु कपोल कल भेद। सुरंग ढरक्कही ॥
सज्जन बाल बिसाल। सु उरज षरक्कही ॥

चन्दवरदाई ने विविध रानियों के सौन्दर्य और हाव-भावों का वर्णन नायिका-भेद को दृष्टिगत करके तो नहीं किया है, फिर भी अनेक स्थलों पर नवोढ़ा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, प्रवत्स्यत्पतिका आदि नायिकाएँ उसमें झाँकती हुई-सी प्रतीत होती हैं। इच्छिनी और शशिव्रता की वयःसन्धि का मार्मिक चित्र इन पद्यों में अंकित हुआ है–

इच्छिनी –

बाले तन्वय मुग्ध मध्यत इमं स्वपनाय वै संधयं।
मुग्धे मध्यम स्यांम बांमति इमं मध्यान्ह छाया पगं॥
बालप्पन तन मध्य जीवन इमं सरसी अवग्गी जलं॥
अंगं मद्धि सुनीरजे मल ससी सुभ्भै सुसैसव इमं॥

शशिव्रता –

अका अरु सूरज्ज बिच, उदै अस्त दुहुँ बेर।
बर शशिवृत्ता सोभई, मनौ शृंगार सुमेर॥

पृथ्वीराज रासो में शृंगार रस के संयोग-पक्ष को ही प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। वियोग-शृंगार का परिपाक केवल संयोगिता और पृथ्वीराज के अन्तिम मिलन-प्रसंग में दिखाई देता है। यहाँ संयोगिता का वियोग-वर्णन परम्परागत शैली की अनुसरण करता हुआ भी मार्मिक बन पड़ा है। जैसे –

पर घयार बज्जिग विषम। हलिग हिन्दु दल हाल॥
दुतिय चंद पूनिम जिमे। वर वियोग बढि बाल॥
वर वियोग बढि काल। लाल प्रीतम कर छुवौ॥
है कारन हा कान्त। आस अस जानि न फुवौ॥
देषन्त नैन सुझ्झै न दिसि। परिय भमि संथार॥
संजोयिगी जागिन भई। जब बज्जिग घरियार॥

शान्त रस का रासो में प्रायः अभाव ही है। करुण रस की व्यंजना भी कहीं-कहीं हुई है। पृथ्वीराज के बन्दी बनाए जाने पर संयोगिता तथा अन्य रानियों के सती होने का दृश्य बहुत ही करुणाजनक है। पृथ्वीराज रासो के बालक्रीड़ा-वर्णन में वात्सल्य की छटा भी दर्शनीय है। जैसे –

रंजित अंजति नयन। घूंठन डोल भूमि॥
लेत बलैया मात लषि। भरि कपोल मुख चूमि॥
अँगुरिन लग्गि रगि चलत लाल। सर मद्धि उठत गज हंस बाल॥
मिलि बाल जाल कवि रही केलि। बढि रही दंद जनु बीजबेलि॥

इस प्रकार 'पृथ्वीराज रासो' में विविध रसों तथा तदनुकूल विविध भावों की सशक्त व्यंजना में रासोकार को पर्याप्त सफलता मिली है।

2.2.13 रासो की भाषा

रासो की भाषा के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। रासो की भाषा विषयक समस्या इसकी आधारभूत समस्या है क्योंकि इसकी प्रामाणिकता तथा मूल रूप को प्राप्त करने के लिए इसके भाषा विषयक प्रश्न का समाधान भी अत्यन्त आवश्यक है।

डॉ० ग्रियर्सन ने एनसाइक्लोपीडिया बिटानिका में चन्दवरदाई और 'पृथ्वीराज रासो' पर लिखते हुए कहा कि "भाषा विषयक कठिनाई के कारण ये विद्वान् (ग्राऊका, बीम्स और होर्नले) अधिक प्रगति नहीं कर सके। जो कठिनाई किसी समय उपर्युक्त विद्वानों के सामने थी, वही आज हिन्दी के विद्वानों के सामने है।"

रासो की भाषा के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। राजस्थान की अनुश्रुति या परम्परा के अनुसार 'पृथ्वीराज रासो' की रचना पिंगल (ब्रजभाषा) में हुई। डॉ० उदयनारायाण तिवारी के अनुसार लंदन की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी में सुरक्षित 'पृथ्वीराज रासो' की एक हस्तलिखित प्रति के ऊपर फ़ारसी में लिखा है – "चन्दवरदाई लिखित पिंगल भाषा में प्रथुराज का इतिहास"। (वीर काव्य सं. 2005, पृ. 92) इसी अनुश्रुति की पुष्टि आधुनिक युग के फ्रांसीसी विद्वान् तासी ने 1839 ई. में की है। डॉ० तिवारी के अनुसार उन्होंने लिखा है कि रासो की रचना कन्नौजी बोली ब्रज के अन्तर्गत हुई है। (वीर काव्य, सं. 2005, पृ. 154) डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने भी बीम्स और ग्राऊज द्वारा प्रस्तुत रासो की भाषा तथा व्याकरण के विस्तृत अध्ययन को आधार बनाते हुए यह कहा है कि जहाँ तक व्याकरण के ढाँचे का प्रश्न है, रासो की भाषा प्रधानतया 16वीं शताब्दी में साहित्य के क्षेत्र में प्रयुक्त ब्रजभाषा है। यह न तो डिंगल अथवा प्राचीन साहित्यिक मारवाड़ी और न ही अपभ्रंश है किन्तु शब्द-समूह में अपभ्रंशाभास और डिंगल रूपों का प्रयोग रासो में बहुत हुआ है। यह एक शैली मात्र थी जिसका प्रयोग वीर रस सम्बन्धी स्थलों पर अनेक समकालीन कवियों ने किया है, जैसे केशव, तुलसी, भूषण, चन्द्रशेखर आदि। अन्तर केवल इतना है कि युद्धप्रधान होने के कारण ही रासो में इनका प्रयोग आद्योपान्त और अधिक मात्रा में मिलता है। इस शब्दावली के कारण ही रासो की भाषा के डिंगल अथवा अपभ्रंश होने का सन्देह पाठकों को होने लगता है। (काशी विद्यापीठ, रजत जयन्ती अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 177)

इसके विपरीत डॉ० दशरथ शर्मा तथा मनीराम रंगा की राय में परम्परानुसार रासो प्राचीन राजस्थानी रचना है। (राजस्थान भारती, भाग-1 सं-1, सन् 1949, पृ. 101)

डॉ० नामवर सिंह का विचार है कि वस्तुतः अपभ्रंश के बाद प्रायः पश्चिमी भारत में दो मुख्य भाषाएँ उत्पन्न हुईं। दक्षिणी पश्चिमी राजस्थान में डिंगल तथा पूर्वी राजस्थान और ब्रजमण्डल में पिंगल। काव्य-परम्परा की दृष्टि से डिंगल में रचना करने वाले प्रायः चारण हुए और पिंगल के कृति कवि प्रायः भाट। 'पृथ्वीराज रासो'

पूर्वी राजस्थान में मूलतः चंदबलि भट्ट द्वारा अपभ्रंशोत्तरयुग में रचा गया और अनेक प्रक्षेपों के साथ अपने विभिन्न रूपान्तरों में भी वह पिंगल की रचना है। (संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो)

विभिन्न विद्वानों के मतों के अवलोकन से यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि पश्चिमी भारत की किसी बोली पर आधारित भाषा मध्यदेश की परिनिष्ठित एवं भाषा रही है तत्कालीन साहित्य में भी उसी भाषा का प्राचुर्य है। प्राचीन ब्रजी, पूर्वी राजस्थानी कहने से यह बात प्रकट होती है। 'पृथ्वीराज रासो' मूलतः अपने रचनाकाल की परिनिष्ठित मध्यदेशीय काव्य-भाषा में रचा गया होगा जिसका व्याकरणिक ढाँचा अनेक प्रक्षेपों के बाद आज भी सुरक्षित है।

रासो की भाषा के प्रश्न पर विचार करते हुए रासोकार की इस उक्ति की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती जिसके अनुसार उन्होंने अपनी काव्य-भाषा को 'षड्भाषा पुरान व कुरान च कथित मया' कहा है। यद्यपि षड्भाषा एक उक्ति रूढ़ि है तथापि यह रासो की काव्य-भाषा विषयक गुत्थी को सुलझाने में सहायक भी है। वस्तुतः किसी भी काव्य-भाषा (परिनिष्ठित एवं साहित्यिक भाषा) का व्याकरणिक ढाँचा मूलतः किसी भी एक ही बोली या भाषा पर टिका होता है किन्तु उसमें अनेक क्षेत्रों की शब्दावली समाहित होती है। उदाहरणतः मध्यदेश की काव्य-भाषा आजकल खड़ीबोली पर टिकी है किन्तु उसमें अवधी, ब्रजी, भोजपुरी, राजस्थानी, पहाड़ी आदि बोलियों के शब्द भी समाहित है अर्थात् एक सामान्य साहित्यिक भाषा किसी प्रदेश विशेष के प्रयोगों एक सीमित नहीं रह सकती पर वह अपना ढाँचा बराबर बनाए रहती है।

कहने का तात्पर्य यह कि जब चन्दवरदाई ने 'षड्भाषा पुराने च कुरान च कथित मया' लिखा तो उनका अभिप्राय यह नहीं था कि रासो में छह भाषाओं का प्रयोग किया गया है बल्कि उनका आशय यह बताना था कि उनकी काव्य-भाषा में अनेक क्षेत्रीय बोलियों के शब्दों का भी समावेश है। पुराने संस्कृत और कुरान से आशय तुर्की, अरबी, फ़ारसी से होना चाहिए।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने षड्भाषा की इस रूढ़ि पर प्रामाणिक तौर पर विचार करते हुए भिखारीदास के काव्यनिर्णय का निम्नलिखित दोहा उद्‌धृत किया है जो षड्भाषा का विश्लेषण करता है –

ब्रजभाषा मागधी मिलै अमर नागग यवन भाखानि।
सहज फ़ारसी हू मिलै षड् विधि कहत बखान॥

अर्थात् ब्रजी, मागधी (पूर्वी), अमर (संस्कृत), नाग (प्राकृत-अपभ्रंश), यवन (तुर्की) और फ़ारसी सहज रूप से मिलती है यही षड्विधि (षड्भाषा) कहलाती है। रासो की भाषा आदिकालीन साहित्य की भाषा है। आदिकाल को सन्धिकाल कहा जाता है। उस समय की काव्य-भाषा में क्षीयमान अपभ्रंश की भाषाई प्रवृत्तियाँ और उदीयमान अपभ्रंश की भाषाई प्रवृत्तियाँ और उदीयमान भारतीय आर्यभाषाओं का मेल है। अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ पूरी तरह से समाप्त नहीं हुई थीं और आधुनिक भारतीय भाषाएँ पूर्णतः प्रतिष्ठित नहीं हुई थी किन्तु रासो में पुरानी हिन्दी का रूप झलकने लगता है।

पुरानी हिन्दी अपभ्रंश से मिलती-जुलती होने पर भी तीन प्रवृत्तियों के कारण अपभ्रंश से भिन्न एवं विशिष्ट हो जाती है। ये विशेषताएँ हैं – 'क्षतिपूर्ति दीर्घीकरण', 'परसर्गों के प्रयोग की बहुलता' और 'तत्सम शब्दों का पुनर्प्रचलन'।

(i) क्षतिपूरक दीर्घीकरण। जैसे 'अज्ज' का 'आज'। उदाहरणार्थ –

कलि मज्झिल जग्गु को करई आज।

(ii) परसर्गों के प्रयोग की बहुलता (एक ही पंक्ति में के, ने, से का प्रयोग)। उदाहरणार्थ –

ससि के मुख ते अहि से निकसे।

(iii) तत्सम शब्दों का पुनर्प्रचलन। उदाहरणार्थ –

ब्रह्मांड संकियं ब्रह्म ब्रहमांड गहिया

पृथ्वीराज रासो की भाषा में अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी की भाषाई प्रवृत्तियों का मेल है।

अधिकांश विद्वानों द्वारा पृथ्वीराज रासो को एक भाषा पिंगल की कृति मानते हुए भी कुछ आलोचकों ने उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था न होने का आरोप लगाया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं – "भाषा की कसौटी पर कसते हैं तो और भी निराश होना पड़ता है क्योंकि वह बिल्कुल बेठिकाने हैं। उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं। न तो यह भाषा के इतिहास के और न ही साहित्य के जिज्ञासुओं के काम का है। इस टिप्पणी पर अपना मत देते हुए डॉ॰ नामवर सिंह कहते हैं कि इस झुँझलाहट में इतना तथ्य तो है ही कि वैज्ञानिक ढंग से सम्पादित न होने के कारण लिपिकार की प्रमादजनित अनेक त्रुटियाँ रासो के पाठक को कदम-कदम पर परेशानी में डालती हैं। लेकिन जहाँ तक व्याकरण की व्यवस्था का प्रश्न है, ध्यान से देखने पर वह मिलेगी। हाँ, इतना तो ध्यान रखा ही चाहिए कि यह काव्य है, व्याकरण-ग्रन्थ नहीं।

रासो में शब्दों का बहुविधि प्रयोग है। 'धर्म' 'धम्म' भी हो सकता है और 'ध्रम्म' भी। यह बहुत कुछ तो कवि की ओर से ली जाने वाली छूट है। इस छूट की परम्परा भी है। तुलसीदास जैसे कवि भी लिखते हैं– "कासी मग सुरसरि क्रमनाम (कर्मनाशा) तो चन्दवरदाई-कृत मौखिक परम्परा में रूपान्तरित इस राजप्रशस्ति में शब्दरूपों की किंचित् अव्यवस्था स्वभाविक ही है।

रासो में एक ही शब्द के विभिन्न रूपों को देखकर बीम्स ने दो प्रकार की व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। एक तो छन्दानुरोध और दूसरी भाषा की संक्रमणशीलता। निस्सन्देह ऐतिहासिक दृष्टि से पृथ्वीराज रासो ऐसे युग की भाषा

का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें तद्‌भव शब्दों का रूप स्थिर नहीं हो सका था। फलतः एक शब्द के अनेक रूप प्रचलित थे।

पृथ्वीराज रासो में छन्दानुरोध से लघु को गुरु और गुरु को लघु बनाने की प्रवृत्ति है। जैसे – कमलनु को कमलानु और आहार को अहार। रासो में व्यंजन को द्वित्व बनाने की प्रवृति है। जैसे – दह दिसि को दहछिसि, मन्द गज को मदग्गज। रासो में व्यंजन द्वित्व का सरलीकरण करने की प्रवृत्ति है। जैसे – अप्पनो को अपनी, चालुक्क को चालुक। रासो में अनुस्वार का अनुनासिकीकरण करने की प्रवृत्ति है। जैसे – कंपई को कँपे। रासो में छन्द के अनुरोध से संयुक्त रेफ का स्थान विपर्यय करने की प्रवृत्ति है। जैसे – धर्म को ध्रम्म, मर्यादा को म्रज्जाद इत्यादि। रासो में रूपगणन की दृष्टि से सर्वाधिक उल्लेखनीय बात लुप्त विभक्ति पदों का प्रयोग है। जैसे – ले सब दासि सुजान। (सभी सुजान दासियों को लेकर)

पृथ्वीराज रासो के शब्द-समूह में सर्वाधिक संख्या तद्‌भव शब्दों की है। इसके पश्चात् संस्कृत, फिर फ़ारसी आदि के शब्दों की। कनवज्ज समय (लघुतम संस्करण) में कुल 3500 शब्दों का प्रयोग है। इसमें 500 शब्द तत्सम है, 20 फ़ारसी के, शेष तद्‌भव हैं, कुछ देशी शब्द भी अवश्य होंगे।

रासो में भाषा-विचार की समस्याएँ हैं। सबसे प्रमुख समस्या मान्य पाठ की है जिसे भाषा-विचार का आधार बनाया जाए। इसकी भाषा पर विचार करते समय यह नहीं भूलना चाहिए कि यह प्रबन्धकाव्य है और अपने युग का प्रतिनिधि काव्य है। इसमें विविध क्षेत्रों के पात्र है। उनकी चरित्रगत विशेषताएँ हैं फिर भाषा की विविध स्तरीयता स्वभाविक है।

2.2.14 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ॰ नगेन्द्र
3. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ॰ रामकुमार वर्मा
4. हिन्दी वीर काव्य भाग-1 : इतिहास और काव्य, राजमल बोरा, नेश्नल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
5. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली
6. हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, डॉ॰ शिवकुमार शर्मा, अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली
7. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं. : डॉ॰ रामसजन पाण्डेय, संजय प्रकाश, दिल्ली
8. पृथ्वीराज रासो : भाषा और साहित्य, नामवर सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
9. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ : डॉ॰ जयकिशन प्रसाद

❖❖❖

खण्ड – 2 : रासो-काव्य-परम्परा

इकाई – 3 : 'पृथ्वीराज रासो' का महाकाव्यत्व एवं काव्य-सौष्ठव

इकाई की रूपरेखा

2.3.1 उद्देश्य कथन
2.3.2 प्रस्तावना
2.3.3 'पृथ्वीराज रासो' का महाकाव्यत्व
2.3.3.1 महाकाव्य, काव्य और खण्डकाव्य
2.3.3.2 महाकाव्य : विभिन्न परिभाषाएँ
2.3.3.3 महाकाव्य किसे कहते हैं !
2.3.3.4 महाकाव्य के दो प्रधान रूप
2.3.3.5 महाकाव्य का स्वरूप-निर्धारण
2.3.3.5.1 भामह के अनुसार
2.3.3.5.2 दण्डी के अनुसार
2.3.3.5.3 विश्वनाथ के अनुसार
2.3.4 'पृथ्वीराज रासो' का काव्य-सौष्ठव
2.3.4.1 वीरता और शृंगार
2.3.4.2 चरित्र परिचय
2.3.4.3 प्रकृति-चित्रण
2.3.4.4 भाषागत स्थिति
2.3.5 पाठ-सार
2.3.6 बोध प्रश्न

2.3.1 उद्देश्य कथन

चन्दवरदाई द्वारा रचित 'पृथ्वीराज रासो' के महाकाव्यत्व एवं काव्य-सौष्ठव पर आधारित अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. पृथ्वीराज रासो के महाकाव्यत्व का विश्लेषण कर सकेंगे ।
ii. पृथ्वीराज रासो के कथानक से परिचित हो सकेंगे ।
iii. पृथ्वीराज रासो के काव्य-सौष्ठव का आकलन कर मूल्यांकन कर सकेंगे।

2.3.2 प्रस्तावना

चन्दवरदाई-कृत पृथ्वीराज रासो जितना ही लोकप्रिय हुआ उतना ही विवादग्रस्त भी । पृथ्वीराज रासो से सम्बन्धित प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता को लेकर विद्वानों द्वारा लिखे गए अनेक लेखों के बावजूद पृथ्वीराज

रासो को प्रथम महाकाव्य स्वीकार किया गया है। उल्लिखित महाकाव्य में 69 सर्ग है जो किसी काव्य को महाकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित करता है। पृथ्वीराज रासो के अनेक संस्करण प्राप्त होते हैं। रासो के महाकाव्यत्व के साथ उसके काव्य-सौष्ठव पर भी विचार किया गया है। काव्यशास्त्रीय पद्धति पर आधारित पृथ्वीराज रासो को हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा शुक-शुकी संवाद कहकरसम्बोधित किया गया है।

इस इकाई में पृथ्वीराज रासो के महाकाव्यत्व सम्बन्धी अनेक अंगों, उपांगों से परिचित कराया गया है। साथ ही पृथ्वीराज रासो के कथानक से भी रुबरु कराया गया है। किसी भी महाकाव्य का परिचय उसके पात्रों द्वारा तथा वहाँ के वातावरण अर्थात् प्रकृति के द्वारा भी होता है इसलिए कथानक के अन्दर पात्र-चित्रण और प्रकृति-चित्रण को भी सोदाहरण समझाया गया है।

पृथ्वीराज रासो की विशेषताओं की चर्चा करते वक्त कैमास वध और कनवज्जा समय को भी स्पष्ट किया गया है। मार्मिक प्रसंगों के अन्तर्गत कैमास वध का हिन्दी जगत् में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। साथ ही, इसको प्रामाणिक अंग माना जाता है क्योंकि इसी प्रसंग के छप्पय पुरातनप्रबन्ध-संग्रह में प्राप्त हुए हैं। कनवज्ज समय के अन्तर्गत शृंगार, वीर आदि गुण, रस, छन्द, अलंकार की चर्चा की गई है।

2.3.3 'पृथ्वीराज रासो' का महाकाव्यत्व

उनहत्तर सर्गों में विभाजित पृथ्वीराज रासो हिन्दी साहित्य के आदिकाल की महत्त्वपूर्ण रचना है। पृथ्वीराज रासो को विद्वानों ने महाकाव्य की संज्ञा से विभूषित किया है। महाकाव्य के अन्तर्गत जो प्रसंग सामान्य रूप से मिलते हैं वे इस प्रकार हैं – आदि पर्व, दिल्ली किल्ली कथा, अनंगपाल दिल्ली दान, पंग यज्ञ विध्वंस, संयोगिता नेम आचरण, कैमास वध, षड्ऋतु-वर्णन, कनवज्ज समय, बड़ी लड़ाई, बान बंध आदि।

पृथ्वीराज रासो के अन्तर्गत मुख्य रूप से आने वाला 'कैमास वध' और 'कनवज्ज समय' पर चर्चा करना महत्त्वपूर्ण है। पृथ्वीराज रासो चरितप्रधान काव्य है जिसका नायक पृथ्वीराज है। इस महाकाव्य में पृथ्वीराज के विवाह, युद्ध तथा प्रकृति-चित्रण का वर्णन पूरे सर्गों में विशद् रूप से हुआ है। रासो के अन्तिम अंश में पृथ्वीराज द्वारा मुहम्मद ग़ोरी का शब्दबेधी बाण द्वारा वध का वर्णन है। साथ ही पृथ्वीराज की मृत्यु भी हो गई है। पृथ्वीराज रासो की साहित्यिक गरिमा को देखते हुए विद्वानों ने एक स्वर से इसकी प्रशंसा की है। रासो को एक सफल महाकाव्य मानें या विशालकाय काव्य, दोनों रूप में रासो का साहित्यिक सौन्दर्य बिखरा हुआ है। इस ग्रन्थ में वस्तुवर्णन पर कवि ने विशेष ध्यान दिया है। वस्तुवर्णन में रासोकार ने एक सफल कवि-हृदय का परिचय दिया है। नगर, उपवन, वन, सरोवर, दुर्ग सेना और युद्ध आदि के वर्णन अतीव सुन्दर बन पड़े हैं। "हिन्दी का चरित्र पहली बार ही बड़े मोहक रूप में भाषा और संवेदना दोनों स्तरों पर पृथ्वीराज रासो में निखर कर आया है। काव्य-प्रक्रिया यहाँ पूरी तरह निष्पन्न हुई है।" (हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ. 27 , रामस्वरूप चतुर्वेदी) पृथ्वीराज रासो अनेक प्रकार के रसों से समाविष्ट है परन्तु मुख्य रूप से दो प्रधान रसों – वीर और शृंगार का वर्णन यत्र-तत्र मिलता है। साथ ही अन्य रसों की अभिव्यंजना भी रासो में प्रसंगानुसार हुई है। रौद्र और भयानक रसों का चित्रण

भी स्थान-स्थान पर देखने को मिलता है। कहीं-कहीं पर हास्य रस भी प्रयुक्त हुआ है, पर शान्त रस का सर्वथा अभाव है। पृथ्वीराज रासो को छन्दों का अजायबघर कहा जाता है। पृथ्वीराज रासो में 69 प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है जो उस समय के अन्य रासो ग्रन्थ से कहीं अधिक है। 'पृथ्वीराज रासो' में सर्वत्र एक महाकवि की प्रतिभा के दर्शन होते हैं। पृथ्वीराज रासो में गुण, छन्द, रस के अलावा अलंकार का भी दिग्दर्शन होता है। पृथ्वीराज रासो में प्रायः सभी अलंकार मिल जाते हैं। अनुप्रास, श्लेष, वक्रोक्ति, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, भ्रम अनेक अलंकारों का ऐसा सुन्दर प्रयोग कवि ने किया है जिससे उसके काव्यशास्त्र के गूढ़ ज्ञान का परिचय मिलता है।

पृथ्वीराज रासो महाकाव्य के स्तर पर खरा उतरा है या नहीं ,इसके विविध पक्षों का विश्लेषण करने से पता चलेगा। संस्कृत काव्यशास्त्र में महाकाव्य की परिभाषा निरूपित करते हुए कतिपय अनुबन्धों को निर्देशित किया गया है। महाकाव्य को सर्गबद्ध होना चाहिए, दस से अधिक सर्गो की प्रमुखता, नवरंग तथा षड्ऋतु-वर्णन, मंगलाचरण, धीरोदात्त या धीरललित नायक, खलनायक विविध प्रकार के वर्णन जैसे चन्द्रोदय, सूर्योदय, नगरशोभा, युद्ध, आखेट, विवाह, स्वर्गान्तर में छन्द-परिवर्तन, ग्रन्थ के अन्त में महत्त्व कथन इसी प्रकार अनेक महाकाव्य-तत्त्व विद्यमान होते है। संस्कृत काव्यशास्त्र की यह उक्ति रासोकार को ज्ञात तो रही होगी किन्तु इनका समग्रतः पालन नहीं किया गया है।

चन्दवरदाई पृथ्वीराज रासो की तुलना महाभारत से करते है। संस्कृत में ज्ञानकोश के नाम से प्रसिद्ध महाभारत में एक सुक्ति प्रचलित है– "यत्न भारते तन्न भारते-ची भारत" अर्थात् जो महाभारत में नहीं है वह विषय भारत में भी नहीं है। चन्दवरदाई के मन में लोभ था कि मैं ऐसी रचना करूँ जो महाभारत के सदृश विविध ज्ञान और विधाओं का आगार बन सके। चन्दवरदाई की उत्कृष्ट पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

काव्यब समुद्र कर्वाचंद वृत्ता। मुगति से धन ग्यान।
राजनीति वोहिय सुफल। पार उतारन यान॥
छन्द प्रबन्ध कवित्तल जाति। साटक, गाह, दुहत्थन॥
लघु गुरु मंडित खंडि याहि। पिंगल अमर, भरथ्थ॥
पारासर जो पुत्रा वियामह। सतवंती ग्रभ्यंक गुरु भासह॥
प्रत्वत अठार सवा लाख लक्ष्वै। तौ भारत, गुरु लत्वआ विसप्पै॥

इन पंक्तियों में कवि ने अपने काव्य को समुद्र के समान गम्भीर, राजनीति से परिपूर्ण, पिंगल के विविध छन्दों से भरा हुआ, अमरकोश तथा भारत के विषयों में समवेत कहा है, पराशर के पुत्र व्यास की रचना महाभारत के अट्ठारह पर्व, सवा लाख श्लोक तथा महाभारत के तात्त्विक विषयों की विशिष्टता से उजागर होने वाला माना है। पृथ्वीराज रासो के महाकाव्यत्व को समझने के लिए काव्यशास्त्रीय पद्धति को भी समझना होगा।

2.3.3.1 महाकाव्य, काव्य और खण्डकाव्य

महाकाव्य को समझने से पूर्व हमें प्रबन्धकाव्य के उपर्युक्त तीन प्रधान भेदों के मध्य अन्तर को संक्षेप में समझ लेना चाहिए। महाकाव्य उसे कहते हैं जो जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र को अपने भीतर समेट लेता है तथा जिसमें जीवन के प्रत्येक क्षण की अभिव्यक्ति होती है। उसमें व्यक्ति के समग्र जीवन के साथ-साथ जातीय जीवन की भी पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। काव्य का आधार-बिन्दु तो महाकाव्य ही है परन्तु वह महाकाव्य की तरह विस्तृत और विशद् नहीं होता है। डॉ॰ त्रिगुणायत 'काव्य' को महाकाव्योन्मुखी प्रबन्धकाव्य कहना अधिक पसंद करते हैं। अधिकांश विद्वान् प्रबन्धकाव्य के तीन भेद न मानकर दो ही भेद मानते हैं – (i) महाकाव्य और (ii) खण्डकाव्य। महाकाव्य मे जहाँ जीवन के प्रत्येक अंग का विशद् चित्रण होता है वहीं खण्डकाव्य में जीवन की किसी एक इकाई का चित्रण किया जाता है।

2.3.3.2 महाकाव्य : विभिन्न परिभाषाएँ

भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्रियों ने महाकाव्य की विभिन्न परिभाषाएँ निश्चित की हैं, जिनमें परस्पर पर्याप्त अन्तर है। वस्तुतः विभिन्न युगों में 'महाकाव्य' का स्वरूप बदलता रहा है। इसी कारण आचार्यों ने युगानुरूप उसके मानदण्ड स्थिर किए हैं। अधिकांश विद्वानों ने रामायण और महाभारत को महाकाव्य का आदर्श रूप स्वीकार कर उन्हीं के आधार पर महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किए हैं। दूसरी ओर कतिपय विद्वानों ने अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ आदि के अलंकृत ग्रन्थों को ही महाकाव्य घोषित किया है। यही वैभिन्य पाश्चात्य साहित्य समीक्षकों में भी देखने में आता है। अरस्तु ने होमर के इलियट और ओडेसी को आदर्श ग्रन्थ मानकर महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किये परन्तु कालान्तर में 'इनिड' नामक काव्य पर अरस्तु द्वारा निर्धारित लक्षण लागू नहीं हुए, क्योंकि यह सर्वथा भिन्न युग में रचित भिन्न कोटि का महाकाव्य था। 'इनिड' और उसके परवर्ती महाकाव्यों पर अरस्तु प्रदत्त महाकाव्य की परिभाषा लागू नहीं होती है और न ही 'इनिड' को आदर्श मानकर निश्चित की गई महाकाव्य की परिभाषा ही अन्तिम रूप से स्वीकृत है। इसीलिए प्राचीन भारतीय और पाश्चत्य साहित्याचार्यों की किसी भी एक परिभाषा को अन्तिम अथवा निर्णायक रूप में स्वीकार कर महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षण निर्धारित करना असम्भव है।

2.3.3.3 महाकाव्य किसे कहते हैं !

महाकाव्य शब्द 'महत्' और 'काव्य ' दो शब्दों से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है – महान् काव्य। महाकाव्य शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग वाल्मीकीय रामायण में मिलता है। उत्तरकाण्ड में भगवान् राम ने लवकुश द्वारा रामायण का पाठ किये जाने के उपरान्त उनसे पूछा–

किंप्रमाणमिदं काव्यं का प्रतिष्ठा महात्म्न।
कर्त्ता काव्यदस्य महतः क्वम चासौ मुनि पुंगव॥

अर्थात् यह काव्य कितना बड़ा है और इसमें किस महात्मा की प्रतिष्ठा की गई है ? इस महान् काव्य के रचयिता श्रेष्ठ मुनि कहाँ हैं ? श्रीराम द्वारा किये गए इस प्रश्न से महाकाव्य के तीन मूलभूत लक्षणों की ध्वनि निकलती है – (i) महाकाव्य आकार में विशाल होता है, (ii) इसमें किसी महात्मा या महापुरुष की प्रतिष्ठा की जाती है तथा (iii) इसका रचयिता कोई श्रेष्ठ मुनि अर्थात् महान् कलाकार होता है । ये लक्षण संसार के सभी महाकाव्यों में समान रूप से पाए जाते हैं।

2.3.3.4 महाकाव्य के दो प्रधान रूप

सम्पूर्ण विश्व के साहित्य में महाकाव्य के दो प्रधान रूप मिलते हैं – (i) मौखिक और (ii) लिखित । इन दोनों के मूल तत्त्व एक ही हैं। साहित्यशास्त्रियों ने मौखिक रूप को अनुकृत साहित्यिक अलंकृत महाकाव्य माना है । यूरोप में होमर के इलियट और ओडेसी जैसे प्राकृतिक या 'बियोबूल्फम', 'सॉग ऑफ रोला' जैसे लोक महाकाव्यों को मौखिक महाकाव्य माना जाता है क्योंकि इनका कोई ऐसा प्रामाणिक रूप नहीं मिलता जिसके विषय में अधिकारपूर्वक यह कहा जाय कि यही कवि द्वारा रचित मूल रूप है । इनमें से प्राकृतिक महाकाव्यों का तो फिर भी एक निश्चित स्वरूप रहता है परन्तु मौखिक महाकाव्य लगातार परिवर्तित होते रहते हैं, यद्यपि होते दोनों ही मौखिक हैं । अलंकृत महाकाव्यों में वर्जिल का 'इनिड' तथा मिल्टोन का 'पैराडाइज लास्ट' जैसे महाकाव्य माने जाते हैं । इन्हें शास्त्रीय महाकाव्य कहा जाता है ।

2.3.3.5 महाकाव्य का स्वरूप-निर्धारण

भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों ने महाकाव्य के स्वरूप पर पर्याप्त विचार किया है । पाश्चात्य विद्वानों में अरस्तु, एबर, क्राम्बी आदि विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टियों से महाकाव्य के लक्षणों में नवीन तथ्य प्रस्तुत किये हैं । यहाँ भारतीय आचार्यों के मतों की संक्षिप्त समीक्षा करना प्रासंगिक है।

2.3.3.5.1 भामह के अनुसार

महाकाव्य के लक्षणों पर सर्वप्रथम विचार करने वाले भारतीय आचार्यों में भामह का नाम उल्लेखनीय है । भामह का मानना है कि महाकाव्य वह है जो सर्गों में विभक्त हो तथा महान् चरित्रों को दर्शाता हो । भामह के अनुसार उसका आकार भी बड़ा होना चाहिए तथा वह ग्राम्य शब्दों से रहित, अर्थ-सौष्ठव-सम्पन्न एवं अलंकारों से युक्त होना चाहिए । भामह के अनुसार महाकाव्य मन्त्रणा, दूतसम्प्रेषण, अभियान, युद्ध, नाटक का अभ्युदय की पंच-सन्धि से समन्वित होना चाहिए, उसमें चतुवर्ग का वर्णन होने पर भी अर्थ-निरूपण का प्राधान्य हो, वह लौकिक आचार एवं रसों से युक्त हो। साथ ही, महाकाव्य में वंश, वीर्य एवं शास्त्रादि से प्रथम नायक का उत्कर्ष बतलाकर पुनः किसी इतर व्यक्ति के उत्कर्ष-निरूपण की इच्छा से उसमें नायक का वध होना न बताया गया हो क्योंकि यदि उसका अभ्युदय इच्छित न हो तो पूर्व से ही उसका स्तवन नहीं करना चाहिए।

2.3.3.5.2 दण्डी के अनुसार

महाकाव्य के विषय में दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में कुछ नवीन तथ्यों का उद्घाटन किया है। उनके अनुसार महाकाव्य के आरम्भ में आशीर्वाद ,नमस्कार एवं वस्तु-निर्देश की योजना होनी चाहिए। विरहजन्य प्रेमविवाह, कुमारोत्पत्ति, विचार-विमर्श, राजदूतत्व, अभियान, युद्ध तथा नायक की विजय आदि का वर्णन महाकाव्य में अपेक्षित है। महाकाव्य में प्राकृतिक चित्रण एवं सामाजिक विधि-विधानों का संयोजन भी अपेक्षित है। इसमें नायक का चतुर एवं उदात्त होना अत्यावश्यक है। इसमें चतुवर्ग के विधान का संयोजन आवश्यक है। दण्डी के अनुसार महाकाव्य में नायक के उत्कर्ष के लिए प्रतिनायक के वंश तथा पराक्रम का भी वर्णन आवश्यक है।

भामह और दण्डी द्वारा निर्देशित लक्षणों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि वस्तुतः दोनों में कोई विशिष्ट भेद नहीं है। प्रतीत होता है कि दण्डी ने भामह के आधार पर ही कुछ विशेषताओं को समाविष्ट कर महाकाव्य के लक्षण प्रस्तुत कर दिए। प्रमाणस्वरूप काव्यालंकार और काव्यादर्श से उद्धरण प्रस्तुत हैं –

मन्त्र दूतप्रयाणाजिनायकाभ्युपदयैश्च् यत् ॥

(1/12, काव्यालंकार)

मन्त्र दूतप्रयाणाजिनायकाभ्यु आदयैरपि ॥

(1/17, काव्यादर्श)

2.3.3.5.3 विश्वनाथ के अनुसार

भारतीय आचार्यों में भामह एवं दण्डी के अतिरिक्त आचार्य रुद्रट, आचार्य कुन्तक तथा आचार्य विश्वनाथ ने भी महाकाव्य के विषय में अपने विचारों को प्रस्तुत किया है। आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत महाकाव्य का लक्षण सर्वसम्मति से स्वीकृत एवं मान्य है। वस्तुतः उनके द्वारा प्रस्तुत लक्षण अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का समन्वय है जिसे उन्होंने अपनी मौलिक उद्भावनाओं के साथ पूर्ण विस्तार दिया है। 'साहित्यदर्पण' में महाकाव्य के लक्षणों पर विचार करते हुए आचार्य विश्वनाथ का कथन है –

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः
सद्वंश: क्षत्रियोवापि धीरोदात्त गुणन्विति।
एकवंश भवा भूपा कुलजा बहवो द्रविवा,
शृंगार वीर शान्तानामे कोंद्रगी रस इष्यणते॥

अर्थात् महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए। महाकाव्य का नायक देवता अथवा धीरोदात्त और गुणयुक्त कुलीन क्षत्रिय होना चाहिए। एक देश के अनेक राजा भी इसके नायक हो सकते हैं। महाकाव्य में शान्त, वीर, शृंगार में से कोई एक अंगी तथा शेष रस गौण रूप में प्रयुक्त होते हैं। महाकाव्य में सभी नाट्य-सन्धियों की योजना होनी चाहिए। महाकाव्य का कथानक लोकप्रसिद्ध और ऐतिहासिक होना चाहिए। महाकाव्य का उद्देश्य या फल पुरुषार्थ-चतुष्टय में से एक होता है। महाकाव्य के प्रारम्भ में नमस्कार, वस्तु-निर्देश और आशीर्वाद कथन होना चाहिए। महाकाव्य में खल-निन्दा तथा सज्जनों की प्रशंसा की जानी चाहिए। महाकाव्य आठ सर्गों में विभक्त होना चाहिए। महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग किया जाना चाहिए। महाकाव्य का आकार अत्यधिक बृहत् अथवा अत्यन्त लघु नहीं होना चाहिए। महाकाव्य के सर्गान्त में भावी सर्ग की सूचना होनी चाहिए। महाकाव्य में प्राकृतिक पदार्थों, ऋतुओं, शिकार, विवाह, प्रेम, विरह आदि विविध प्रकार के वर्णन होने आवश्यक हैं।

2.3.4 'पृथ्वीराज रासो' का काव्य-सौष्ठव

पृथ्वीराज रासो के कथानक के विषय में डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है – "रासो का कथानक मध्यकाल में प्रचलित अनेक कथानक रूढ़ियों से कसा हुआ है। कवि परम्परा से सुपरिचित है, उसका पालन करना और मौलिक उद्‌भावना द्वारा विकास करने की प्रतिभा से सम्पन्न है। मध्यकालीन प्रबन्धकाव्यों के पात्र प्रायः साँचे में ढले होते हैं। वे अच्छे हैं तो अच्छे, बुरे हैं तो बुरे। इस स्थिति में रासोकार का चरित्र-चित्रण सुखद आश्चर्य का विषय है। पृथ्वीराज कोई साँचे में ढला पात्र नहीं है। वह अच्छाइयों एवं कमजोरियों का पुंज है। आज की भाषा में कहें तो पृथ्वीराज यथार्थवादी पात्र है बहुत दूर तक । निस्सन्देह उसके चरित्र-निर्माण पर मध्यकालीन प्रबन्धकाव्यों के आदर्शवाद की भी छाप है।"

पृथ्वीराज को अनेक संज्ञाओं से विभूषित किया जा सकता है। क्षत्रियवंशी पृथ्वीराज द्वारा किये गए कर्मों का फल पृथ्वीराज को इसी जीवन में मिलता है। ऐतिहासिकता के धरातल पर पृथ्वीराज रासो में चाहे जितने मतभेद हों, उसमें वर्णित घटनाओं के वर्णन वास्तविक हैं। पृथ्वीराज के अन्तस्पटल पर जितनी भी विचारधाराएँ जन्म लेती हैं, उनका प्रकटीकरण रासो में कर दिया गया है। रासो पृथ्वीराजयुगीन सामन्ती मूल्यों का मनोरंजक दस्तावेज है। पृथ्वीराज का चित्रण जिस प्रकार से चन्दवरदाई ने किया है वह उतना कल्पनाशील नहीं है जितना कि वास्तविक है। चन्दवरदाई को वीणापाणि माँ सरस्वती का आशीर्वाद प्राप्त था। पृथ्वीराज का चित्रण देखने के बाद चन्दवरदाई के विषय में बहुत से विद्वान् यह कहते हुए देखे जाते हैं कि चन्दवरदाई पृथ्वीराज का सच्चा मित्र एवं शुभचिन्तक था। 'एक पंथ दो काज' की तरह रासो में पृथ्वीराज के साथ-साथ चन्दवरदाई का भी चित्रण हो गया है। दोनों मित्रों की मैत्री-परीक्षा का प्रमाण कयमास-वध है। वस्तुतः पृथ्वीराज रासो चन्दवरदाई की मित्रता का प्रमाणपत्र है। पृथ्वीराज का प्रधान अमात्य और सर्वाधिक विश्वस्त मंत्री कैमास था जिसका संस्कृत में कदम्बवास नाम उल्लिखित है। पृथ्वीराज के बचपन में उनकी माँ ने उसी की देख-रेख में राजकाज चलाया था। संयोगिता के विरह में पृथ्वीराज की स्थिति बहुत दयनीय हो गई थी। शासन का भार कैमास को सौंपकर वे दिनभर वन में आखेटार्थ विचरण करते थे–

तिहि तप आखेटक भभइ थिर न रहइ चहुवान।
वर प्रधान जुग्गु नि प्ररह घर रख्खइ परवान॥

पृथ्वीराज विरह की अग्नि में जल रहे थे। उनके भीतर स्थिरता नहीं थी। उनकी आँखें संयोगिता को देखने के लिए व्याकुल थीं। राज-काज से उनका मोह भंग हो गया। एक विरही के भाँति वे वन में घूमते रहते थे। कैमास पर शासन का दायित्व था किन्तु वह प्रजा के सुख-दुःख से परे भोग-विलास में रत हो गया। राजा के प्रतिनिधि का इस स्थिति में रहना राज्य एवं प्रजा के नाश का सूचक है। कैमास की बुद्धि और धर्म क्षीण हो गए। जहाँ उसके हाथों में प्रजा-रक्षा के लिए तीर और तरकश होने चाहिए थे वहाँ उसके हाथ में रमणियों के चीर थे। कैमास वासना की शैय्या पर आरूढ़ था –

राजं जा प्रतिभा सचीन धर्मा रामा रमे सा मतीन।
नितीरे कर काम वाम बसना संगेन सिज्जाम गतिः॥

कर्णाटी नामक दासी पर अनुरक्त रहने वाला कैमास रात्री विश्राम उसके महल में करता था। पृथ्वीराज की बड़ी रानी इच्छिनी को उसकी ये अकर्मण्यता अच्छी नहीं लगी। उसने पृथ्वीराज को सन्देश भिजवाया। पृथ्वीराज ने रात में ही आकर कैमास की हत्या कर दी। अगले दिन प्रातःकाल घटनाक्रम से अनभिज्ञ हो पृथ्वीराज ने दरबार में प्रश्न किया – "कैमास कहाँ है ?" किसी से प्रत्युत्तर न पाकर पृथ्वीराज ने चन्दवरदाई से इस विषय में पूछा। चन्दवरदाई ने उत्तर दिया – "मैं पाताल और आकाश के बीच का सब रहस्य बता सकता हूँ किन्तु दाहिम (कैमास) दुर्लभ हो गया है, मुझसे कहा नहीं जाता। पृथ्वीराज ने चन्दवरदाई से कहा – तुम यह क्या आकाश-पाताल की बातें कर रहे हो। यह बताओ कि कैमास कहाँ है या "मुझे हरसिद्धि (देवी) का वर प्राप्त है" ऐसा कहना छोड़ दो। निकम्मे कवि ! काव्य-रचना छोड़ दो।"

कहा भुजंग कहा उदै सुर निकमु कव्ब कवि षंडु।
कै कैमास बताइ मोहि कइ हरसिद्धि बर छंडु॥

चन्दवरदाई ने सोचा कि अब तो मुझे सत्य बताना ही होगा। वस्तुतः माँ सरस्वती ने चन्दवरदाई के स्वप्न में आकर उसे सब कुछ ज्यों-का-त्यों वर्णित कर दिया था। चन्दवरदाई काव्य में निमग्न हो प्रवाहित हो उठते हैं –

एकु बान पुहुमी नरेस कयमासह मुक्कवउ
उर उप्पडरि षर हरि उबीर कष्षुन्तकर चुक्कदउ
बीउ बान संधानि हनउ सोमेसर नंदन
गाडउ करि निग्गहउ षनिव खोदउ सम्भरि धनि
थर छंडि न जाई अभाग रउ गारइ गहड जुगुन षरउ
इमें जपइ चंद बिरद्दआ सु कहो निमद्दि हि इह प्रलउ।

अर्थात् पृथ्वीनरेश तुमने एक बाण कैमास को मारा। वह उसके वक्ष पर खरहराता हुआ काँख से चूक गया (निकल गया)। दूसरे बाण का सन्धान करके तुमने उसे मार डाला। शाकम्भरी नरेश पृथ्वीराज तुमने खन खोद कर उसे गड्ढे में डाल दिया। अब उस अभागे से वह थल छोड़ा नहीं जा रहा है। उसे गुणरूपी पाषाण ने दृढ़ता से पकड़ रखा है। चन्दवरदाई कहता है कि यह प्रलय कहाँ निपटेगा। तुम्हारे इस अकार्य का क्या फल होगा।

कवि-मर्यादा का निर्वाह करने वाले चन्दवरदाई इस बात से वाकिफ थे कि पृथ्वीराज सामन्ती है। मध्ययुगीन सामन्त निडर तथा निरंकुश होते थे। उनके एक इशारे पर चन्दवरदाई को बन्धक बनाया जा सकता था परन्तु निर्भीक् कवि चन्दवरदाई ने निडर होकर कवि-मर्यादा का पालन किया। चन्दवरदाई का प्रत्युत्तर सुनकर राज्य में खलबली मच गयी। राज्याधिकारी अपने-अपने घर चले गए, पृथ्वीराज को रात भर नींद नहीं आयी। राज्य की तत्कालीन दशा का वर्णन करते हुए चन्दवरदाई कहते हैं –

राजमज्झि सम्भयउ पट्ट दरबान परट्ठि
बहुर सब्ब सामन्त मनउ लग्गिय सिर लट्ठिय
रहयउ चंद बिरदिया विमुष मुख पग न सरक्यरउ
गिम्हच तेज बर भट्ट रोस जल षिन षिनि सुक्यरउ
रत्तिरी कंत जग्गं त रइ चली घर घ्घ रि बत्तयरी
देहिमउ दोस लग्यगउ षरउ मिटइ न कलि सु उत्तरी

चन्दवरदाई न्यायप्रिय हैं। वे कैमास की सहधर्मिणी को कैमास का शव दिलाने का वचन देकर पृथ्वीराज से मिलते हैं और उन्हें कर्तुम-अकर्तुम का भान कराते हैं –

रावन किनि गड्डियउ क्रोध रघुराय बान दिनि
बालि किनि गड्डियउ सुत सुग्रीव जीवलिय
चंद किनि गड्डियउ कीय गुरुदार सो किल्लीउ
गड्डियउ न इंदु गौतम रिषी बल सराप छंडिय जिनी
इह रोस दोस पृथिराज सुन ममगड्डिय सम्भ र धनी

अर्थात् "रावण ने पराई स्त्री का हरण किया था। क्रुद्ध राम ने उसे बाण से मारा किन्तु उसका शव नहीं छिपाया था। इसी प्रकार बाली का वध किया गया किन्तु उसका भी शव नहीं छिपाया था। चन्द्रमा ने गुरुमाता के साथ रमण किया किन्तु क्या उसके शव को किसी ने पृथ्वी में गाढ़ा ! अपनी सहधर्मिणी कुन्ती के साथ रमण करने के अपराध में पाण्डु ने सूर्य को नहीं गाढ़ा। गौतम ने भी अहल्या के साथ रमण करने वाले इन्द्र को नहीं गाढ़ा। हाँ ! शाप अवश्य दिया। कैमास के इस दोष पर इतना रोष करना अनुचित है। सुनो साम्भरधनी ! कैमास को मत गाढ़ो। कैमास की पत्नी अपने पति के शव के साथ सती होना चाहती है। कैमास का शव उसे दीजिए।" चन्दवरदाई कैमास का शव उसकी पत्नी को दिलाता है जिसके साथ वह सती हुई। इस प्रसंग में दोनों मित्रों के मध्य जो विद्वेष का भाव पनपा था उसे आपस में एक-दूसरे को गले लगाकर दूर किया गया। मित्र-मिलन का जैसा मार्मिक चित्रण कवि ने किया है, वह अनुपम है –

दोइ कण्ठ लग्गिय गहन नयनह जल गल न्हा न

अर्थात् दोनों मित्र गहन भाव से एक-दूसरे के कण्ठ लगे। नयनों के जल से भीग कर स्नान किया।

पृथ्वीराज के ओज गुण का चित्रण प्रायः युद्ध के प्रत्येक प्रसंग में हुआ है। संयोगिता विवाह के प्रसंग में अपने सामन्तों-सेनापतियों को सम्बोधित करते हुए पृथ्वीराज का कथन है – "मुझे मरण का भय दिखा रहे हो। तुम्हारी बुद्धि नष्ट हो गई है जो तुम मुझे मृत्यु का भय दिखा रहे हो। क्या यम की चिट्ठी के बिना वह सम्भव है ! तुमने भीम को हराया, इसी का गर्व तुम्हें हो गया है। मैंने मुहम्मद ग़ोरी जैसे प्रतापी योद्धा को हराया है। हिन्दू और तुरुक दोनों मेरे शरणागत है, उसे तुम शरणागत करना चाहते हो। तुम शूर सामन्त समझ नहीं रहे हो। मेरे ऊपर इतना बड़ा बोझ मत डालो।"

पृथ्वीराज रासो का 'कनवज्ज समय' कथानक की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पृथ्वीराज और जयचन्द के मध्य गहरी शत्रुता थी। जयचन्द की राजधानी कन्नौज थी। दलपंगु (अर्थात् ऐसा नरेश जिसकी सेना इतनी विशाल हो कि उसे प्रयाण ही न करना पड़े, जहाँ आक्रमण करना हो वहाँ तक सेना ही रहे, यानी जिसकी सेना चलती न हो, पंगु हो) की उपाधि से नवाजे गए जयचन्द अपने समय में उत्तर भारत के प्रमुख शासक थे। पृथ्वीराज को अपमानित करने की दृष्टि से जयचन्द ने उसकी प्रतिमा यज्ञसभा के द्वार पर स्थापित करवा दी। इधर संयोगिता पृथ्वीराज की वीरता का वर्णन सुन चुकी थी। वह उन पर इतनी मन्त्रमुग्ध थी कि उसने जयमाल पृथ्वीराज के गले में डाल दी जिससे जयचन्द ने क्रोधित होकर संयोगिता को अन्य दासियों के साथ गंगातट पर स्थित एक महल में रहने के लिए भेज दिया। अपनी प्रतिमा को यज्ञसभा के द्वार पर स्थापित करने का समाचार सुन पृथ्वीराज एक ओर तो स्वयं को अपमानित महसूस कर क्रोध की अग्नि में जल रहे थे वहीं साथ ही संयोगिता के प्रेम में अनुरक्त भी हो गए थे। पृथ्वीराज चन्दवरदाई सहित कन्नौज कूच करने की तैयारी में थे। इस प्रसंग में अवसर पाते ही कविवर चन्दवरदाई ने षड्ऋतु का मनमोहक वर्णन किया है। पृथ्वीराज को कन्नौज की ओर प्रस्थान करने से रोकने के लिए उनकी प्रत्येक रानी द्वारा पृथक्-पृथक् एक-एक ऋतु में रोकने का वर्णन मिलता है। भारतीय वर्ष में कुल छह ऋतुएँ उल्लिखित हैं। पृथ्वीराज की प्रत्येक रानी उन्हें एक-एक ऋतु में रोक लेती है। पृथ्वीराज सर्वप्रथम बड़ी रानी इच्छिनी के पास जाते है। इच्छिनी के उत्तर की प्रतीक्षा में पृथ्वीराज स्थिर खड़े हैं परन्तु इच्छिनी का हृदय और प्राण अवरुद्ध हो गए हैं। उनके मुँह से आवाज नहीं निकलती है, कण्ठ अवरुद्ध हो गया है –

प्रान ज्बातब दोनों चलै आन अटकवे कण्ठ

चन्दवरदाई ने वसन्त ऋतु का चित्रण बहुत ही मार्मिक ढंग से किया है –

मवरि अंब फुल्लिग कदंब रजनी दिघ दीसं
भवर भाव भुल्ले भ्रमंत मकरंदय सीसं
बहत बात प्रज्जिलित मौर अति विरह अगिनकिय
कुह कुहंत कल कण्ठ पत्र राषस रति अग्गिय

पय लग्गि प्रान पति बीनवों नाह नेह मुझ चित धरहु
दिन-दिन अवद्धि जुटवन घटिय कंत वसन्त गम करहु

वसन्त ऋतु प्रसंग है। बड़ी रानी इच्छिनी कहती है – "आम की मंजरी आ गई है, कदम्ब फूले हैं, रातें दीर्घ हैं। भ्रमर मकरन्द-पान में मग्न और भ्रमित होकर इधर-उधर गुंजार रहे हैं। वायु बहती हुई विरहाग्नि का ताप दे रही है। कोकिल कुहू-कुहू बोलकर रति की आग लगा रही है। हे नाथ ! आपके पैरों पड़ती हुई विनती करती हूँ। मेरे प्रति प्रेम का भाव धारण करो, यौवन का काल दिनों-दिन घट रहा है, वसन्त में गमन मत करो।" परन्तु पृथ्वीराज कन्नौज जाने के लिए उत्कण्ठित हैं। वे मित्र चन्दवरदाई से सहयोग की अपेक्षा करते हैं। चन्दवरदाई ऋतु के माध्यम से ही इससे उबरने का रास्ता बताते हैं। 'ऋतु' शब्द का उपयोग स्त्रियों के मासिक धर्म की स्थिति के लिए भी होता है। चन्दवरदाई ने रास्ता सुझाया –

रोष भरै उर कामिनी, होई मलिन सिर अंग।
उहि रिति त्रिय न मावई सुनि चुहान चतुरंग॥

इसी प्रकार एक-एक कर सभी रानियाँ पृथ्वीराज को छहों ऋतुओं में रोकने का उपक्रम करती रहती हैं।

रासो के अनुसार पृथ्वीराज कन्नौज के लिए संवत् 1191 में चैत्र मास की तृतीया तिथि के दिन गमन करते है। किसी कार्य के लिए घर से निकलने पर मार्ग में देवी, देवता, नदी आदि के दर्शन मात्र से शुभ होने की सूचना मिल जाती है। पृथ्वीराज को रास्ते में यमुना और गंगा के दर्शन होते हैं।

प्रातःकाल कन्नौज नगर दिखाई दिया। कवि को यहाँ उद्यान-वर्णन एवं नगर-वर्णन की कथानक-रूढ़ि के पालन का अवसर मिलता है। चन्दवरदाई कन्नौज नगर का वर्णन अत्यन्त मनमोहक ढंग से करते हैं। सर्वप्रथम उद्यान-वर्णन अनन्तर नगर-वर्णन करते हैं। नगर-वर्णन के अन्तर्गत रत्न-मोती-मणि-माणिक की दूकानों का वर्णन करते हैं। नाके-नाके पर तमोली हैं, पान खाकर थूकने से कीचड़-सा हो गया हैं। कवि कहता है कि नगर-वर्णन करने लगूँगा तो बहुत देर हो जाएगी इसलिए जयचन्द के द्वार चला जाय। नगर-कोतवाल पृथ्वीराज और चन्दवरदाई को जयचन्द के महल पहुँचाता है। चन्दवरदाई जयचन्द को हाथ उठाकर आशीर्वाद देते हैं तदनन्तर जयचन्द और कवि चन्दवरदाई का हास्यपूर्ण वाद-विवाद-संवाद होता है। बरद्दिया उपाधि से विभूषित चन्दवरदाई से जयचन्द वरदाई और बरध बैल में अन्तर करता हुआ पूछता है–

मुह दरिद्र अरु तुच्छ तन जंगल राव सुहद्द
बन उजार पसु तन चरन, क्यों दूबरों बरद्द

अर्थात् मुख मण्डल से दारिद्र्य टपकता है, शरीर क्षीण है, जंगल की सीमा पर रोक है? वन उजड़ गया है, पशु चर नहीं पाता, क्या कारण है कि बर्द (बैल-बरद्दिया) दुबला है ?" चन्दवरदाई उत्तर देते हैं कि – "पृथ्वीराज ने दुष्ट शत्रुओं को पराजित किया। वे वन में पले। डाल, मूल, वृक्ष पकड़ कर छिप गए। उनमें से अनेक दाँतों में तिनके-दूब रखकर चौहान की शरण में गए। इससे पत्ते, दूब आदि की कमी पड़ गयी और बर्द दुबला हो गया।"

जयचन्द कवि चन्दवरदाई से पृथ्वीराज के विषय में पूछता है कि – "वह कैसा है, उसकी कितनी बड़ी फौज है।" इस पर कवि ने जो उत्तर दिया वह उसकी प्रत्युत्पन्नमति का उदाहरण है – "बरस तीस छह अग्गहरौ" अर्थात् "छह वर्ष आगे तीस यानी छत्तीस।"

वार्तालाप के दौरान राजमहल में घटी घटना ने जयचन्द की आँखें खोल दीं। पृथ्वीराज के महल में रहने वाली एक दासी जयचन्द के यहाँ रहने लगी थी जिसके केश हमेशा खुले रहते थे परन्तु पृथ्वीराज को देखते ही उसने अपना सिर ढँक लिया। जयचन्द को शंका हुई कि कहीं! यह पृथ्वीराज तो नहीं हैं। राजदरबार में घटना के पश्चात् अनेक तरह की बातें होने लगीं। जितने मुँह उतनी बातें हो रही थीं। अन्ततः पृथ्वीराज पहचान लिया जाता है और जयचन्द पृथ्वीराज पर आक्रमण करने का आदेश देता है। आगे संयोगिता से पृथ्वीराज का मिलन होता है। स्वयं नगर की ओर प्रयाण कर पृथ्वीराज सामन्तों से युद्धक्षेत्र में जाने के लिए कहता है। इधर जयचन्द की फौज अपने पूरे दल-बल के साथ पृथ्वीराज के सामन्तों तथा सेना पर आक्रमण करती है उधर पृथ्वीराज नगर घूमने निकले और गंगा तट पर जा पहुँचे –

इते सेन चढि पंगबर है गै दिसा निसान
लच्छिन नैर नदिदं करि गंग सुपलौध्यान

संयोगिता की सखी ने झरोखे से पृथ्वीराज को मछलियों को मोती डालते देखा। उसने संयोगिता को सूचित किया। संयोगिता यह दृश्य देखकर अत्यन्त करुणार्द्र हो गई। गंगातट पर पृथ्वीराज और संयोगिता का मिलन होता है। पृथ्वीराज संयोगिता को घोड़े पर बिठाकर दिल्ली ले जाना चाहता था परन्तु संयोगिता पिता के सेना के सामने घोड़े पर बैठने से लज्जा-अनुभव करती है। उसके मन में चौहान के प्रति एक प्रश्न उठता है कि क्या चौहान उम्र भर मेरा साथ देगा ?

किम हय पुट्ठिहि आर हौं घटि दल संगह राज।
भीर परत जो तजि चल्यौ तब मो आवे लाज॥

पृथ्वीराज संयोगिता से कहता है, मन में किसी प्रकार की शंका मत पालो, मन को हल्का करो। मैं जयचन्द की समस्त सेना का संहार कर दूँगा। सुन्दरी तब तो तुम्हें घोड़े पर बैठते समय लज्जा नहीं आएगी ?

तब हसि जंप्यो नृप बहन गहर न कीजिय अब्ब।
सब्बस पंग दल संहरौ संद्रुी लाज न तब्ब॥

संयोगिता को सोचने-समझने का अवसर मिलता इसके पूर्व ही पृथ्वीराज संयोगिता की बाँह पकड़ उसे घोड़े पर बिठा लेता है। घोड़े पर पृथ्वीराज और संयोगिता ऐसे बैठे थे मानों पूर्ण चन्द्रमा सूर्य के साथ जुड़ कर बैठ गया हो –

हय संजोगि आरुहिय पुट्टी लग्गीग सो वाम नृप
पति राका पूरन प्रमान अरक बैठे सु सूर बिप

पृथ्वीराज द्वारा संयोगिता को घोड़े पर चढ़ाते समय संयोगिता के लजाने का भी कवि नेअद्‌भुत चित्रण किया है। इस प्रसंग पर टिपणी करते हुए डॉ॰ नामवर सिंह लिखते हैं– "प्रणय का प्रस्फुटन कर्म क्षेत्र में ही होता है, जहाँ युगल हृदय एक-दूसरे को सहयोग देते हुए परस्पर श्रम-सिक्त मुख देखते चलते हैं।" अन्ततोगत्वा पृथ्वीराज संयोगिता को दिल्ली लेकर पहुँचता है जहाँ दोनों विवाह-बन्धन में बँधते हैं। इसके पूर्व रासो में जयचन्द-पृथ्वीराज के मध्य युद्ध का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है। तदुपरान्त कवि उनकी रति-क्रिया का वर्णन करता है।

2.3.4.1 वीरता और शृंगार

पृथ्वीराज रासो चन्दवरदाई की काव्य-कला का सुन्दर उदाहरण है। रासो में अधिकांश प्रसंगों में वीर और शृंगार रसों का वर्णन एक साथ हुआ है। कवि जीवन से जुड़े वास्तविक सत्यों तथा कारुणिक चित्रों को कहीं-कहीं एक ही खाके में प्रस्तुत करता है। सामन्ती मूल्य के कवि चन्दवरदाई की काव्य-चेतना सामन्ती है परन्तु अपने वतन को देखते हुए वे पहले मानवतावादी कवि हैं। मानवता का प्रमाण कैमास वध के अन्तर्गत मिलता है। कैमास की पत्नी जब अपने पति का शव माँगने जाती है तब उसकी उक्तियों में शान्त रस का ऐसा औदात्य मिलता है जो अन्यत्र दुर्लभ है। दार्शनिक भाव से युक्त होकर कैमास की पत्नी कहती है – "जीवन ही सभी कार्यों और अन्तर-बाह्य चेष्टाओं का आधार है। जिसे अपना जीवन मूल्यवान् लगता है उसे नृपति के वचनों का बहुत भय रहता है किन्तु मेरे लिए तो अब सरोवर सूख गया, हंस अपने पंखों को समेटकर उड़ गया। अर्थात् पति की मृत्यु हो जाने के बाद मेरे लिए जीवन निस्सार हो गया है अब मुझे प्राणों का क्या भय! अब मुझे पृथ्वीराज का कोई भय नहीं।"

जउ जीवन साई अप्पेन उनृपति बहुत बचनह भउ
सुक्कव सरोवर हंस गड सुकिलि उड्ड अंधार भउ

चन्दवरदाई वीरता का वर्णन केवल युद्ध-वर्णन के समय ही नहीं करते। वे वीरता को आन्तरिक गुण मानते हैं जो सदैव विद्यमान रहता है। विपरीत स्थिति में जब सूर-सामन्त पृथ्वीराज को सकुशल दिल्ली चले जाने का निवेदन करते हैं तब चौहान उनसे कहता है कि – "मैंने ऐसा पाठ नहीं पढ़ा है।" चन्दवरदाई पृथ्वीराज की वीरता का वर्णन करते हुए कहते हैं –

मुख छुट्टत नृप बैन दिट्ठ दिष्यो धावन्तंच

पृथ्वीराज रासो में शृंगार और वीर दोनों रस एक-दूसरे में पगे हुए हैं। वयस्सन्धि-वर्णन में सिद्धहस्त चन्दवरदाई नायिका के शरीर के साथ-साथ उसके मनोभावों का भी सुन्दर चित्रण करते हैं। कभी-कभी तो पात्र के शरीर के साथ उसके मन का चित्रण भी एक साथ करते हैं। एकाएक वसन्त-आगमन का बिम्ब बड़ी कुशलता से बिम्बित किया गया है। शशिव्रता के कैशोर्य-आगमन का चित्रण करता एक उदाहरण द्रष्टव्य है –

पत्त पुरातन झरिग पत्तर अंकुरिय उट्ठि तुछ।
ज्यों सैसव उत्तरिय चढ़िय बैसव किसोर कुछ ॥
सीतल मंद सुगन्ध आइ रितुराज अचानं।
रोमराइ अंग कुच नितम्बु तुच्छय सरसानं ॥
बढ्ढै-न सीत कटि छीन ह्वै लज्जा मान ढकत फिरै।
ढक्कअह न पत्त ठकै कहै बन बसन्त मत्त जु करै ॥

अर्थात् पुराने पत्ते झड़ गए, कोमल अंकुर निकलने लगे, शैशव उतर रहा है और कैशोर्य चढ़ रहा है। शीतल-मन्द-सुगन्धित वायु के साथ अचानक ऋतुराज आ गया। रोमराजि, कुच और नितम्ब की कोमलता वृद्धि पा गई। शीत के समान कटि बढ़ती नहीं बल्कि निरन्तर क्षीण हो रही है। पत्त शब्द का श्लेष करते हुए कवि कहता है – पत्त यानी पत्ता और मर्यादा, लज्जा। पत्ते तन को ढक नहीं पाते। नायिका प्रयास करने पर भी शरीर को ढँक नहीं पाती। वसन्त ने वन को मदमत्त जो कर रखा है। कैशोर्य ने शशिव्रता के मन को मतवाला कर दिया है।

2.3.4.2 चरित्र परिचय

चन्दवरदाई पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का वर्णन करना नहीं भूलते है। यह दुविधा पृथ्वीराज रासो में अनेक स्थलों पर देखने को मिलती है। जैसे – वयस्सन्धि नायिका की दुविधा, पृथ्वीराज के साथ दिल्ली जाने के लिए घोड़े पर बैठती संयोगिता की दुविधा आदि। माता-पिता का घर छोड़कर पृथ्वीराज से मिलने के लिए मन्दिर जाने की तैयारी करती हुई शशिव्रता के मन का द्वन्द द्रष्टव्य है। जहाँ एक ओर शशिव्रता अपने प्रेम को पूर्णता प्रदान करना चाहती है वहीं इस बात से भी दुखी है कि उसे अपने माता-पिता और गुरु से अलग होना होगा। अपने को सांत्वना देते हुए शशिव्रता कहती है –

दुःख देवल को छँउनइ उर सिंचन अंकूर
दीह काल बल बीच वदि लिय समान सपूर

मनोवैज्ञानिक चित्रण करने में सिद्धहस्त चन्दवरदाई ने पृथ्वीराज द्वारा पहली बार अपने हाथों में शशिव्रता के हाथ लेने का मनमोहक चित्रण किया है –

गहत बाल पिय पानि सु गुर जन सम्भरे
लोचन मोचि सुरंग सु अंसु बहे खरे
अपमंगह जिय जानि सु नैन मुख बहीं
मनो खंजन मुख मुत्त मरक्केत नरंवहीं

2.3.4.3 प्रकृति-चित्रण

सुखान्त तथा दुखान्त पृथ्वीराज रासो में प्रकृति-वर्णन चन्दवरदाई के काव्य-कौशल का उत्कृष्ट नमूना है। 'कनवज्ज समय' में वर्णित षड्ऋतु-वर्णन कवि के प्रकृति-चित्रण कौशल का सुन्दर उदाहरण है। यह षड्ऋतु-

वर्णन आरोपित न होकर मानव कार्य-व्यापार का अंग बनकर आया है । यह चन्दवरदाई के प्रकृति-चित्रण का वैशिष्ट्य है कि वे प्रकृति का चित्रण इस रूप में करते हैं कि उससे पात्रों की तत्कालीन मनःस्थिति का भी चित्रण हो जाता है। कर्णाटी और कैमास के रति वर्णन का उदाहरण द्रष्टव्य है –

अंधारेन जलेन छिन्न छितया तारानि धारा रत।
सा मंत्री कयमास काम अंधा दैवो विचित्र गत ॥

अर्थात् अँधकारपूर्ण रात्रि में पृथ्वी घनघोर वर्षा से छिन्न-भिन्न विदीर्ण हो रही है। मंत्री कैमास कामान्ध हो रहा है। दैव की गति विचित्र है। पृथ्वी का घनघोर वर्षा से विदीर्ण होना घोर शृंगार का संकेत है।

2.3.4.4 भाषागत स्थिति

पृथ्वीराज रासो की भाषिक स्थिति पर विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखते हैं – "भाषा की कसौटी पर कसते हैं तो और भी निराश होना पड़ता है क्योंकि वह बिल्कुल ही बेठिकाने है। उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं। दोहों की और कुछ-कुछ कवित्तों की भाषा तो ठिकाने की है, पर त्रोटक आदि छोटे छन्दों में तो कहीं-कहीं अनुस्वारान्तक शब्दों की ऐसी मनमानी भरभार है जैसे किसी ने संस्कृत प्राकृत की नकल की है।" इसी सन्दर्भ में डॉ० नामवर सिंह 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' में लिखते हैं – "वस्तुतः अपभ्रंश के बाद प्रायः पश्चिमी भारत में दो मुख्य भाषाएँ उत्पन्न हुईं। दक्षिणी-पश्चिमी राजस्थान में डिंगल तथा पूर्वी राजस्थान और ब्रजमण्डल में पिंगल । काव्य-परम्परा की दृष्टि से डिंगल में रचना करने वाले प्रायः चारण हुए और पिंगल के कृतिकवि प्रायः भाट । पृथ्वीराज रासो पूर्वी राजस्थान में मूलतः 'चंद बलिद्द भट्ट' द्वारा अपभ्रंशोत्तर युगमें रचा गया और अनेक प्रक्षेपों के साथ अपने विभिन्न रूपान्तरों में भी वह पिंगल की रचना है।" विश्वनाथ त्रिपाठी के अनुसार "पश्चिमी भारत की किसी बोली पर आधारित भाषा मध्यदेश की परिनिष्ठित एवं काव्य-भाषा रही है । प्राचीन ब्रजी, पूर्वी राजस्थानी कहने से यही बात प्रकट होती है । वस्तुतः पृथ्वीराज रासो मूलतः अपने रचनाकाल की परिनिष्ठ मध्यीदेशीय काव्य-भाषा में रचा गया होगा जिसका व्याकरणिक ढाँचा अनेक प्रक्षेपों के बावजूद अभी भी सुरक्षित है।"

स्वयं पृथ्वीराज रासो में चन्दवरदाई ने भाषा के स्तर पर अपने विचार व्यक्त करते हुए जो कुछ कहा है उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता। उन्होंने अपनी काव्य-भाषा को "षट्भाषा पुरानं च कुरानं च कथित मया" कहा है अर्थात् चन्दवरदाई के काव्य में छह प्रकार की भाषा के शब्द मिलते हैं। यहाँ यह स्पष्ट है कि महाकवि चन्दवरदाई अपनी कविताई छह प्रकार की भाषा में नहीं करते हैं, उनके रासो में छह प्रकार की भाषा के शब्द सहज रूप में मिलते हैं। मध्यदेश की काव्य-भाषा में अनेक क्षेत्रीय शब्द आ गए थे। 'पुरान' से अभिप्राय है – 'संस्कृत' और 'कुरान' से आशय ग्रहण किया जाना चाहिए – 'तुर्की', 'अरबी' और 'फ़ारसी'।

आदिकालीन साहित्य की काव्य-भाषा रासो में सन्निहित है। आदिकाल का अन्य नामकरण सन्धिकाल भी किया गया है । उसकी काव्य-भाषा में क्षीयमाण अपभ्रंश का भाषाई रूप और उदीयमान आधुनिक भारतीय

आर्यभाषाओं का मेल देखा जा सकता है । यानी इसमें अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ पूरी तरह समाप्त नहीं हुई हैं और आधुनिक भारतीय भाषाएँ पूर्णतः प्रतिष्ठित नहीं हुई हैं। पुरानी हिन्दी अपभ्रंश से मिलती-जुलती होने पर भी तीन प्रमुख प्रवृत्तियों के कारण अपभ्रंश से भिन्न एवं विशिष्ट हो जाती है। ये प्रवृत्तियाँ हैं – क्षतिपूरक दीर्घीकरण, परसर्गों के प्रयोग की बहुलता और तत्सम शब्दों का पुनर्प्रचलन ।

2.3.5 पाठ-सार

पृथ्वीराज रासो को रासो काव्य-परम्परा का सर्वप्रथम और सर्वप्रधान ग्रन्थ माना जाता है । संस्कृत, जैन और बौद्ध साहित्य में रास, रासक नाम की अनेक रचनाएँ लिखी गयीं । गुर्जर (गुजरात) एवं राजस्थानी साहित्य में तो इसकी एक लम्बी परम्परा पायी जाती है, किन्तु जिन ग्रन्थों में छन्द-वैविध्य के साथ काव्यात्मकता भी विद्यमान है, पृथ्वीराज रासो उन ग्रन्थों का प्रतिनिधित्व करने वाली सर्वश्रेष्ठ रचना है । इस ग्रन्थ में छन्द-वैविध्य के साथ-साथ विषय-वैविध्य, शैली-वैविध्य और भाव-वैविध्य भी उपस्थित है । पृथ्वीराज रासो की जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं उनमें पर्याप्त भेद है किन्तु इसका जो अंश सभी प्रतियों में समान रूप से मिलता है, उसी को प्राचीनतम मानकर इसका रूप-निर्धारण किया जा सकता है । इसी आधार पर आधुनिक विद्वानों में अधिकांश पृथ्वीराज रासो को चन्दवरदाई-कृत मानने के पक्ष में हैं । पृथ्वीराज रासो हिन्दी का प्राचीनतम महाकाव्य है । इस काव्य को मुख्यतः वीररस प्रधान महाकाव्य के रूप में जाना जाता है । विगत सात-आठ सौ वर्षों से कालधारा में अडिग चट्टान की तरह स्थिर पृथ्वीराज रासो महाकाव्य सामन्ती युग के पूरे परिवेश को उजागर करता है । सांस्कृतिक दृष्टि से यह ग्रन्थ ह्रासोन्मुखी सामन्ती संस्कृति का परिचय देने वाला कोशग्रन्थ है। सामन्ती संस्कृति का जैसा विशद् वर्णन इस महाकाव्य में उपलब्ध होता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है ।

2.3.6 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. पृथ्वीराज रासो के रचयिता कौन हैं ?
   (क) चन्दवरदाई
   (ख) पृथ्वीराज
   (ग) जगनिक
   (घ) श्रीधर

2. पृथ्वीराज रासो में कितने समय (सर्ग या अध्याय) हैं ?
   (क) 65
   (ख) 66
   (ग) 68

(घ) 69

3. पृथ्वीराज रासो में प्रमुख रूप से किस छन्द का प्रयोग हुआ है?
   (क) दोहा
   (ख) रोला
   (ग) कुण्डलिया
   (घ) छप्पय

4. पृथ्वीराज रासो किस संवाद पर आधारित है ?
   (क) शुक-शुकी संवाद
   (ख) भृंग-भृंगी संवाद
   (ग) स्त्री-पुरुष संवाद
   (घ) देव-पुरुष संवाद

5. कैमास कौन था?
   (क) पृथ्वीराज का प्रधान अमात्य
   (ख) चन्दवरदाई का प्रधान अमात्य
   (ग) जयचन्द का प्रधान अमात्य
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. पृथ्वीराज रासो के भाषिक वैशिष्ट्य को रेखांकित कीजिए।
2. पृथ्वीराज रासो में प्रयुक्त वीर रस और शृंगार रस के उदाहरण प्रस्तुत कीजिए।
3. चन्दवरदाई के काव्य-कौशल का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. पृथ्वीराज रासो के काव्य-सौष्ठव की विस्तारपूर्वक विवेचना कीजिए।
2. पृथ्वीराज रासो के महाकाव्यत्व का विश्लेषण कीजिए।

❖❖❖

खण्ड – 3 : विद्यापति का पदावली साहित्य

इकाई – 1 : 'पदावली' की राधा-कृष्ण-कथा और उनका स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

3.1.0 उद्देश्य कथन
3.1.1 प्रस्तावना
3.1.2 विद्यापति : एक परिचय
3.1.3 विद्यापति की रचनाएँ
3.1.3.1 कीर्तिलता
3.1.3.2 भू-परिक्रमा
3.1.3.3 पुरुष परीक्षा
3.1.3.4 लिखनावली
3.1.3.5 शैव-सर्वस्व-सार
3.1.3.6 गंगा वाक्यावली
3.1.3.7 विभागसार
3.1.3.8 दानवाक्यावली
3.1.3.9 दुर्गाभक्ति तरंगिणी
3.1.4 विद्यापति की पदावली : राधा एवं कृष्ण कथा
3.1.5 राधा-कृष्ण और उनका स्वरूप
3.1.5.1 राधा का स्वरूप : पदावली के सन्दर्भ में
3.1.5.2 विद्यापति के कृष्ण का स्वरूप
3.1.6 पाठ-सार
3.1.7 बोध प्रश्न

3.1.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. विद्यापति के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे साथ ही उनकी रचनाओं के बारे में विस्तृत जानकारी भी प्राप्त कर सकेंगे ।
ii. विद्यापति की पदावली में राधा-कृष्ण की कथा के बारे में जान पाएँगे ।
iii. विद्यापति राधा-कृष्ण को किस दृष्टि से देखते हैं, उनकी राधा का स्वरूप और कृष्ण का स्वरूप क्या है, यह बता सकेंगे ।
iv. विद्यापति के साहित्य में राधा-कृष्ण अन्य कवियों के राधा-कृष्ण से किस प्रकार भिन्न हैं, इसकी विवेचना कर सकेंगे ।

3.1.1 प्रस्तावना

पिछली इकाइयों में आपने आदिकाल के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त की एवं आदिकालीन राजनैतिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का अवलोकन किया। इस इकाई में हम इस काल के प्रमुख कवि विद्यापति के बारे में अध्ययन करेंगे।

विद्यापति संक्रमण काल के कवि हैं। वे राज्याश्रित कवि थे, बावजूद इसके लोकप्रिय कवियों में विद्यापति का स्थान अग्रणी है। विद्यापति बांग्ला, संस्कृत, मैथिली, हिन्दी और अपभ्रंश भाषाओं के मर्मज्ञ थे और उन्होंने लगभग सभी भाषाओं में रचनाएँ लिखीं हैं। आज भी मिथिला में सामाजिक अनुष्ठानों में विद्यापति के पद गाए जाते हैं। इससे उनकी लोकप्रियता का पता चलता है। विद्यापति आदिकाल और भक्तिकाल के सन्धिकाल, जिसे संक्रमण काल भी कहा जाता है, के विशिष्ट कवि हैं। इस इकाई में हम उनकी पदावलियों एवं उन्होंने राधा-कृष्ण-कथा को किस प्रकार अपने काव्य में दर्शाया है, के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे। साथ ही, राधा-कृष्ण कथा के स्वरूप की चर्चा भी करेंगे।

3.1.2 विद्यापति : एक परिचय

कितने ही प्राचीन कवि ऐसे हैं जिनके जीवन के विषय में ऐसा कोई ऐतिहासिक दस्तावेज उपलब्ध नहीं है कि जिससे उनके जीवन-मृत्यु की तिथि की प्रामाणिकता सिद्ध की जा सके। इसी कड़ी में एक कवि विद्यापति भी हैं, जिनके विषय में पर्याप्त सामग्री का अभाव है। विद्यापति राज्याश्रित कवि थे और उनके पिता गणपति ठाकुर, राजदरबार में ही सभासद थे इसलिए विद्यापति राजदरबार में आया-जाया करते थे। राजा शिवपाल के राजगद्दी में बैठते ही विद्यापति को बिपसी गाँव उपहार में मिला, लेकिन इसके पूर्व ही इन्होंने 'कीर्तिलता' पुस्तक की रचना कर ली थी। इस पुस्तक की रचना राजा कीर्तिसिंह के समय हुई थी। उसके पश्चात देवसिंह और फिर शिवसिंह राजा हुए जिनसे विद्यापति का घनिष्ठ सम्बन्ध था। हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार – "सम्भवतः इनका जन्म 1368 में हुआ है। कीर्तिलता में इन्होंने अपने को कीर्तिसिंह का लेखन-कवि कहा है जो सम्भवतः उन्हें कीर्तिसिंह का बाल्य-बन्धु सिद्ध करता है। इस हिसाब से इनका जन्म-समय कुछ और पहले होना चाहिए। विद्वानों का अनुमान है कि इस हिसाब से इनका जन्म 1360 ई. में हुआ होगा। विद्यापति मिथिला के बिपसी नामक गाँव के रहने वाले थे। वे मिथिला के राजा कीर्तिसिंह और शिवसिंह के दरबारी कवि रहे।"

विद्यापति के विषय में कहा जाता है कि इनके दो विवाह हुए थे। प्रथम पत्नी की सन्तानों में नरपति एवं हरपति दो पुत्र थे एवं दूसरी पत्नी से एक पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुई थी। विद्यापति के पुत्र नरपति ज्योतिष शास्त्र के विद्वान् माने जाते थे। उन्होंने 'दैवज्ञ आंधव' नामक ज्योतिष-ग्रन्थ की रचना भी की थी।

विद्यापति का समय वह समय था जब विदेशी आक्रमणों ने देश के शासन को नष्ट कर दिया था। आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियाँ बुरे दौर से गुजर रही थीं। कलाएँ जीवनीशक्ति नहीं, बल्कि चमत्कारिक होने का आडम्बर रच रही थीं। धर्म के नाम पर तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना और गुह्य साधनाओं की

प्रधानता थी । जन-मानस वंचित-उपेक्षित जीवन जी रहा था । भक्तिकाल का उद्‌भव इन्हीं परिस्थितियों का परिणाम है । इस काल में अनेक कवियों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने जन-मानस को नव-जागरण का सन्देश दिया । इन्हीं कवियों में से थे, 'कवि विद्यापति', जिन्होंने दरबारी कवि होकर भी जन-साधारण में अपना ऐसा स्थान बनाया जो आज भी अक्षुण्ण है । विद्यापति ऐसे कवि थे जो शृंगारिक कवि होते हुए भी भक्त कवि थे और भक्त होते हुए भी धर्म-निरपेक्ष थे । डॉ॰ शिवप्रसाद सिंह लिखते हैं – "यह नाना प्रकार के फूलों की वनस्थली है, एक फूल का गमला नहीं । विद्यापति का व्यक्तित्व मिथिला की उस पृथ्वी की उपज है जिसमें धान की यौवनपूर्ण गन्ध और आमों के बौर की महक है । वह मिथिला जिसके स्वर्णगर्भित अंचलों में वाग्मती, कमला, गंडक और कोसी की धाराएँ निरन्तर प्रवाहित हैं, जहाँ की काली अमराइयाँ नील मेघों से ढँकी हैं और शरच्चन्द्र की चाँदनी से सुधास्नात होती रहती है, वह मिथिला जो तर्क-कर्कश पण्डितों के न्याय-शास्त्रीय वाद-विवादों और युवतियों के प्रेम गीतों को एक साथ अपने हृदय में सुलाए रहती है।"

विद्यापति ब्राह्मण कुल में पैदा हुए एवं धर्म, दर्शन, भूगोल, न्याय आदि विषयों के विद्वान् होने के साथ-साथ विभिन्न भाषाओं के ज्ञाता भी थे । विद्यापति के आत्मविश्वास के चलते अन्य राज्याश्रित कवि उनसे ईर्ष्या का भाव रखते थे लेकिन विद्यापति उन विराधियों की ओर से किसी प्रकार से भी आशंकित नहीं थे। वे लिखते हैं –

बालचंद विज्जावइ भासा
दुहु नहिं लगइ दुज्जन हासा
ओ परमेसर हर सिर सोहइ
इ निच्चय नाअर मन मोहइ

उनका मानना था कि द्वितीया का चाँद कभी भी कलंकित नहीं होता, वह सदा परमेश्वर के मस्तक पर ही सुहाता है । यद्यपि विद्यापति दरबारी कवि रहे, लेकिन उन्होंने अपने स्वाभिमान को ठेस नहीं पहुँचने दी और कविता को दरबार का दास भी नहीं बनाया । दरबार में उनका सम्मान था जिसका अहसास उनकी रचनाओं से हो जाता है । वे राधा-कृष्ण के माध्यम से सामान्य जीवन को उकेरते रहे हैं । अन्त समय में उन्होंने अध्यापन भी किया । कहा जाता है कि विद्यापति को अपनी मृत्यु का पूर्वाभास हो गया था । उन्हें अपने पूर्वज और गुरुजन स्वप्न में दिखाई दे रहे थे –

बहुत गुरुजन-प्राचीन, आव मिलहु हम आयु विहीन ।

विद्यापति जीवन के अन्तिम दिनों में वाराणसी चले गए और वहीं उन्होंने अपना शरीर छोड़ा । अपनी पुस्तक 'विद्यापति के गीत' में नागार्जुन लिखते हैं कि – "बुढ़ापे के दिनों का एक और पद है, इसमें कहा गया है – 'बड़ी मुश्किलों से मैंने पाप की कमाई बटोरी । घर वाले मिल-जुलकर उस धन का उपभोग कर रहे हैं ।' लगता है लम्बी आयु के अन्तिम छोर पर पहुँचकर कवि बिलकुल ऊब गया था ... ।"

जो भी हो अधिकांश लेखकों ने यह ज़रूर माना है कि उन्हें मृत्यु का पूर्वाभास हो गया था। कवि के देहावसान से सन्दर्भित एक पद प्रचलित है –

विद्यापतिक आयु अवसान। कातिक धवल त्रयोदसि जान।

इसी आधार पर डॉ० नगेन्द्रनाथ गुप्त ने विद्यापति की मृत्यु तिथि कार्तिक शुक्ल 13 सन् 1448 ई. निर्धारित की है।

3.1.3 विद्यापति की रचनाएँ

विद्यापति बहुभाषाविद् थे। उन्होंने संस्कृत, अपभ्रंश एवं मैथिली में अपने काव्य की रचना की। विद्यापति अनुभव के धनी कवि थे। उन्होंने राजमहलों और राजदरबारों के जीवन को निकट से देखा था। वे राजा-रानियों, राजकुमार-राजकुमारियों के जीवन एवं दरबार-दरबारियों के दाँव-पेचों से भली-भाँति परिचित थे। इस अनुभव का लाभ उन्हें अपनी कृतियों का सृजन करने में मिला। संस्कृत के उद्भट विद्वान् होने के बावजूद उन्होंने लोकभाषा अवहट्ठ को श्रेष्ठ एवं मीठी भाषा कहा–

सक्कय वाणी बहुवन भावइ, पाऊँर रस को मम्म न पावइ
देसिल बयना सब जन मिट्ठा, ते तैसइ जम्पओं अवहट्ठा

वे संस्कृत को बुधजन की भाषा मानते हैं और देसिल बैन देशी भाषा को मीठी भाषा बताते हैं जिसे सभी जन समझ सकने में सक्षम हैं। विद्यापति की भाषा में लोक समझ, अनुभूति और लोक अनुभव का आधार इतना गहरा था कि उनसे उनकी रचनाएँ भी प्रभावित हुईं। उनके हृदय में देशी भाषा के प्रति अत्यधिक प्रेम था। उन्हें 'मैथिल कोकिल' भी कहा जाता है। संस्कृत भाषा पर भी उनका उतना ही अधिकार था जितना कि मैथिल पर। विद्यापति की रचनाओं में प्रेम सम्बन्ध, भूगोल, दण्डनीति विषय, पत्राचार आदि मिलते हैं। विद्यापति की प्रमुख रचनाएँ निम्नांकित हैं–

3.1.3.1 कीर्तिलता

यह इनकी प्रथम रचना मानी जाती है। विद्यापति ने इसकी रचना राजा 'कीर्तिसिंह' के यहाँ रहते हुए की। इस ग्रन्थ की भाषा संस्कृत-प्राकृत मिश्रित मैथिली है। चूँकि इसकी रचना कीर्तिसिंह के आश्रय में हुई थी इसलिए इसमें कीर्तिसिंह की वीरता, मुसलमान एवं हिन्दुओं के युद्ध का, सेना और सिपाहियों का और तत्कालीन समाज का ऐतिहासिक काव्यात्मक चित्रण मिलता है। इस कृति में कवि अपने व्यक्तित्व की छवि भी दिखाते हैं, जहाँ वे कहते हैं –

बालचंद विज्जावइ भासा
दुहु नहिं लगइ दुज्जन हासा

ओ परमेसर हर सिर सोहइ
इ निच्चय नाअर मन मोहइ

(कीर्तिलता, प्रथम पल्लव)

बाल चन्द्रमा और विद्यापति की भाषा, इन दोनों का दुर्जन वृन्द उपहास नहीं कर सकते, क्योंकि बाल चन्द्रमा शिव के मस्तक पर सुशोभित है और यह भाषा पढ़े-लिखे, ज्ञाता नागरों के मन को मोहती है। इस पद से यह स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति को अपनी काव्य-सृष्टि पर अभिमान भी था।

3.1.3.2 भू-परिक्रमा

भू-परिक्रमा में विद्यापति ने नीति की कथाएँ लिखी हैं और जैसा कि नाम से ही लगता है यह भूगोल से सम्बन्धित रचना है। ऐसी मान्यता है कि कवि ने इसे राजा शिवपाल की आज्ञा से लिखा था।

3.1.3.3 पुरुष परीक्षा

विद्यापति बचपन से ही राजदरबार में आया करते थे इसलिए वे राज-काज की बारीकियों से भी परिचित थे। वे दण्डनीति शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इस पुस्तक में उन्होंने दण्डनीति का विश्लेषण किया है। 1830 में इसका अंग्रेजी अनुवाद राजा कालीकृष्ण बहादुर ने किया था। यह पुस्तक भी राजा शिवपाल की आज्ञा से ही रची गई थी।

3.1.3.4 लिखनावली

इस पुस्तक में पत्र-लेखन कला के विषय में लिखा गया है।

3.1.3.5 शैव-सर्वस्व-सार

महाराज पद्मसिंह के मृत्योपरान्त महारानी विश्वासदेवी ने इस पुस्तक को लिखने की आज्ञा विद्यापति को दी। वे मिथिला पर राज्य कर रही थीं। ग्रन्थ में मंगलाचरण के बाद रानी का यशोगान किया गया है। साथ ही, शिव की पूजा की विधि भी लिखी गई है। राजा भवसिंह से लेकर रानी विश्वासदेवी तक के राजाओं की यशकीर्ति इस ग्रन्थ में वर्णित है।

3.1.3.6 गंगा वाक्यावली

'यावद्गंगा विभाति त्रिपुरहरजटामण्डल मंडयन्ती' यह इस पुस्तक की प्रथम पंक्ति है। इससे दृष्टिगत होता है कि इस पुस्तक में गंगा के माहात्म्य का वर्णन किया गया है। इस पुस्तक की रचना भी विश्वासदेवी के समय में ही हुई।

3.1.3.7 विभागसार

इस पुस्तक में मिथिला की सामाजिक स्थिति के साथ-साथ पुत्रलक्षण निरूपण, स्त्रीधन विभाग निरूपण आदि का उल्लेख मिलता है । विद्यापति ने नरसिंहदेव के आदेश पर सम्पत्ति के विभाजन के नियमों को बताने वाली इस पुस्तक की रचना की ।

3.1.3.8 दानवाक्यावली

इस पुस्तक में सभी प्रकार के दानों के बारे में, समस्त देय वस्तुओं, दानदाता एवं दानपात्र आदि का निवेचन किया गया है। नरसिंहदेव की पत्नी धीरमती को यह पुस्तक समर्पित है। उन्हीं के आदेश पर इसकी रचना भी की गई थी।

3.1.3.9 दुर्गाभक्ति तरंगिणी

इसमें विद्यापति ने शारदीय दुर्गा पूजन पद्धति के विषय में लिखा है। इसमें वास्तुशास्त्र और प्रतिमा-निर्माण का भी वर्णन मिलता है।

विभिन्न रचनाओं के विषय में जानने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति का रचना-संसार विविध विषयों से भरपूर था । इसीलिए विद्यापति उत्तर भारत के लोकप्रिय एवं महत्त्वपूर्ण कवि थे। उनके पद अत्यन्त लोकप्रिय हैं जो आज भी प्रत्येक उत्सव और त्योहारों में सुने और गाए जाते हैं।

3.1.4 विद्यापति की पदावली : राधा एवं कृष्ण कथा

ग्रियर्सन ने लिखा है – “हिन्दू धर्म का सूर्य अस्त हो सकता है, वह समय भी आ सकता है जब कृष्ण में विश्वास और श्रद्धा का अभाव हो जाए, कृष्ण प्रेम की स्तुतियों के प्रति जो भवसागर के रोग की दवा है, विश्वास जाता रहे, तो भी विद्यापति के गीतों के प्रति जिसमें राधा और कृष्ण के प्रेम का वर्णन है, लोगों की आस्था और श्रद्धा कभी कम न होगी।”

विद्यापति की पदावलियों का संग्रह जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, चन्दा झा, रामवृक्ष बेनीपुरी आदि ने किया । विद्यापति के जो भी पद उपलब्ध होते हैं वे सभी लोककण्ठों से संगृहीत किए गए हैं । विद्यापति पदावली की पाण्डुलिपियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है – (i) नेपाल से प्राप्त पाण्डुलिपियाँ, (ii) मिथिला से प्राप्त पाण्डुलिपियाँ और (iii) बंगाल से प्राप्त पाण्डुलिपियाँ। नेपाल से प्राप्त पाण्डुलिपियाँ प्राचीन मैथिली में है जबकि बंगाल की पाण्डुलिपियाँ अत्यधिक लोकप्रिय हैं और इसमें मैथिली के साथ बांग्ला का बड़ी मात्रा में प्रयोग किया गया है।

विद्यापति के पद राधा और कृष्ण के प्रेम के पक्षों को उद्घाटित करते हैं और राधा-कृष्ण के प्रेम के लिए ही 'पदावली' प्रसिद्ध हुई। विद्यापति की पदावली को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है – (i) वन्दना, (ii) राधा-कृष्ण की प्रणयलीला और (iii) विविध। वन्दना एवं विविध भाग में वे कृष्ण-राधा की स्तुति के साथ अन्य देवी देवताओं का स्तुतिगान करते हैं। लेकिन राधा-कृष्ण प्रणयलीला में वे राधा और कृष्ण के वर्णन में वयःसन्धि, नख-शिख, सद्यःस्नाता, प्रेमप्रसंग, दूती, नोंक-झोंक, सखी-शिक्षा, मिलन, संभाषण, कौतुक, मान, मानभंग, विरह आदि कथाओं का अति गूढ़ वर्णन करते हैं। राधा-कृष्ण की कथा कहते हुए विद्यापति शृंगार रस के दोनों पक्षों संयोग एवं वियोग को बड़ी ही सूक्ष्मता के साथ अभिव्यक्त करते हैं। राधा-कृष्ण की कथा में दोनों का प्रेम ही प्रमुखता से है, जिसमें विद्यापति शारीरिक, मानसिक और विभिन्न संवेदनात्मक भावों का आलोड़न-विलोड़न प्रस्तुत करते हैं।

आगे हम 'पदावली' में राधा-कृष्ण के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए राधा-कृष्ण कथा को भली प्रकार समझ पाएँगे।

3.1.5 राधा-कृष्ण और उनका स्वरूप

विद्यापति की सबसे बड़ी विशेषता है कि रूढ़ियों का निर्वाह करते हुए भी उसके भीतर ही राधा और कृष्ण के प्रेम का ऐसा चित्रण करना, जो अपनी तमाम परिस्थितियों, सुख-दुःख की भावनाओं, उल्लासपूर्ण मिलन, अश्रुसिक्त विरह की अवस्थाओं में पल कर एक जीवन्त वस्तु प्रतीत हो। राधा और कृष्ण के इस प्रेम के परिपार्श्व में उनकी सारी दिनचर्या, समाज, परिवार, अनुशासन, लज्जा, संकोच सभी कुछ एक यथार्थ का अंग बनकर उपस्थित होते हैं। – (साहित्य कोश, भाग दो, पृ. 564)

विद्यापति के राधा-कृष्ण लौकिक चरित्र हैं। कृष्ण असाधारण शक्तियों से लदे-फदे गाम्भीर्य को ओढ़े सिद्ध पुरुष नहीं हैं वे सामान्य ग्वाल हैं जो सुख से सुखी होता है और दुःख में दुखी। राधा-कृष्ण सामान्य जीवन जीने वाले चरित्र हैं, लेकिन इस सबके बावजूद वे अलौकिक हो जाते हैं और यही विद्यापति के काव्य का सौन्दर्य है।

3.1.5.1 राधा का स्वरूप : पदावली के सन्दर्भ में

"विद्यापति के राधा के रूप, चरित्र और शील में कुछ ऐसा है जो केवल विद्यापति ही प्रस्तुत कर सकते थे। राधा उनके सम्पूर्ण मानस सौन्दर्य का धन विग्रह है, इस मूर्ति के निर्माण में कवि ने अपना सारा निजत्व, हृदय का सम्पूर्ण भाव संभार अर्पित कर दिया है।" – (विद्यापति, डॉ॰ शिवप्रसाद सिंह, पृ.117)

पदावली के प्रारम्भ में ही कवि विद्यापति अनिन्द्य सुन्दरी राधाजी की वन्दना करते हुए उनके सौन्दर्य पर कोटिशः कामदेवों से श्रेष्ठ कृष्ण के भी मोहित हो जाने का वर्णन करते हैं। न केवल कृष्ण, बल्कि अनेक सुन्दरियाँ

भी उनके सौन्दर्य को देखकर मूर्च्छित हो जाती हैं। उनके श्रीचरणों को अपनी गोद में रखने की कामना कवि करते हैं –

देख-देख राधा रूप अपार।
अपरूब के बिहि आनि मिलाओल खिति तल लाबनि-सार।
अंगहि अंग अनंग मुरछायत हेरए पड़ए अधीर।

X X X

कत-कत लिखिमी चरण-तल नेओछए रंगिनि हेरि विभोरि
करु अभिलाख मनहि पद-पंकज अहोनिसि कोर अगोरि।

विद्यापति ने राधा का जो स्वरूप रचा वह उनका अपना ही सृजित किया गया रूप है, वे राधा से देवी रूप में प्रार्थना नहीं करते बल्कि स्वयं ही उनके दास बनकर उनके चरणों की सुरक्षा अपने गोद पर रखकर करना चाहते हैं।

बालिका राधा जब शैशव और यौवन दोनों अवस्थाओं के बीच खड़ी है। विद्यापति वयःसन्धि में पड़ी इस राधा के अन्तर्द्वन्द्व का बड़ी ही सरलता से वर्णन करते हैं। उनकी राधा भोली भी है तो बालसुलभ चंचलता भी स्वभाविकता से उस पर हावी है। वह अपनी ही देह में होने वाले परिवर्तनों से आश्चर्यचकित है जो उसे एक अनजानी विचित्रता का अहसास करा रही है –

सैसव जौवन दुहु मिली गेल, स्रवनक पथ दुहु लोचन लेल,

X X X

निरजन उरज हेरई कत बेरि, हँसइ से आपन पयोधर हेरि।

शैशव और यौवन दोनों ही राधा पर हावी हैं। दोनों ही मिल गए हैं। पहले जो रास्ता कानों का था अब नेत्रों ने ले लिया है अर्थात् अब कटाक्ष करना प्रारम्भ कर दिया। एकान्त में अपने उरोजों को निहारती है और स्वयं ही हँसती है। वयःसन्धि में राधा की ये चेष्टाएँ नितान्त नैसर्गिक हैं। यहाँ कवि उसकी मानसिक अवस्था का सुन्दर चित्रण करता है। इसी अवस्था में राधा पर कभी उसका शैशव तो कभी उसका यौवन भारी पड़ता है। उसके शारीरिक परिवर्तनों से वह स्वयं कुतूहल में पड़ी है। कभी वह सकुचाती है तो कभी वह स्वच्छन्दतापूर्ण व्यवहार करती है। कभी वह खिलखिलाकर हँस देती है तो कभी मन्द हास उसके अधरों पर छा जाता है। विद्यापति यद्यपि राधा के स्थूल सौन्दर्य को दिखाते हैं, लेकिन कहीं-न-कहीं आन्तरिक सौन्दर्य की झलक उसमें दिख जाती है। अपनी बात कहते-कहते कवि उसमें चित्रोपमता उपस्थित कर देता है। विद्यापति ने राधा के अंगों में परिवर्तन होने का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। वह कुछ-कुछ जानती है और कुछ नहीं भी जानती है इसलिए वह सकुचाती भी

है, सँभलती भी है और प्रायः स्तब्ध हो जाती है। लेकिन यह तो तय है कि राधा के तन में यौवन अपना अधिकार जमा कर ही रहेगा। अन्ततः शैशव को राधा को छोड़ना पड़ेगा।

जितनी मनोवैज्ञानिकता के साथ कवि वयःसन्धि वाली राधा का वर्णन करते हैं उतनी ही तल्लीनता से वे उसके सौन्दर्य को वर्णित करते हैं। राधा अप्रतिम रूपवती है। विद्यापति सौन्दर्योपासक कवि हैं। वे सौन्दर्य का अलौकिक नहीं, लौकिक रूप देखते हैं। सौन्दर्य उनका अनुभव संसार है। वे सौन्दर्य को नाना रूपों में देखते हैं। मानवीय सौन्दर्य के साथ-साथ प्राकृतिक सौन्दर्य भी उनके काव्य का विषय है। जीवन का सौन्दर्य उनकी कविताओं में चित्रित है लेकिन राधा की सुन्दरता अप्रतिम है। वे प्रकृति के उपमानों कमल, ऐरावत, हाथी, कदली, सिंह, सुमेरु पर्वत, कमल, गंगा, बिम्बफल, हरिण, कोकिल और चन्द्रमा के माध्यम से राधा के रूप को व्यक्त करते हैं –

माधव की कहब सुन्दरि रूपे
कतेक जतन बिहि आनि समारल देखल नयन सरूपे
पल्लवराज चरणयुग सोभित गति गजराजक भाने
कनक कदलि पर सिंह समारल तापर मेरू समाने
मेरू उपर दुइ कमल फुलायल नाल बिना रूचि पाई।
मनिमय हार धार बहु सुरसरि तओ नहि कमल सुखाई।

विद्यापति राधा के रूप-वर्णन को प्रकृति के उपादानों के साथ-साथ अलंकारों के प्रयोग से अनुपम बना देते हैं। अलंकार सहज रूप से उनके पदों में आ जाते हैं और भावों को अधिक रमणीक बनाते हैं। इसी प्रकार दूसरे पद में कवि की असाधारण कल्पना का उदाहरण देखिए –

चाँद सार लिए मुख घटना करू लोचत चकित चकोर
अमिय धोय आँचर धनि पोछलि दह दिसी भेल अँजोर।
जुग-जुग के बिहि बूढ़ निरस उर कामिनि कोने गढ़ली
रूप सरूप मोयँ कहइत असम्भव लोचन लागि रहली।

चन्द्रमा से सार लेकर राधा के मुख की सुन्दर रचना देखकर चकोर चकित रह गया। अपने आँचल से नायिका ने मुँह पोंछा तो उसके अमृत से दसों दिशाओं में उजाला हो गया। उसका सौन्दर्य-वर्णन से परे है, आखिर उसकी रचना किसने की। उसके रूप के विषय में कुछ भी कहना असम्भव है जिसके रूप में हमारे नेत्र लगे हैं अर्थात् जिसे एकटक देखते रहने का ही मन होता है। नेत्र वहाँ से हटते ही नहीं हैं। नख-शिख वर्णन करते कवि परम्परागत उपमानों का प्रयोग करते हैं किन्तु नवीन प्रयोगों के साथ –

कबरी भय चामरि गिरि कन्दर मुख भय चाँद अकासे।

अर्थात् नायिका के केश समूह से भयभीत होकर चंवर गाय भागकर पर्वत तथा कन्दराओं में छिप गई। मुख के भय से चन्द्र आकाश में जाकर छिप गया।

विद्यापति की पदावली में सद्यःस्नाता राधा के सौन्दर्य का अलग ही स्थान है। मिथिलांचल में आज भी ये पद विवाह के अवसर पर दुल्हन के मंगल स्नान के समय गाए जाते हैं। इन पदों में सुन्दर लयात्मकता, प्रवाह और मार्मिकता है जो सदैव जनमानस के हृदय में अपना स्थान बनाए हुए है। विद्यापति की कवि दृष्टि जड़ में भी चेतना का संचार कर देती है–

ऐसन रस नहि पाओं आरा। इथे लागि रोइ गरए जलधारा।
विद्यापति कह सुनह मुरारी। बसन लागल भाव रूप निहारि।

स्नान की हुई राधा के शरीर से चिपके हुए वस्त्रों से जो पानी टपक रहा है, वे वस्त्र मानों रो रहे हैं कि शीघ्र ही वे राधा के सुन्दर शरीर से वे छूट जाएँगे इसलिए इस आशंका से ही वे उनके शरीर में चिपक गए। गीले वस्त्रों की प्रवृत्ति ही है कि वे शरीर से चिपक जाते हैं लेकिन यहाँ विद्यापति वस्त्रों का मानवीकरण करते हैं और उनके मनोभावों का वर्णन करते हैं।

कृष्ण से राधा का मिलन जहाँ दोनों हृदयों को अधीर और प्रेमासक्त करता है वहीं कृष्ण राधा के सौन्दर्य को देखकर व्याकुल हो उठते हैं। वे राधा पर आसक्त हैं और राधा के सौन्दर्य से आकर्षित भी। कृष्ण राधा के आधे तन को ही देख पाते हैं। अर्धद्युति देखकर वे अधीर हो उठते हैं –

सखन परसु खसु अम्बर रे देखल धनि देह।
नव जलधर तर संचर रे जनि बिजुरी गेह।
आज देखल धनि जाइति रे मोहि उपजल रंग।
कनक लता जनि संचर रे महि निर-अवलंब।

पवन के वेग से राधा का वस्त्र गिर गया और उसी क्षण कृष्ण ने उसे देख लिया। कृष्ण को ऐसा प्रतीत हुआ मानों बादलों के बीच बिजली चमक गई हो। कृष्ण का मन यह देखकर प्रेम से भर उठा। राधा मानों पृथ्वी के ऊपर बिना अवलम्ब की स्वर्ण लता (विद्युत रेखा) की भाँति विचरण कर रही हो, ऐसी प्रतीत हुई। कृष्ण राधा का सौन्दर्य सबसे पहले देखते हैं और उसकी चमक देखकर विवश रह जाते हैं। राधा भी कृष्ण से मिलना चाहती हैं। कुछ संकेत देकर वह आशा का संचार करती हैं। कृष्ण इस संशय में पड़े जड़ हो राधा को निहारते रह जाते हैं। उनका हृदय नाना प्रकार के भावों से घिर उठता है। राधा भी कृष्ण को देखकर आकर्षित हो गई। कृष्ण को सामने देखकर राधा ने लज्जावश सिर झुका दिया किन्तु कृष्ण उनके हृदय में बस गए। उन्हें सब कुछ स्वप्नवत महसूस हो रहा था। वे अपनी सखि से कहती हैं –

ए सखि पेखलि एक अपरूप, सुनइति मानव सपन सरूप

राधा कृष्ण पर आसक्त हो गईं। उन्होंने कृष्ण के अपूर्व सौन्दर्य को देखा तो उसे ऐसा लगा मानों स्वप्न देखा हो। वह कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन अपनी सखि से करती हैं और अपने प्रेम का उद्घाटन भी करती हैं। विद्यापति की राधा कृष्ण की छवि देखकर सुध-बुध खो बैठती है। वह उनके प्रेम में आकण्ठ डूबी हुई है। प्रेम की व्याकुलता राधा को साहसी बना देती है। वह विषमताओं का सामना करते हुए भी कृष्ण के प्रेम से विचलित नहीं होती। कृष्ण की मुरली सुनते ही वह गिरती-पड़ती, नंगे पैर, चुभते काँटों की परवाह न करते हुए कृष्ण से मिलने यमुना तट जा पहुँचती हैं। प्रेम आप्लावित राधा समाज के समक्ष प्रेम के खुल जाने के भय से भयातुर नहीं, बल्कि वह तो इन्द्र से सहस्त्र लोचन माँगती है, गरुड़ से पंख माँगती है कि वह मन भरकर कृष्ण को जाकर देख सके। राधा प्रेम में पड़कर स्वयं को सँभालने की कई प्रकार से कोशिश करती है मगर प्रेम की तीव्रता यह होने नहीं देती। वह पारिवारिक मर्यादाओं को समझती है, गुरुजनों के प्रति उसके हृदय में आदर का भाव भी कूट-कूट कर भरा है मगर मुरली की ध्वनि उसके चित्त को आकुल कर देती है और वह विवश हो उठती है, लेकिन समस्या यह है कि लज्जावश वह कृष्ण को भी देख नहीं पाती और वैसे ही दबे पाँव वापस लौट आती है। कभी-कभी वह विरहातुर होकर स्वयं को ही उलाहना देती है –

पुर बाहरि पथ करत गतागत के नहि हेरत कान
तोहर कुसुम सर कवहुँन संचर हमर हृदय पँचबान।

विरह से विह्वल राधा अपने नेत्रों को दोषी मानती है जिन्होंने कृष्ण के दर्शन किये और जिसका दण्ड उसका चित्त भोग रहा है। वह कहती है कि नगर से बाहर आते-जाते न जाने कितने ही पुरवासी कृष्ण के दर्शन करते हैं, लेकिन मेरा एक बार का देखना ही मुझे क्यों परेशानी में डाल गया और कामदेव के पंचबाणों से मेरा ही हृदय दग्ध क्यों हुआ।

नोंक-झोंक, दूती-संवाद, सखियों से ज्ञान लेने के बाद राधा का कृष्ण से मिलन होता है। वहाँ प्रेम है, मिलन है, मान-मनुहार है, काम-कातरता है, रतिक्रिया है और सौन्दर्य-लिप्सा के भाव हैं। विद्यापति की राधा शालीन और सहज है। मिलन के पश्चात् अपनी सखियों के पूछे जाने पर वह उस आनन्द का वर्णन करती है –

कि कहब हे सखि आजुक विचार। से सुपुरुष मोहे कएल शृंगार।
हँसि, हँसि पहु आलिंगन देल। मनमथ अँकुर कुसुमित भेल।

राधा का विरह वर्णन भी विद्यापति अत्यन्त मार्मिकता से करते हैं। जितनी गहराई से विद्यापति मिलन के सुख का वर्णन करते हैं उतनी ही गहराई से विरह की स्थिति का चित्रांकन भी करते हैं। कृष्ण के मथुरा जाते ही राधा दुःख से भर उठती है। राधा के साथ-साथ सारी प्रकृति विरहिणी हो जाती है। कृष्ण का गमन अपने साथ सब कुछ ले गया – सुख, उल्लास, धन, पारस मणि और चकोर का चन्द्रमा भी। प्रिय के बिछोह में समस्त ऋतुएँ राधा को दुःख पहुँचा रही हैं, विशेषकर श्रावण मास। मयूर का नृत्य, कोयल की कूक, मेघों का बरसना, पवन का चलना और कमलिनी का खिलना राधा के वियोग की वेदना को तीव्र कर रहे हैं –

मोर पिया सखि गेल दुर देस, जौबन दए गेल साल सनेह
मास अषाढ़ उनत नव मेघ, पिया बिसलेख रहयों निरथेव।

विद्यापति की नायिका राधा साधारण युवती है। अलौकिक सौन्दर्य, उद्दाम इच्छाएँ, प्रेम विदग्धता और विरह की अग्नि में जलती राधा विद्यापति की पदावलियों को सबसे अलग बनाती है।

3.1.5.2 विद्यापति के कृष्ण का स्वरूप

"कृष्ण सांसारिक मानव नहीं देवता थे। उनकी स्थिति केवल मानसिक है। कुछ लोग उन्हें साम्प्रदायिक देवता, कुछ वनदेवता तथा अन्य लोग सौर देवता मानते हैं।" (– विद्यापति, डॉ० शिवप्रसाद सिंह) लेकिन विद्यापति के कृष्ण, प्रेम, सौन्दर्य और माधुर्य के प्रतीक हैं। विद्यापति के कृष्ण कामनाओं के देवता है जो कामदेव से भी श्रेष्ठ हैं।

विद्यापति की पदावली की नायिका राधा है तो नायक कृष्ण हैं जिनमें धीरललालित्य है। वे स्वभावतः कोमल हैं, सौन्दर्य के अप्रतिम भण्डार हैं। तभी तो राधा उनको देखकर सम्मोहित हो जाती है और बरबस अपनी सखी से बोल पड़ती है –

ए सखि पेखल एक अपरूप
सुनइत मानवि सपन सरूप।

हे सखि ! मैंने अपूर्व रूप को देखा है जिसको तुम भी सुनकर स्वप्न ही जानोगी। अर्थात् यह ऐसा अपूर्व रूप है जिसको देखकर राधा चेतना शून्यता की स्थिति में पहुँच गई। उनका रूप ऐसा था जिसके प्रथम दर्शन से ही अनिन्द्य सुन्दरी राधा स्वयं को भूलकर कृष्ण के प्रेम में आकण्ठ डूब गई। कृष्ण भी राधा के आकर्षण में आबद्ध हो चुके हैं। विद्यापति के कृष्ण साधारण प्रेमी की भाँति राधा से मिलने, उसे देखने, उसे छूने के लिए विह्वल हैं। वे यमुना तट पर व्याकुल होकर घूम रहे हैं। वे राधा का नाम पुकारते हैं और प्रतीक्षा करते हैं –

नंदकनंदन कदम्बक तरु तरु, धीरे, धीरे मुरलि बजाव
समय सँकेत-निकेतन बइसल, बेरि बेरि बोलि पठाव।
सामरि, तोरा लागि, अनुखन विकल मुरारि
जमुनाक तिर उपवन उदवेगल, फिर फिर ततहि निहारि।

कृष्ण पागलों की भाँति वन-वन घूम रहे है और बाँसुरी बजा रहे हैं। विकल हो कर कृष्ण मुरारी वन, उपवन, जमुना के किनारे सभी स्थानों पर राधा को ही ढूँढ़ते फिर रहे हैं। विद्यापति कृष्ण को कभी व्याकुल, कभी सच्चा और कभी चतुर प्रेमी कहते हैं। लेकिन वे हर रूप में राधा पर आसक्त हैं। तभी तो कृष्ण की दूती राधा को समझाते हुए कृष्ण के प्रेम के महत्त्व को बता रही है –

ए धनि कमलिनि सुन हित बानि, प्रेम करबि अब सुपुरूख जानि
सुजनक प्रेम हेम समतूल, दहइत कनक दिगुन होय मूल।
टुटइत नहि प्रेम अद्‍भुत। जइसन बढ़ए मृनालक सूत
सबहु मतंगज मोहि नहिं मानि। सकल कण्ठ नहि कोइल बानि।
सकल समय नहि रीतु बसन्त। सकल पुरुष-नारि नहि गुनवंत
भनइ विद्यापति सुनु बर नारि। प्रेमक रीत अब दुझह विचारि।

हे राधा ! किसी से भी प्रेम करने से पूर्व व्यक्ति की सुपात्रता का पता अवश्य करना चाहिए, क्योंकि सज्जन व्यक्ति ही कसौटी पर कसे गए कनक के समान खरा होता है। विरहाकुलता में पड़े व्यक्ति (जैसे कृष्ण हैं) का प्रेम ही स्थायी होता है । वह प्रेम अद्‍भुत होता है। वह प्रेम कमल-नाल में स्थित अदृश्य सूत के समान है जो निरन्तर आगे बढ़ता जाता है। तोड़ने का प्रयत्न करने पर भी नहीं टूटता। जैसे मोती सभी हाथियों के मस्तक पर, कोयल समान वाणी सभी पक्षियों में, वसन्त समान सौन्दर्य सभी ऋतुओं में नहीं होता वैसे ही सभी पुरुष सज्जन नहीं होते। कृष्ण ऐसे ही सौन्दर्यवान् और सद्पुरुष हैं इसलिए प्रेम के लिए वे सर्वोपयुक्त हैं।

एक ओर विद्यापति कृष्ण के प्रेम को राधा के प्रति एकांगी मानते हैं जो राधा के पास प्रेम-निवेदन के लिए दूती को भेज रहे हैं, वन-उपवन और यमुना के किनारे विरहातप्त यहाँ-वहाँ घूम रहे हैं, (विरह की गम्भीर वेदना इतनी प्रबल है जितना सर्पिणी के दंश से पीड़ित व्यक्ति की) वे राधा के लिए व्याकुल हैं तो वहीं दूसरी ओर विद्यापति के कृष्ण स्थूल वासनात्मक प्रेम में भी लिप्त दिखते हैं। वे राधा की सखियों से रतिक्रिया करते हैं, जिससे राधा उनसे रूठ जाती है और वे साधारण पुरुष की तरह बहाना बनाते हैं –

सुनु सुनु सुन्दरी कर अवधान, बिनु अपराध कहसि काहे आन।
पुजलौं पसुपति जामिनि जागि, गगन बिलम्ब भेल तेहिलागि
लागल मृगमद कुंकमदाग, उचरइत मंत्र अधर नहि राग
रजनि उजागर लोचन घोर, ताहि लागि तोहे मोहे बोलसि चोर
नव कबिशेखर कि कहब तोय, सपथ करह तब परतीत होय।

कृष्ण परस्त्री गमन के पश्चात् राधा के पास पहुँचते हैं तो राधा समझ जाती हैं और क्रोधित हो जाती हैं। कृष्ण चतुर भी हैं, वे तरह-तरह की बातें बनाना भी जानते हैं। इसलिए वे बहाना बनाकर राधा को समझाने का प्रयास करते हैं कि वे तो रात भर महादेव की पूजा के कारण जगे रहे इसलिए मैं तुम्हारे पास देर से पहुँचा हूँ। और अन्य लक्षण जो तुमको मेरे वस्त्र-विन्यास या शरीर में रति के दृष्टिगत हो रहे हैं वे वास्तव में इस रात्रि जागरण के कारण है। कृष्ण की बातों एवं क्रियाकलापों में चातुर्य कूट-कूट कर भरा है जो पदावली में सर्वत्र परिलक्षित होता है।

यद्यपि विद्यापति ने कृष्ण को सामान्य ग्वाल की तरह ही प्रस्तुत किया किन्तु जीवन के अन्त में कहीं वे उन्हीं कृष्ण के चरणों में बैठकर अपने जीवन का उद्धार चाहते हैं। वे ईश्वर से अपनी गलतियों के लिए क्षमाप्रार्थी हैं। कृष्ण के अतिरिक्त कौन उनकी जीवन-नैया को पार लगाने में सक्षम हैं, यह भी कहते हैं –

हे हरि बन्दों तुअ पद नाय।
तुअ पद परिहरिपाप-पयोनिधि तर कौन उपाय।

कृष्ण विभिन्न कलाओं में पारंगत हैं वे तरह-तरह के रूप भी धारण करते हैं। राधा के रुष्ट हो जाने पर वे योगी के भेष में भी आये और राधा से भिक्षा माँगी। कृष्ण झाड़-फूँक करने का बहाना भी बनाते हैं, ताकि वे एकान्त के क्षणों में राधा के साथ समय व्यतीत कर सकें। कृष्ण स्त्री रूप में वीणा भी बजाते हैं और अन्त में राधा के मान को भंग करने में सफल हो जाते हैं।

विद्यापति कृष्ण से स्वयं अपना भी सम्बन्ध जोड़ते हैं। राधा और अन्य गोपियों से पृथक् भक्त कवियों के समान अपनी भक्ति-भावना प्रदर्शित करते हैं। यहाँ कृष्ण को दैवीय रूप में या राधा के प्रियतम के रूप में नहीं देखते, बल्कि वे स्वयं उनके रूप-सौन्दर्य का वर्णन करते हैं –

माधव, कत तोर करब बढ़ाई
उपमा तोहर कहब ककरा हम, कहितहुँ अधिक लजाई
जौं श्रीखण्ड सौरभ अति दुरलभ, तो पुनि काठ कठोर
जौं जगदीस निसाचर तौ पुन, एकहि पच्छ इजोर।

वे माधव के प्रति कहते हैं कि "आपकी क्या बड़ाई करूँ ! आपकी तुलना तो हे माधव ! चन्दन से या चन्द्रमा से भी नहीं की जा सकती जहाँ चन्दन सुगन्ध देता है तो वहीं वह कठोर भी है किन्तु आप कठोर नहीं। इसी प्रकार चन्द्रमा भी है जिसमें शुक्ल पक्ष के बाद कृष्णपक्ष आता है जबकि आपकी द्युति तो सदैव बनी रहती है।

विद्यापति के यह कृष्ण अलग हैं यद्यपि यहाँ भी उनके सौन्दर्य का भरपूर वर्णन है किन्तु यह चित्रण स्थूलता की उस पंक्ति पर नहीं है जहाँ हम पूर्व में देख चुके हैं। यहाँ कृष्ण का चरित्र विद्यापति उच्च स्तर पर ला खड़ा करते हैं। यहाँ कृष्ण सामान्य ग्वाल नहीं हैं, वे अलौकिक पुरुष हो जाते हैं।

कृष्ण के कितने ही स्वरूप विद्यापति की पदावली में हमें दिखाई देते हैं जिसमें उनकी कामाविदग्धता ही ज्यादा उभर कर आती है किन्तु डॉ॰ शिवप्रसाद सिंह अपनी पुस्तक 'विद्यापति' में कहते हैं कि – "यह सही है कि उनका यह चित्रण कई स्थलों पर तत्कालीन रूढ़ परिपाटी के कारण कृष्ण की कामविदग्धता को ज्यादा उभारता है, किन्तु समूचे स्थूल रति प्रसंगों और काम कला के विस्तृत वर्णनों के बीच भी कृष्ण का एक ऐसा चरित्र अवश्य उभरता है, जिसमें मानसिक अनुराग, उच्च कोटि का आनन्दमय मदन-विलास तथा अपनी अभिन्न प्रेमिका के प्रति निरन्तर वदान्य, कृतज्ञ, वंशवद, आस्थापूर्ण और सदानुरक्त बने रहने की संकल्पना एवं सदिच्छा सदैव विद्यमान रहती है।

3.1.6 पाठ-सार

विद्यापति दरबारी कवि थे और वे आश्रयदाता राजाओं के मनोरंजन के लिए काव्य-लेखन करते थे। लेकिन इस सबके बावजूद उनका काव्य जन-जन तक फैला जो आज भी अपनी पूरी गरिमा के साथ मिथिलांचल के लोककण्ठ में उपस्थित है। विद्यापति की अधिकांश पदावलियाँ राधा-कृष्ण की प्रेमलीलाओं से सम्बन्धित हैं।

प्रस्तुत पाठ में आपने विद्यापति की कृतियों के बारे में जाना विशेषकर उनकी पदावलियों को समझा। विद्यापति आज भी लोकप्रिय कवियों में अपना स्थान रखते हैं। वे बहुभाषा ज्ञानी थे साथ ही वे न्याय, भूगोल, दण्डनीति आदि के भी विशेषज्ञ थे।

3.1.7 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. विद्यापति को कहा जाता है –
   (क) बिहार कोकिल
   (ख) मिथिला कोकिल
   (ग) कृष्ण-राधा कोकिल
   (घ) मैथिल कोकिल

2. विद्यापति के काव्य में बहुलता से पाया जाता है –
   (क) वीरकाव्य
   (ख) भक्तिकाव्य
   (ग) शृंगार काव्य
   (घ) दास्य भक्तिकाव्य

3. शैशव और यौवन के मिलन को कहते हैं –
   (क) नख-शिख
   (ख) नोंक-झोंक
   (ग) मिलन
   (घ) वयःसन्धि

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. विद्यापति की किन्हीं चार रचनाओं के नाम बताइए।

2. राधा और कृष्ण के प्रेम को विद्यापति किस रूप में रूपायित करते हैं ? स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. विद्यापति के बारे में विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।
2. राधा के चरित्र की विविध भंगिमाओं का वर्णन कीजिए।
3. कृष्ण के व्यक्तित्व के विविध रूपों का वर्णन कीजिए।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 3 : विद्यापति का पदावली साहित्य

इकाई – 2 : 'पदावली' का काव्य-सौष्ठव

इकाई की रूपरेखा

3.2.0 उद्देश्य कथन
3.2.1 प्रस्तावना
3.2.2 विद्यापति : व्यक्तित्व और कर्त्तत्व
3.2.2.1 संस्कृत की रचनाएँ
3.2.2.2 अवहट्ठ की रचनाएँ
3.2.2.2.1 कीर्तिलता
3.2.2.2.2 कीर्तिपताका
3.2.2.3 मैथिली की रचनाएँ
3.2.2.3.1 पदावली
3.2.2.3.2 गोरक्ष विजय
3.2.3 विषय-विस्तार
3.2.3.1 विद्यापति का काव्य-सौष्ठव
3.2.3.1.1 भावपक्ष
3.2.3.1.2 कलापक्ष
3.2.3.1.2.1 अप्रस्तुत विधान
3.2.3.1.2.1.1 वास्तविक अप्रस्तुत
3.2.3.1.2.1.2 कल्पनाप्रसूत अप्रस्तुत
3.2.3.1.2.2 अलंकार योजना
3.2.3.2 'पदावली' का काव्य-सौष्ठव
3.2.4 पाठ-सार
3.2.5 बोध प्रश्न
3.2.6 उपयोगी ग्रन्थ-सूची

3.2.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. विद्यापति के व्यक्तित्व और कर्त्तत्व से परिचित हो सकेंगे।
ii. 'पदावली' के काव्य-सौष्ठव से अवगत हो सकेंगे।
iii. विद्यापति के प्रेम-दर्शन को समझ सकेंगे।

3.2.1 प्रस्तावना

संस्कृत, अवहट्ठ और लोकभाषा मैथिली में समान रूप से अपनी प्रतिभा की दीप्ति विकीर्ण करने वाले विद्यापति हिन्दी साहित्य के इतिहास के शलाका पुरुष हैं। विद्यापति में 'आदिकाल', 'भक्तिकाल' और 'रीतिकाल' तीनों की प्रमुख प्रवृत्तियों का समारम्भ मिलता है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का यह मन्तव्य अत्यन्त समीचीन है कि "यदि हिन्दी साहित्य अपनी परम्परा ढूँढ़ने निकलेगा तो विद्यापति उसे अपने आदिकवि के रूप में दिखाई पड़ेंगे।"

विद्यापति की पदावली भारत की प्राचीन काव्य-परम्परा के वैभव को स्वायत्त करती है। कालिदास, अमरुक, गोवर्धनाचार्य, जयदेव आदि के काव्य-सौष्ठव को दृष्टिपथ में रखकर कवि ने लोकभाषा में भारत की भारती को संस्थापित करना चाहा है। 'आर्यासप्तशती' के कवि ने 'गाहा सतसई' की प्राकृतिक सम्पदा को संस्कृत में अवतरित किया था। विद्यापति ने इसके विपरीत संस्कृत की विदग्ध वाणी को लोकभाषा में उतारने का भगीरथ प्रयास किया था। 'पदावली' की कविता-गंगा परम्परा के निर्मल प्रवाह को उदाहृत करती है। इसमें पूर्ववर्ती शृंगारिक काव्य के अभिव्यंग्य और काव्य गुणों का सहज अवतरण हुआ है। लोकभाषा को काव्य-भाषा के वैशिष्ट्यों से जोड़ने में विद्यापति सफल रहे हैं।

अलंकार, रस, ध्वनि आदि की दृष्टियों से पदावली के अनेक पद प्रतिमान सिद्ध होते हैं। शब्द मैत्री और सांगीतिक विशेषताएँ विद्यापति के पदों को लोकप्रियता के शिखर तक ले पाने में सफल रही हैं। उनमें रसात्मकता और विदग्धता की सहस्थिति देखी जा सकती है।

3.2.2 विद्यापति : व्यक्तित्व और कर्त्तत्व

अभिनव जयदेव के रूप में विख्यात मैथिल कोकिल विद्यापति के जीवन-मरण के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। प्रामाणिक जीवन-वृत्तान्त तथा स्थितिकाल का निरूपण बहुत दूर तक अनुमानाश्रित है। विद्यापति के पिता गणिपति ठाकुर महाराज गणेश्वरसिंह के राज्यसभासद थे। विद्यापति का जन्म मिथिला क्षेत्र के दरभंगा जिले के अन्तर्गत 'विसपी' नामक ग्राम में हुआ था। इसे 'गढ़ विसपी' भी कहा जाता था। यह गाँव महाराज शिवसिंह ने विद्यापति को दान में दिया था। शिवसिंह इनके संरक्षक ही नहीं मित्र भी थे। ये शिवसिंह से दो वर्ष बड़े थे। शिवसिंह जब पचास वर्ष की आयु के थे तब संवत् 1468 (सन् 1411 ई.) में उनका राज्याभिषेक हुआ था। इस गणित से विद्यापति संवत् 1406 (सन् 1359 ई.) में उत्पन्न हुए थे। कई विद्वानों के अनुसार इनका निधन-काल संवत् 1503 (सन् 1446) के लगभग है।

विद्यापति ने तीन भाषाओं में रचनाएँ की हैं – संस्कृत में, अवहट्ठ में और मैथिली में।

3.2.2.1 संस्कृत की रचनाएँ

01. भूपरिक्रमा : यह पुस्तक अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है । इसकी एक हस्तलिखित प्रति एशियाटिक सोसाइटी बंगाल के पुस्तकालय में सुरक्षित है। यह पुस्तक महाराज देवसिंह की आज्ञा से लिखी गई थी। इसमें बलरामजी को शाप के दिनों में सुनाई गई कथाओं तथा मिथिला में नैमिशारण्य तक सभी प्रधान तीर्थों का वर्णन है।
02. पुरुष परीक्षा : यह पुस्तक शिवसिंहकी आज्ञा से लिखी गई थी। यह एक नीतिग्रन्थ है। इस पुस्तक में प्रायः ऐसी ही कथाओं को अपनाया गया है जिनके दृष्टान्त लोक में उपलब्ध हो सकते हैं और इसीलिए ये कथाएँ प्रभावपूर्ण भी हैं।
03. लिखनावली : इस पुस्तक की रचना अल्पशिक्षित व्यक्तियों को पत्र-कला सिखाने के लिए तथा विद्वानों के प्रमोद के लिए की गई। इस पुस्तक में जो पत्र लिखे गए हैं उनसे विद्यापति के युग का पर्याप्त इतिहास प्राप्त होता है।
04. शैवसर्वस्वसार : यह ग्रन्थ महाराज पद्मसिंह की रानी विश्वासदेवी की आज्ञा से लिखा गया है। इसमें शिव-पूजन आदि पर विस्तार से विचार किया गया है।
05. शैवसर्वस्वसार-प्रमाणभूतपुराणसंग्रह : इसमें भी प्रायः वे ही बातें हैं जो शैवसर्वस्वसार में हैं।
06. गंगावाक्यावली : यह पुस्तक भी रानी विश्वासदेवी की आज्ञा से लिखी गई थी। इसमें गंगाजी के पूजन आदि की विधि और वर्णन हैं।
07. विभागसार : यह ग्रन्थ महाराज नरसिंहदेव के राज्यकाल में प्रणीत हुआ था। इस ग्रन्थ में सम्पत्ति-विभाजन के नियम वर्णित हैं।
08. दानवाक्यावली : इस पुस्तक का प्रणयन रानी धीरमतिदेवी की आज्ञा से हुआ। इसमें सभी प्रकार के दानों की विधियाँ बतलाई गई हैं। साथ ही, उन वस्त्रों का भी वर्णन है जो विद्यापति के समय में प्रयोग किए जाते थे।
09. दुर्गाभक्तितरंगिणी : यह ग्रन्थ महाराज भैरवसिंह की आज्ञा से रचना गया। मिथिला में होने वाली दुर्गा की पूजाओं की विधियाँ इसमें वर्णित हैं।
10. गयापत्तलक : इसमें गया-श्राद्ध सम्बन्धी सभी बातों की विवेचना है।
11. वर्षकृत्य : इसमें वर्षभर के सभी शुभ वर्षों का विधान दिया हुआ है।

3.2.2.2 अवहट्ठ की रचनाएँ

3.2.2.2.1 कीर्तिलता

इसमें महाराज कीर्तिसिंह की वीरता का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक की रचना का उद्देश्य स्वयं कवि ने इस प्रकार बताया है –

श्रोतुर्दातुर्वदान्यस्य कीर्तिसिंह महीपतेः।
करोति कवितुः काव्यं भव्यं विद्यापतिः कविः॥

अर्थात् महाराज कीर्तिसिंह काव्य सुनने वाले, दान देने वाले, उदार तथा कविता करने वाले हैं। इनके लिए कवि विद्यापति सुन्दर मनोहर काव्य की रचना करते हैं। इस पुस्तक से तत्कालीन युगीन-परिस्थितियों पर अत्यधिक प्रकाश पड़ता है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के मत में "भाषा के अध्ययन की दृष्टि से इस पुस्तक का महत्त्व है ही, काव्यरूपों के अध्ययन की दृष्टि से भी यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।"

3.2.2.2.2 कीर्तिपताका

इस पुस्तक में महाराज शिवसिंह की कीर्तिपताका का वर्णन है।

3.2.2.3 मैथिली की रचनाएँ

3.2.2.3.1 पदावली

यह पुस्तक विद्यापति के पदों का संग्रह है। ये पद प्रधान रूप से तीन वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं – शृंगारिक, भक्ति-परक और विविध-विषयक।

3.2.2.3.2 गोरक्ष विजय

यह चार अंक का एक नाटक है। इसकी भाषा संस्कृत और मैथिली का सम्मिश्रण है। इन रचनाओं के अतिरिक्त विद्यापति के नाम से दो पुस्तकें और मिली हैं। एक है – 'पाण्डव विजय' और दूसरी है – 'मणिमंजरी', किन्तु अभी तक परिपुष्ट प्रमाण के अभाव में इनके विषय में असंदिग्ध रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

3.2.3 विषय-विस्तार

3.2.3.1 विद्यापति का काव्य-सौष्ठव

काव्य के दो पक्ष माने गए हैं – भावपक्ष और कलापक्ष। भावपक्ष में हृदय प्रधान होता है और कलापक्ष में मस्तिष्क। वैसे प्रत्येक काव्य में हृदय और मस्तिष्क का अपरिहार्य न्यूनाधिक योग रहता है।

भावपक्ष काव्य की आत्मा है और कलापक्ष उसका अलंकृत परिधान। जब किसी काव्य में भावपक्ष की प्रधानता कही जाती है तो उसका यही तात्पर्य होता है कि उसमें हृदयपक्ष-रसाभिव्यंजना-प्रमुख है और जब कलापक्ष की प्रधानता कही जाती है तो उसका तात्पर्य अभिव्यक्ति के माध्यम-भाषा, अलंकार आदि की प्रमुखता से होता है। सफल महाकवियों में भावपक्ष और कलापक्ष दोनों की सफल अभिव्यक्ति पाई जाती है।

विद्यापति सफल कवि भी हैं और महाकवि भी है । अतः इनके काव्य में यदि भावपक्ष की मंजुल पयस्विनी कलकल निनाद करती हुई प्रवाहित है तो साज-सज्जा भी है।

3.2.3.1.1 भावपक्ष

भावपक्ष से तात्पर्य रसाभिव्यंजना से है। विद्यापति प्रमुख रूप से शृंगार के कवि हैं, वैसे इनकी पदावली में इतर रस भी मिलते हैं, परन्तु उनका विशेष महत्त्व नहीं है। इन्होंने शृंगार के दोनों रूपों संयोग और वियोग का विस्तृत वर्णन किया है जो बहुत ही स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी है। इनके काव्य में मस्तिष्क हृदय के सिर पर चढ़ कर कहीं नहीं बोला है। यदि संयोग के सुख चित्रों के सौन्दर्यपूर्ण वर्णन अत्यन्त सजीव हैं तो विरह का चित्रण भी कम मर्मस्पर्शी नहीं है।

3.2.3.1.2 कलापक्ष

कलापक्ष से तात्पर्य अप्रस्तुत विधान, अलंकार-योजना और भाषा से है। विद्यापति का कलापक्ष भी भावपक्ष की तरह पूर्ण और समृद्ध है । ये काव्यशास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे, अतः इनके कलापक्ष में सभी शास्त्रीय विशेषताएँ प्राप्य हैं। इतना अवश्य है कि इनका कलापक्ष भावपक्ष का बाधक नहीं, साधक है।

3.2.3.1.2.1 अप्रस्तुत विधान

काव्य में जिनका वर्णन होता है, जो लक्ष्य होते हैं, जो अभिप्रेत रहते हैं, उन्हें प्रस्तुत कहते हैं। इनके अतिरिक्त और सब कुछ अप्रस्तुत है; अर्थात् काव्य के विषय की अधिक ग्राह्य बनाने के लिए जो विधि-विधान होता है वह अप्रस्तुत कहलाता है । अप्रस्तुत दो प्रकार के होते हैं – वास्तविक अप्रस्तुत और कल्पनाप्रसूत अप्रस्तुत। जो लोक में सम्भव है, वे वास्तविक अप्रस्तुत हैं और जिनकी लोक में कोई सत्ता नहीं है वे कल्पनाप्रसूत अप्रस्तुत है। कल्पनाप्रसूत प्रस्तुत का सफल प्रयोग प्रत्येक कवि के द्वारा सम्भव नहीं, उसके लिए असाधारण काव्य-प्रतिभा अपेक्षित है।

इन दोनों प्रकार के अप्रस्तुतों पर यदि अलंकारों की दृष्टि से विचार किया जाए तो वास्तविक अप्रस्तुत का क्षेत्र उपमा है और कल्पनाप्रसूत का उत्प्रेक्षा । समर्थ कवि ही इन क्षेत्रों के प्रति जागरूक रहे हैं, अन्यथा कवियों ने प्रायः इन क्षेत्रों पर ध्यान नहीं दिया। और, आज के काव्य का तो कहना ही क्या, जहाँ छन्द के बन्ध और अनुप्रास के रजत पाश खुल चुके हैं। विद्यापति के काव्य में इस सूक्ष्म भेद का परिपालन हुआ है। यथा –

3.2.3.1.2.1.1 वास्तविक अप्रस्तुत

अम्बर बिघटु अकामिक कामिनि
कर कुच झाँपु सुछन्दा।
कनक-सम्भु सम अनुपम सुन्दर

दुई पंकज दस चन्दा ॥

इन पंक्तियों में नायिका के सुन्दर हाथों की उपमा स्वर्ण के शिव से दी गई है। लोक में शिव की स्वर्ण प्रतिमा सम्भव है। अतः यह वास्तविक अप्रस्तुत है और इसे उपमा के क्षेत्र में रखा गया है।

3.2.3.1.2.1.2 कल्पनाप्रसूत अप्रस्तुत

सुन्दर बदन सिंदुर बिन्दु सामर चिकुर भार।
जनि रवि-ससि संगहि ऊगल पाछ काय अंधकार॥

इन पंक्तियों में केवल सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। सुन्दर मुख उस पर सिन्दूर का टीका, फिर काले-काले बालों का संभार। ऐसा प्रतीत होता है मानों अँधकार को पीछे धकेल कर, सूर्य और चन्द्रमा साथ-साथ उग आए हों। सूर्य और चन्द्रमा का एक साथ उगना लोक में सम्भव नहीं, इसलिए यह कल्पनाप्रसूत अप्रस्तुत है और इसके लिए उत्प्रेक्षा का प्रयोग किया गया है।

अप्रस्तुतों का प्रयोग दो प्रकार से होता है – (i) सादृश्य के आधार पर और (ii) साधर्म्य के आधार पर। साधर्म्य के आधार पर लाए गए उपमान अधिक प्रभविष्णु और मार्मिक होते हैं। विद्यापति ने प्रायः साधर्म्य का आधार ही ग्रहण किया है। यथा –

पीन पयोधर दूबरी गता।
मेरु उपजल कनक लता॥

यहाँ नायिका के शरीर की कुशता कनकलता से उपमित है। लता और शरीर का कोई सादृश्य नहीं है। लता के उपमान से शरीर की कमनीयता ही अभिप्रेत है। कमनीयता लता का धर्म है। इसी प्रकार पयोधरों का उपमान मेरु है। मेरु का कठोरता और उत्तुंगता धर्म है।

3.2.3.1.2.2 अलंकार योजना

काव्य में अलंकारों की आवश्यकता वैसी ही है जैसी शरीर पर आभूषणों की। प्राचीनकाल में अलंकारों का प्राधान्य माना जाता था। आगे चलकर लोगों ने यहाँ तक कह दिया कि काव्य अलंकार के कारण ग्राह्य होता है। उन्होंने अलंकारों को बाह्य आभूषण न मानकर सौन्दर्य माना। कुछ लोग तो यहाँ तक कहने लगे कि काव्य में जो अलंकारों का नित्य ग्रहण नहीं मानते, उनका हठ उसी प्रकार का है जैसे अग्नि को उष्णतारहित कहना। पर काव्य के स्वरूप को समझने वाले अलंकारों को हारादिवत् बाह्य आभूषण ही मानते रहे। उन्होंने अलंकारों को काव्य का अस्थिर धर्म ही माना। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के शरीर पर आभूषण न रहने पर भी उसका अस्तित्व रहता है, उसी प्रकार अलंकार का प्रयोग न होने पर भी काव्य रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि अलंकार काव्य का गौण उपादान है, मुख्य नहीं।

अलंकार के दो भेद माने गए हैं – (i) शब्दालंकार और (ii) अर्थालंकार । शब्दालंकार शब्दगत अर्थात् स्थूल बाह्य चमत्कार को लेकर चलते हैं और अर्थालंकार भावधारा को गहनतर और प्रभावोत्पादक बनाते हैं । विद्यापति के काव्य दोनों प्रकार के अलंकारों का ही सफल प्रयोग करते हैं । ऐसा प्रतीत होता है जैसे कवि की भावधारा में अलंकार स्वतः बहते चले आते हैं। अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, विरोधाभास, यथासंख्य, व्यतिरेक, पर्यायोक्ति, एकावली, असंगति, विशेष, तद्गुण आदि का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। पदावली में आए हुए इनके उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

पल्लवराज चरण-युग सोभित गत गजराज क भाने।
कनक कदलि पर सिंह समारल तापर मेरु समाने।

3.2.3.2 'पदावली' का काव्य-सौष्ठव

यद्यपि विद्यापति ने लगभग एक दर्जन संस्कृत ग्रन्थों का निर्माण किया था, तथापि उनकी प्रसिद्धि का आधार इनकी 'पदावली' है। गाने योग्य छन्द 'पद' कहे जाते हैं। पद शैली का मूल स्रोत लोकगीत है। प्रायः पदों के साथ किसी न किसी राग का निर्देश मिलता है । विद्यापति कविता में 'जयदेव' को अपना आदर्श माना है इसलिए लोग इन्हें 'अभिनव जयदेव' कहते हैं।

ग्रियर्सन ने लिखा है – "हिन्दू धर्म के सूर्य का अस्त भले हो जाए, वह समय भी आ जाए जब राधा और कृष्ण में मनुष्यों का विश्वास और श्रद्धा न रहे; और, कृष्ण के प्रेम की स्तुतियों के लिए, इहलोक में हमारे अस्तित्व के रोग की दवा है, अनुराग आता रहे, तो भी विद्यापति के गान के लिए जिसमें राधा और कृष्ण का उल्लेख है – लोगों का प्रेम कभी कम न होगा ।" एक जगह पुनः ग्रियर्सन लिखते हैं – "जिस प्रकार पादरी Solomon (सुलेमान) के गीत गाते हैं, उसी प्रकार भक्त हिन्दू विद्यापति के अनूठे पदों को गाते रहते हैं।"

विद्यापति की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और समस्त हिन्दी प्रदेश में अत्यन्त लोकप्रिय 'पदावली' एक विशुद्ध शृंगारिक कृति है। सौन्दर्य के प्रति आसक्ति और मानव-मन की प्रेमानुभूति की अबाध अभिव्यक्ति ही इस कृति का केन्द्रीय उद्देश्य है । आरम्भ में भक्ति और अध्यात्म, फिर रहस्यवाद से इसे सम्बद्ध करने की तमाम कोशिशों की निरर्थकता आज स्वतःसिद्ध है । "विद्यापति की कविता का स्थापत्य शृंगारिक है । उसे आध्यात्मिक कहना खजुराहो के मन्दिरों को आध्यात्मिक कहना है । उनके शृंगार में यौवनोन्माद का शारीरिक आमन्त्रण है, संभोग का सुख है, विलास की विह्वलता है, वियोग में स्मृतियों का सम्बल और भावुकतापूर्ण तन्मयता है।" राधा और कृष्ण की संभोगकालीन केलि-क्रीड़ाओं का वर्णन होते हुए भी इसे सुगमतापूर्वक किसी भी सामान्य नायक-नायिका का प्रेम-व्यापार कहा जा सकता है।

'पदावली' का वैशिष्ट्य इसकी भावाभिव्यंजना तथा अभिव्यंजना कौशल (कला, पक्ष) दोनों के ही अद्भुत रूप से प्रभावशाली होने के कारण है। नखशिख-वर्णन हो या मिलनाकांक्षा, विद्यापति का वर्णन अप्रतिम है, क्योंकि उसमें अंगों के साथ-साथ हाव-भावों का भी स्थितिवत् विनियोग हुआ है –

मधुक मातल उड़ए न पारए
तइअओ पसारइ पाँखि।

कृष्ण के नेत्र रूपी भ्रमर राधा के सौन्दर्य रूपी मधु का छककर पान कर चुका हैं । अतः पाँखें पसारने पर भी उड़ नहीं पा रहा हैं । मधुमस्त भ्रमर का यह क्रियात्मक बिम्ब आँखों के सौन्दर्य के साथ कृष्ण के आकर्षक रूप का भी संकेत करता है । मांसल सौन्दर्य-वर्णनों के तहत भी विद्यापति मानव-स्वभाव व मनोविज्ञान को नहीं भूलते –

निरजन उरज हेरइ कत बेरि,
हँसइ जे अपन पयोधर हेरि।

संयोग प्रसंग में विद्यापति का मन प्रथम समागम में खूब रमता है। इस अवसर पर अनंग की बुभुक्षा देखते ही बनती है । कामातुर नायक व नायिका बिना किसी कुण्ठा या वर्जना भाव के मिलते हैं। फिर भी नायिका का भोलापन देखते ही बनता है –

हँसि हँसि बहु आलिंगन देल।
मनमथ अंकुर कुसमित भेल॥
जब निविबंध सरकाओल कान।
तोहर सपथ हम किछु नहि जान॥

पदावली में भाव-वर्णन अत्यधिक मार्मिक, प्रौढ़ तथा सशक्त हैं । संयोग-शृंगार के मादक चित्र हों, चाहे वियोग-व्यथा का मार्मिक वर्णन-हृदय की तरलता और गहराई का सम्मिश्रण दोनों अवस्थाओं में समान रूप से विद्यमान है। भावों की इस अपार सम्पदा का संरक्षण विद्यापति ने उतनी ही सशक्त भाषाभिव्यंजना के द्वारा किया है। भाषा लालित्य हो चाहे अलंकार योजना, पद-शैली हो या चित्रात्मकता – सबने समवेत रूप से जनमानस को मुग्ध किया है। विद्यापति के पदावली में तीन प्रकार के पद हैं – राधा-कृष्ण सम्बन्धी पद, शिव, विष्णु, गंगा, जानकी, दुर्गा आदि के स्तुतिपरक पद तथा आश्रयदाता राजाओं की स्तुति भरे पद।

राधा-कृष्ण सम्बन्धी पदों में शृंगार रस की प्रधानता है । यहाँ रीतिकालीन काव्य के सारे लक्षण मिल जाएँगे । यथा – रतिक्रीड़ा, नखशिख-वर्णन, संयोग-वर्णन, विरह-वर्णन आदि । दूसरे भाग में शिव, दुर्गा, विष्णु आदि के स्तुतिपरक गीतों में विद्यापति का भक्तिगान स्पष्ट परिलक्षित होता है। तीसरे प्रकार के पदों में विद्यापति ने अपने आश्रयदाताओं की वीरता का गुणगान किया है।

विद्यापति के पदों की सबसे बड़ी विशेषता उसकी संगीतात्मकता है। विद्वानों से लेकर हलवाहों तक की मण्डली में विद्यापति के पदों की लोकप्रियता का कारण इसकी सहज संगीतात्मकता, सरल सम्प्रेषणीयता और उसमें लोकचित्त की भावनाओं की अनुगूँज है । गीतिमयता इनके गीतिकाव्यों का प्राण तत्त्व है । कहने की आवश्यकता नहीं कि मैथिली में रचे गए इनके सारे के सारे पद गीति ही हैं । गेयधर्मिता इनमें इस तरह भरी हुई है

कि रागों के सारे शास्त्रीय विधानों के साथ कई बड़े संगीतज्ञ भी ये गीत सफलतापूर्वक गाते हैं, लय, ताल, छन्द, मात्रा की कोई भी त्रुटि उन्हें इन गीतों में नहीं दिखती और दूसरी तरफ एकदम से अपटु व्यक्ति जिन्हें संगीत शास्त्र के व्याकरण की कोई जानकारी नहीं है, वे भी बड़ी तन्मयता से गाकर आत्मसुख प्राप्त करते हैं। एक गीत प्रस्तुत है –

कखन हरब दुःख मोर हे भोलानाथ ।
दुखहि जनम भेल दुखहि गमाओल
सुख सपनहु नहि भेल हे भोला।
एहि भव सागर थाह कतहु नहि
भैरव धरु करुआर ; हे भोलानाथ।
भन विद्यापति मोर भोलानाथ गति
देहु अभय बर मोहि, हे भोलानाथ।

इस गीत को बगैर कहीं किसी शब्द और मात्रा परिवर्तन के लोग कभी प्रातःकालीन धुन पर गाते हैं, कभी सोहर की धुन में, कभी किसी और ही धुन में। यह इन गीतों में आत्मा की तरह बैठी हुई संगीतात्मकता ही है जो इन्हें इस कदर लयबद्ध की हुई हैं।

विद्यापति के गीतों में यह बहुत बड़ी विशेषता है कि इनके यहाँ सारे काव्यगीत उन तत्त्वों से युक्त हैं जिनके कारण गीतकार की तन्मयता के अनुरूप ही पाठकीय तन्मयता मौजूद है । पाठक, भावक और गायक – तीनों ही वर्ग के लोग इन गीतों में उतनी ही तन्मयता से खो जाते हैं, जितनी रचनाकार की रही होगी । इनकी गीति रचनाएँ, चाहे भक्तिपरक हों अथवा शृंगारपरक, शक्ति वन्दना हो या गंगा स्तुति या शिव नचारी, विरह विलाप हो या मिलन सुख से युक्त– सबके सब भावक को लीन करने में सफल हैं। पावस की रात में मेघ जब अपनी सारी कलाओं में बरस रहा होता है, तब घर में अकेली बैठी कोई युवती अपने पिया की अनुपस्थिति की पीड़ा किस तरह सहती है, इसको महाकवि ने इस प्रकार चित्रित किया हैः

सखि हे हमर दुखक नहि ओर ।
इ भर बादर माह भादर सून मंदिर मोर।
झम्पि घन गर्जन्ति संतत भुवन भर बरसंतिया।
कंत पाहुन काम दारुण सघन खर सर हंतिया।
कुलिस कत सत पात मुदित मयूर नाचत मत्तिया ।
मत्त दादुर डाक डाहुक फाटी जायत छातिया ।
तिमिर दिग भरि घोर जामिनि अथिर बिजुरिक पांतिया।
विद्यापति कह कइसे गमओब हरि बिना दिन-रातिया।

इस गीत में यौन पिपासा, देह लिप्सा और उद्दाम कामुकता से आतुर किसी कामुक युवती की अश्लील काम भावना नहीं, विरह की आत्यन्तिक पीड़ा सहती, प्रेम रंग में रंगी एक प्रेम तपस्विनी की व्यथा व्यक्त हुई जिसे सुनकर, पढ़कर या गाकर कोई भी व्यक्ति उस दृश्य से एकात्म्य स्थापित कर लेता है । इन गीतों में मणिकांचन

संयोग की दशा यह है कि एक तरफ चित्रण ऐसे उत्कर्ष पर और दूसरी तरफ गीतिमयता यह कि पढ़ते हुए भीतर में कोई संगीत बज उठे। शब्दों का उच्चारण होते ही अनुभव हो कि शायद आसपास कोई वाद्य यन्त्र बज रहा हो, कोई मादक संगीत चल रहा हो, जो भीतर से ह्दय को कहीं कुरेदता है।

प्रो॰ मैनेजर पाण्डेय कहते हैं, "विद्यापति के पदों में सौन्दर्य चेतना का आलोक भावानुभूति की तीव्रता, घनत्व एवं व्यापकता और लोकगीत तथा संगीत की आन्तरिक सुसंगति है। कुछ आलोचकों का मत है कि विद्यापति के गीत लोकगीत के अधिक निकट हैं और उनमें संगीत की शास्त्रीयता का अभाव है। विद्यापति के गीतों में संगीत के तत्त्वों का अभाव नहीं है, क्योंकि लोचन कवि ने रागतरंगिनी में विद्यापति के गीतों की संगीतात्मकता का विशद् विवेचन किया है। विद्यापति के गीतों का प्रभाव सूरदास के लीला पदों के रूप पर दिखाई पड़ता है, ... विद्यापति और सूरदास दोनों ही भक्ति आन्दोलन के कवि हैं, दोनों के काव्य में लोकगीत की मौखिक परम्परा का सर्जनात्मक रूप व्यक्त हुआ है। ये दोनों ही हिन्दी जगत् के दो जनपदों की भाषा के ग्रामगीतों के कलात्मक रूप के निर्माता और उन गीतों में जन संस्कृति के रचनाकार हैं।" विद्यापति के गीत एक ओर लोकगीतों के करीब हैं तो दूसरी ओर इनमें शास्त्रीयता भी है। विद्यापति के संकलित पदों शीर्ष पर रागों का नाम उल्लिखित है कि कौन-सा गीत किस राग में गाया जाएगा। मालव राग, छनछरी, सामरी, अहिरानी, केदार, कानड़ा, कोलाव, सारंगी, गुंजरी, वसन्त, विभास, नटराग, ललित, बरली आदि रागों का उल्लेख पदों में शीर्ष पर है।

महाकवि विद्यापति के पदों की गीतात्मक विशेषता ही है कि असंख्य गीत लोक-कण्ठ में बस गए हैं और यह कवि का लोक-सम्बन्ध तथा लोक-संस्कृति से गहरी सम्बद्धता ही है कि इन गीतों में विभिन्न सामाजिक रीति-रिवाज मौजूद हैं जिस कारण वे गीत जनपद की ललनाओं द्वारा उपनयन, विवाह, मुण्डन, पूजा-पाठ, कीर्तन-भजन, सोहर, जन्म-मरण आदि अवसरों पर गाए जाते हैं और बिल्कुल उन अवसरों के लिए सटीक बैठते हैं।

महाकवि विद्यापति के कई गीत यदि लोक-कण्ठ में बस गए हैं तो उसका कारण यही है कि यहाँ शब्द संगीत, नाद संगीत और भाव संगीत– तीनों एकमेक होकर ऐसी त्रिवेणी बहा रहे हैं, मानों गीतिकाव्य का आनन्दातिरेक यहीं से शुरू होकर यहीं खत्म हुआ चाहता है। 'जनन के पतियालए जाएत रे', 'सखि हे, हमर दुःखक नहि ओर', 'सखि की पूछसि अनुभव मोहि', 'प्रथम सूमागम भुशल अनंग', 'उगना रे मोर कतए गेलाह', 'जय-जय भैरवि असुर भयाउनि', 'बड़ सुखसार पाओल तुअ तीरें' ... जैसे गीतों के पद पढ़े जाते हैं तो इनमें शब्द संगीत, नाद संगीत और भाव संगीत की ऐसी ताकत भरी हुई है कि बिन प्रयास के खुद नितान्त अपटु और लयहीन मनुष्य के मुँह से भी धुन और लय फूट पड़ती है। इनके गीतों को गाने की ज़रूरत नहीं होती, यहाँ संगीत तत्त्व इतना बलवान् है कि वह स्वतः फूट पड़ता है।

विद्यापति के गीत लोकगीत के रूप में प्रचलित हैं। ये जनपद में मनुष्य के राग-विराग, संयोग-वियोग, दुःख-सुख, हर्ष-विषाद, मिलन-विरह, मान-समर्पण, लास-उल्लास, लाज-धाक, क्रोध-स्नेह रंग और पानी की तरह घुले-मिले हैं। यह विभाजक रेखा खींचना पाना कठिन है कि जनपद की कौनसी कहावत और कौनसा मुहावरा

इनके गीतों में आकर साहित्य बन गया है और कौन सी पंक्ति लोक-कण्ठ में जाकर कहावत बन गई है। किसी के आगमन के लिए काक-शकुन की प्राचीन परम्परा मिथिला में है। महाकवि विद्यापति जब विरह व्याकुल नायिका द्वारा 'काग' की खुशामद करने वाले गीत में इस लोक सत्य को व्यक्त करते हैं तो वह एक परिष्कृत रूप के साथ सामने आता है। आज भी इस पद की पंक्ति किसी प्रतीक्षा करती नायिका के मुँह से निकल जाती है –

मोरा रे अंगनवां चनन केरि गछिया
ताहि चढ़ि कुररय काग रे
सोने चोंच बांधि देब तोयं वायस
जओं पिया आबत आज रे।

आम जनजीवन की सामान्य सच्चाई है कि किसी भी तरुणी का प्रीतम जब उससे अलग रहता है तो सतत वह उसके सम्बन्ध में ही सोचती रहती है। कामदग्धा नायिका की जो आकांक्षाएँ जाग्रतावस्था में पूरी नहीं होती है और हरदम वे जिनके लिए व्याकुल रहती हैं, स्वप्न में उन आकांक्षाओं की पूर्ति शुरू हो जाती है। लेकिन इस पूर्ति की लालसा इतनी उत्कट रहती है कि उस हाल में वह सोयी नहीं रह पाती। अपनी आंगिक और वाचिक चेष्टाओं के कारण जाग जाती है।

विद्यापति पदावली में राधा-कृष्ण के बहाने से नायक-नायिका के विरह मिलन का सूक्ष्म और मार्मिक चित्रण हुआ है। संयोग पक्ष का चित्रण करने में कवि की भावाभिव्यक्ति सहज रूप में व्यक्त हुई है। कवि ने नायक-नायिका के आन्तरिक भावों को सहज अभिव्यक्ति दी है। प्रेम वस्तुतः विरह की आग में तपता है। विद्यापति ने भी विरह के माध्यम से गहरी प्रेमानुभूति व्यक्त की है। आन्तरिक भावों के चित्रण में कवि बेजोड़ हैं।

3.2.4 पाठ-सार

विद्यापति 'पदावली' कथ्य की दृष्टि से वैविध्यपूर्ण है, किन्तु इसमें मुख्यता शृंगार के प्रसंगों की है। विद्वानों ने इस शृंगार को भक्ति से समन्वित किया है और कवि को 'अभिनय जयदेव' की आख्या प्रदान की है, किन्तु विद्यापति केवल हरि स्मरण और काम-कला को सूत्रबद्ध करनेवाले रचनाकार नहीं है, अपितु वे लोक-जीवन के सामान्य पक्षों को भी चित्रित करने वाले हैं। 'पिया मोर बालक हम तरूनी गे' कहने वाले कवि अपने समय की सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करते हैं। उनकी अधिकांश लोकोक्तियाँ जन-जीवन की विसंगतियों पर व्यंग्य-बाण चलाती हैं। 'नख छेदन के लाभ-कुठा', 'छोट पाणि चह चह कर पीढ़ी के नहि जान', 'हम तह के विसहू आगर ढ़ोढ़हि काशिम मान' आदि उक्तियाँ हिन्दी के व्यंग्य काव्य को नया आयाम देती हैं।

विद्यापति में पाण्डित्य और प्रतिभा का मणिकांचन संयोग दृष्टिगोचर होता है। मम्मट ने 'काव्य-प्रकाश' में प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य हेतु के रूप में वर्णित किया है। विद्यापति की 'पदावली' में काव्यशास्त्र और कामशास्त्र की व्युत्पत्ति या अभिज्ञता के साथ-साथ नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा के भी दर्शन होते हैं। उन्होंने अभ्यास की निरन्तरता के द्वारा पाण्डित्य और प्रतिभा के सायुज्य को उपस्थापित किया है। "बाजत दृग दृग

धौ दृमि दिमियां' लिखने वाला कवि 'सखि हे हमर दुःखक नहीं ओर' जैसी पंक्ति भी रचता है। सद्यःस्नाता और नख-शिख का निरूपण करने वाले सौन्दर्य के कवि विद्यापति जब 'वारि विदुण सरभ्यौ नहीं पूछ' जैसी पंक्ति प्रस्तुत करते हैं तो वे शास्त्र के साथ लोक के भी कवि सिद्ध होते हैं। उनका कवित्व विखण्डित नहीं है, उसमें भावलोक की समग्रता के दर्शन होते हैं। आनन्दवर्धन ने कहा था कि अमरुक का एक-एक श्लोक सौ-सौ प्रबन्धकाव्यों के बराबर है। उसी तरह विद्यापति के एक-एक पद में रस-रास की उच्छलता लक्षित होती है।

3.2.5 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. 'मैथिल कोकिल' किसे कहा जाता है ?
   (क) जयदेव
   (ख) विद्यापति
   (ग) सूरदास
   (घ) कालिदास

   सही उत्तर – (ख) विद्यापति

2. 'कीर्तिलता' किसकी रचना है ?
   (क) कबीर
   (ख) जायसी
   (ग) ज्योतिरीश्वर ठाकुर
   (घ) विद्यापति

   सही उत्तर – (घ) विद्यापति

3. 'अभिनव जयदेव' किसे कहा जाता है ?
   (क) कालिदास
   (ख) तुलसीदास
   (ग) विद्यापति
   (घ) रहीम

   सही उत्तर – (ग) विद्यापति

4. 'कीर्तिलता' की भाषा क्या है ?
   (क) अवहट्ठ
   (ख) हिन्दी
   (ग) मैथिली
   (घ) बांग्ला

   सही उत्तर – (क) अवहट्ठ

5. विद्यापति कहाँ के निवासी थे ?
   (क) विसफी, मिथिला
   (ख) तरौनी, मिथिला
   (ग) बंगाल
   (घ) इनमें से कोई नहीं

सही उत्तर – (क) विसफी, मिथिला

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. विद्यापति का सामान्य परिचय दीजिए।
2. विद्यापति की रचनाओं के नाम लिखिए।
3. विद्यापति की पदावली पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
4. विद्यापति की भाषा पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
5. पदावली की भाषा पर प्रकाश डालिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. विद्यापति भक्त हैं या शृंगारिक ? अपने मंतव्य का प्रतिपादन कीजिए।
2. "विद्यापति प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं।" प्रमाणित कीजिए।
3. विद्यापति के काव्य-सौष्ठव का मूल्यांकन कीजिए।
4. विद्यापति की भक्ति-भावना पर प्रकाश डालिए।
5. गीतिकाव्य-परम्परा में विद्यापति का स्थान निर्धारित कीजिए।

3.2.6 उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. विद्यापति-पदावली, प्रथम भाग, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
2. विद्यापति की पदावली, रामवृक्ष बेनीपुरी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, नई दिल्ली, पटना
3. महाकवि विद्यापति, पण्डित शिवनन्दन ठाकुर, पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय
4. विद्यापति ठाकुर, डॉ० उमेश मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण सन् 1960 ई.
5. विद्यापति कीर्तिलता, प्रथम पल्लव, सं. : डॉ० बाबूराम सक्सेना, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

❖❖❖

खण्ड – 3 : विद्यापति का पदावली साहित्य

इकाई – 3 : विद्यापति का प्रेम-दर्शन

इकाई की रूपरेखा

3.3.0 उद्देश्य कथन
3.3.1 प्रस्तावना
3.3.2 विषय-विस्तार
3.3.2.1 विद्यापति का प्रेम-दर्शन
3.3.3 पाठ-सार
3.3.4 बोध प्रश्न
3.3.5 उपयोगी ग्रन्थ-सूची

3.3.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. विद्यापति के प्रेम की मूल प्रवृत्ति को समझ सकेंगे।
ii. विद्यापति के प्रेम की अलौकिकता से अलग हटकर उसमें प्रतिफलित ऐहिकता को समझ सकेंगे।
iii. विद्यापति के स्थूल शृंगास्वर्णन में निहित प्रेमगत मानसिकता का साक्षात्कार कर सकेंगे।

3.3.1 प्रस्तावना

सामान्यतः यह समझा जाता है कि प्रेम एक दैहिक व्यापार है जो विचलनशील है। इसमें शारीरिकता और मांसलता का अतिरेक होता है। इसका लक्ष्य केवल मिलन है, विरह इसे बाधित करता है। लोकमान्यता के अनुसार यह वासना से पृथक् नहीं है, किन्तु भारत इसे शृंगार के सन्दर्भ में उदात्त रूप प्रदान करता रहा है। यहाँ जिस तरह शृंगार को 'शुचि-उज्ज्वल' माना गया है उससे ऐसा लगता है कि प्रेम का स्वरूप भी दिव्य है। भारतीय परम्परा के कवि विद्यापति ने 'कुमारसम्भवम्', और 'मेघदूतम्' के कवि कालिदास की ही तरह प्रेम को शरीर के बन्धन से निकालकर मानस लोक के निवासी के तौर पर चित्रित किया है। उनका प्रेम-दर्शन दैहिक आकर्षण की नश्वरता और निष्ठाहीनता के प्रतिपक्ष में खड़ा है। विद्यापति प्रेम को कुन्दन और मृणालतन्तु से उपमित करते हैं। इसी तरह वे प्रेमोद्यान का उल्लेख करते हैं। ये सारे बिम्ब प्रेम के चेतन और मर्यादित स्वरूप के संकेतक हैं। इसी उद्देश्य को सामने रखकर विद्यापति ने अपने शृंगारिक काव्य को देह से मन के स्तर तक ले जाने का काम किया है।

रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि "प्रेम भी लोभ ही है, पर विशेषोन्मुख। यह विशेषोन्मुखता प्रायः सौन्दर्य के अवेक्षण से निर्मित होती है। प्रिय पात्र के प्रति विशिष्ट आकर्षण ही 'प्रेम' है। रूप-दर्शन की परिणति प्रेम में होती है। यह प्रेम निजी स्वरूप रखता है, किन्तु काव्य में अभिव्यंजित होकर सबकी वस्तु हो जाता है। कहा जाता है कि

सुन्दर पदार्थ ही प्रेम की वस्तु बनने की पात्रता रखता है।" इसी मान्यता का दूसरा पक्ष यह है कि यह प्रेम ही है जो किसी पदार्थ को सुन्दर बना देता है। यह सुन्दरता प्रथम दर्शन से उत्पन्न और साहचर्य-सम्भूत प्रेम की आधारभूमि है। विद्यापति के शृंगार-वर्णन में प्रणय के शास्त्रीय ही नहीं, वैयक्तिक पक्षों की अवगति होती है। उनका प्रेम-दर्शन सार्वकालिक और सार्वभौम है जो प्रसंगवश शारीरिक से मानसिक स्तर तक ऊपर उठकर अपनी अनन्यता का दिग्दर्शन कराता है। विद्यापति ने इसे 'सुजन' या सुनायक का प्रेम कहा है जो संताप झेल कर अधिक मूल्यवत्ता की उपलब्धि करता है और टूटकर भी विच्छिन्न नहीं होता है –

सुजनक पेम हेम समतूल
दहइत कनक द्विगुण होई मूल
टुटइत नहीं टुट पेम अद्‌भुत
जैसन बढ़ै मृणालक सूत

विद्यापति का प्रेम-दर्शन जड़ और सपाट नहीं है। उसमें नित्य नवीन होने की संकल्पना निहित है। सौन्दर्य की गतिशील आभा ही प्रेम को गत्वर (Dynamic) रूप प्रदान करती है। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' में रमणीयता या सुन्दरता को क्षण-क्षण रूप परिवर्तनकारिणी बतलाया है –

क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदैव रूपं रमणीयतायाः

विद्यापति इस सत्य की स्वानुभूति को निम्नलिखित पंक्तियों में अभिव्यंजित करते हैं–

सखि कि पूछसि अनुभव मोय
सेहो प्रीति अनुराग बखानिए
तिल तिल नूतन होय
जनम अवधि हम रूप निहारलि
नयन न तिरपित भेल

उपर्युक्त सन्दर्भ रूप और प्रेम की अनन्तता का द्योतक है। विद्यापति के शृंगार-वर्णन का यह आनुभविक पक्ष है। वे देह के आकर्षण से मन की द्रुति तक पहुँचते हैं। उनकी दृष्टि में सौन्दर्य स्थूल नहीं, चेतन है। इसे वे 'अपरूप' की संज्ञा देते हैं।

विद्यापति को जयदेव और सूरदास की तरह कृष्णकाव्य से जोड़ा जाता है। कृष्णकाव्य के उपजीव्य ग्रन्थ 'श्रीमद्‌भागवत' में प्रेम को परम पुरुषार्थ माना गया है – 'प्रेमा पुमर्थो महान्'। भारतवर्ष में जिन चार पुरुषार्थों की चर्चा की गई है उनमें तीसरा 'काम' है। यह 'काम' लोक-जीवन और सृष्टि का आधार है। समस्त कामनाएँ इसी काम-तत्त्व से सम्बद्ध हैं। इस काम की एकोन्मुखता ही प्रेम के रूप में साकार होती है। यह व्यापक राग-तत्त्व का विशेषीकरण है इसीलिए इसे 'अनुराग' भी कहा जाता है। काम में जब निर्विकल्पता आती है तब उसे प्रेम कहते हैं। कामनाओं की विविधता 'काम' के आयाम को विस्तृत बनाती है, किन्तु प्रेम की केन्द्रीयता 'काम' की

विचलनशीलता को तिरोहित कर देती है । शृंगार की सात्त्विकता ही प्रेम में प्रतिफलित होती है । विद्यापति के राधा-कृष्ण से जुड़े प्रेम-वर्णन में काम-तत्त्व की उदात्तता और एकनिष्ठता लक्षित होती है । यही कारण है कि इस प्रेम को लोगों ने भक्ति के रूप में ग्रहण किया है । विद्यापति के पदों को चैतन्य सम्प्रदाय के लोग 'कीर्तन' कहते हैं । उन 'कीर्तनों' को बंगाल में ईश्वर के अनुराग से जोड़ा जाता है । जयदेव के 'गीत-गोविन्द' में भी राधा-कृष्ण के प्रेम की वही उदात्त भूमि दिखाई पड़ती है । वहाँ 'काम' और हरि-स्मरण को एक साथ जोड़ दिया गया है । विद्यापति ने ऐसा नहीं किया है । उनके अधिकांश पदों में आध्यात्मिक नहीं, लौकिक प्रेम का निरूपण मिलता है, किन्तु वहाँ इच्छाओं के भटकाव नहीं, प्रेम की निष्ठा के दर्शन होते हैं । प्रेम की ऐसी ही मानसिक एकसूत्रता में विद्यापति के प्रेम-दर्शन का बीज संग्रथित है । 'काम' के उदात्तीकरण और स्त्री-पुरुष की चित्तगत एकात्मकता के सन्दर्भ में ही कवि के प्रेम-विषयक विशेष दृष्टिकोण को समझा जा सकता है ।

3.3.2 विषय-विस्तार

3.3.2.1 विद्यापति का प्रेम-दर्शन

विद्यापति ने मिलन के लिए उत्कण्ठिता नायिकाओं के कई प्रसंगों को उपनिबद्ध किया है । कई विद्वान् अभिसारमूलक ऐसे पदों को अध्यात्मप्रवण मानते हैं, किन्तु यहाँ पूर्णतः लौकिक जीवन की प्रतिच्छाया दिखाई पड़ती है । कवि की अभिसारिकाएँ प्रेम में पगी स्त्रियों की आन्तरिक शक्ति को व्यंजित करती हैं । प्रेम उन्हें विकराल परिस्थितियों से जूझने की क्षमता देता है । कृष्णाभिसारिका के एतत्सम्बन्धी साहस का दिग्दर्शन निम्नलिखित पद में हुआ है जो इस सन्दर्भ में उद्धरणीय है –

रयनि काजर बम, भीम भुजंगम
कुलिस पड़ए दुबार ।
गरज तरस मन, ऐसे बरिस घन
संसय पड़ अभिसार।
चरन बेधल फनि, हित कय मानल धनि
नेपुर न करए रोल।
सुमुखि पुछी तोहि, सरूप कहसि मोहि,
सिनेह कतए दुर ओल ।

भयानक वृष्टि और वज्रपात के बीच प्रेमिका तनिक भी त्रस्त नहीं है । वह पैरों से सर्पों को मर्दित करती हुई अपने प्रेमी का नैकट्य-लाभ करती है । उपर्युक्त पद में सखी नायिका के प्रेम या स्नेह के साहस को देखकर आश्चर्यचकित है । जो लोग विद्यापति की अभिसारिकाओं को आध्यात्मिकता से जोड़ते हैं वे कवि के प्रेम की लौकिकता को ढँकने का प्रयत्न करते हैं । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यह सही टिप्पणी की है कि – "आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गए हैं । उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने गीत-गोविन्द के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया है उसी तरह विद्यापति के इन पदों को भी ।"

अनेक विद्वानों ने विद्यापति के पदों में निहित प्रेम को लौकिक बताया है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने कवि को आदि रस अर्थात् शृंगार का कवि माना है। बहुत बाद चलकर उन्हें बंगाल के भक्तों में कीर्तन के कवि-रूप में याद किया गया है।

विद्यापति कीर्तन नहीं, सांसारिक सौन्दर्य के कवि हैं। उन्होंने राधा-कृष्ण के प्रेम-वर्णन को शृंगार की दृष्टि से ही रचा है। उनका मुख्य उद्देश्य शृंगारिक कवि के रूप में स्वयं को स्थापित करना है। वे कालिदास, अमरुक और गोवर्धनाचार्य की उस शृंगारिक परम्परा के कवि हैं जिन्होंने प्रेम के भौतिक पक्षों को उजागर किया है। विद्यापति का काव्य ऐन्द्रिय संवेदनाओं से परिपूर्ण है, किन्तु उनके ऐन्द्रिय शृंगार में विचलनशीलता नहीं, गहन समर्पणशीलता मिलती है।

विद्यापति ने लौकिक नायक-नायिकाओं को ही कृष्ण और राधा के नाम दे दिए हैं, किन्तु उनके पीछे कोई आध्यात्मिक लक्ष्य नहीं है। कवि के शृंगार सम्बन्धी पद मिथिला में 'कोहबर' के गीतों के रूप में गाए जाते हैं। ऐसे गीत शुद्ध गार्हस्थ्य जीवन को रसात्मक आधार देने के लिए गाए जाते हैं। ये प्रीति को प्रगाढ़ बनाने के उपकरण के तौर पर व्यवहृत हैं।

विद्यापति का प्रेम रूप के धरातल पर उत्पन्न होकर अपनी शाखाओं-प्रशाखाओं को फैलाता है। अलंकार शास्त्र में वर्णित शृंगारिक उपमानों के द्वारा निर्मित रूप का निम्नलिखित चित्रण दैहिक सौन्दर्य के आकर्षण को व्यक्त करता है –

कि आरे ! नब जौबन अभिरामा।
जत देखल तत कहए न परिअ,
छओ अनुपम एक ठामा।
हरिन इन्दु अरविन्द करिनि हेम,
पिक बूझल अनुमानी।
नयन बदन परिमल गति तन रूचि,
अओ अति सुललित बानी।
कुच जुग परसि चिकुर फुजि पसरल
ता अरूझायल हारा।
जनि सुमेरू ऊपर मिलि उगल,
चांद बिहिनु सब तारा।
लोल कपोल ललित मनि कुंडल,
अधर बिम्ब अध जाई।
भौंह भ्रमर नासापुट सुन्दर,
से देखि कीर लजाई।

विद्यापति का प्रेम वियोग-वर्णन में अपनी शक्तिमत्ता को प्रदर्शित करता है । कालिदास ने 'उत्तरमेघ' में वियोगावस्था के प्रणय को राशीभूत या घनीभूत ज्ञापित किया है । प्रेम की यह प्रगाढ़ता उसकी भोग-विहीनता में लक्षित होती है –

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिस्तेत्वयोगा-
दिष्टे वस्तुन्मुपचितरसा प्रेमराषी भवन्ति ॥

संभोग शृंगार की तुलना में विप्रलम्भ शृंगार प्रेम को संवेदना का बड़ा आकाश उपलब्ध कराता है। प्रेमी-प्रेमिका को वियोग समस्त चराचर से जोड़ता है । वियोगावस्था में प्रेम की व्याप्ति बढ़ जाती है । कालिदास का पुरुरवा पूरी प्रकृति में उर्वशी की खोज करता है और राम लता से सीता का पता पूछते हैं । प्रणयी जन की ऐसी भावाकुलता प्रेम को अनुभूति प्रवण बना देती है । विद्यापति के पदों में प्रणय की अनुभूतिमयता अभिभूत करती है । आचार्य विश्वनाथ मिश्र ने लिखा है कि प्रणय-क्षेत्र का वियोग अपने विस्तार में पूरे जगत् को समा लेता है, अतः उसका प्रभाव अधिक पड़ता है – "वस्तुतः वियोग प्रेम के विस्तार के लिए बहुत बड़ा अवकाश निकाल लेता है । प्रेमी संयोगावस्था में चाहे वृक्षों और लताओं से प्रेम-निवेदन या प्रेम-कथन न करे, पर वियोगावस्था में जड़ पदार्थों से भी अपना प्रेम कहता फिरता है, उनसे भी मार्ग पूछता है ।"

प्रेम में द्वैत मिट जाता है । नायक और नायिका को समानतः सुख-दुःख का अनुभव होता है । विद्यापति के एक पद में नायिका स्वयं को कभी नायक के रूप में ढाल लेती है तो कभी स्त्री के रूप में स्वयं कष्ट का अनुभव करती है । जैसे किसी लकड़ी के कुंदे में दोनों छोर पर आग लग जाती है तब लकड़ी के भीतर का कीड़ा दोनों तरफ के ताप का अनुभव करता है ठीक उसी तरह विद्यापति की नायिका राधा से माधव और माधव से राधा बनकर निरन्तर दुःख का अनुभव करती है । यह विप्रलम्भ के प्रेम का अभेदमूलक पक्ष है जिसे हम 'अनुखन माधव माधव सुमरित सुन्दर भेल मधाई' वाले निम्नलिखित पद में पहचान सकते हैं –

अनुखन माधब माधब सुमरइते, सुंदरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभाबहि बिसरल, अपनेहि गुन लुबुधाई ॥
माधब, अपरुब तोहर सिनेह ।
अपनेहि बिरहें अपन तनु जरजर, जिबइते भेल संदेह ॥
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरु, छल-छल लोचन पानि ।
अनुखन राधा राधा रटइत, आधा आधा बानि ॥
राधा सँग जब पुन तहि माधब, माधब सँग जब राधा ।
दारुन प्रेम तबहि नहि टूटत, बाढ़त बिरहक बाधा ॥
दुहुदिस दारुन-दहन जैसे दगधई आकुल कीट परान ।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि, कवि विद्यापति भान ॥

विद्यापति की वियोगिनी अपने प्रेमी की कुशलता की चिन्ता करती है । वह प्रियतम को किसी तरह का उपालम्भ नहीं देती है । यह स्वकीया के एकनिष्ठ प्रणय का दिग्दर्शक चित्रण है –

माधव हमर रहल दुर देस
केआ न कहइ सखि कुसल सनेस
युग-युग जीवथु वसथु लाख कोस
हमर अभाग हुनक नहि दोस

विद्यापति के बारहमासा-सम्बन्धी पद में प्राकृतिक ऋतुओं के साथ प्रेम को सम्बद्ध किया गया है। इसके पीछे लोकगीत की प्रेरणा है। लोक-साहित्य से सम्बद्ध विद्यापति का यह गीत किसी तरह की आध्यात्मिकता को संकेतित नहीं करता है। यह मिथिला के ग्रामीण जीवन के लौकिक प्रेम के यथार्थ को वर्णित करने वाला प्रसंग है–

मोर पिअतम सखि गेल दुर देस। जौबन दए गेल साल सनेस॥
मास आषाढ़ उनत नव मेघ। पिआ बिसलेख रहओं निरथेघ॥
कोन पुरुष सखि कोन से देस। धरब तहाँ मएं जोगिनि भेस॥
साओन मास बरिस घन बारि। पंथ न सूझए निसि अँधियारि॥
चैदिसि देखिअ बीजुरि रहे। हे सखि कामिनि जिवन संदेह॥
भादब मास बरिस घन घोर। सभा दिसि कुहुकए दादुर मोर॥
चिहुँकि चिहुँकि पिआ कोर समाए। गुनमति सूतलि अंग लगाए॥
आसिन मास आस धर चीत। निकरुन नाह भेल नहि हीत॥
सर-बर खेलए चकबा हास। बिरहिनि बैरि भेल आसिन मास॥
कातिक कंत दिगंतर बास। पिअ-पथ हेरि-हेरि भेलहुँ निरास॥
सुख सुखराति सबहुँ काँ भेल। मोहि दुःखसाल सोआमि दए गेल॥
अगहन मास जीब मोर अन्त। आबहु न आएल निरदय कंत॥
एकसिर हमे धनि सूतओं जागि। आओत नाह देह मोहि आगि॥
पूस खीन दिन दीघरि राति। पिआ परदेस मिलन भेल काँति॥
हेरओं चैदिस झाँखओं रोए। नाह बिछोह काहु जनु होए॥
माघ-माघ घन पड़ए तुसार। झिलमिल केचुआँ उनत थन हार॥
पुनमति सूतलि पिअतम कोर। विधि बस दैव वाम भेल मोर॥
फागुन मास धनि जीव उचाट। विरह बिखिनि भेलि हेरओं बाट॥
मधु मातल पिक पंचम गाब। से सुनि कामिनि जीबहु सन्ताब॥
चैत चतुरपन पिअ परबास। मालि जानए नहि कुसुम बिकास॥
भमि-भमि भमरा करु मधुपान। नागर भए पहु भेल अगेआन॥
बैसाख तब खर मरन समान। कामिनि कंत हनए पँचबान॥
नहि जुड़ि छाहरि न बरिस बारि। हम जे अभागिनि पापिनि नारि॥
जेठ मास ऊजर नव रंग। कंत चाहए खेलु कामिनि-संग॥
रूपनरायण पूरथु आस। भनइ विद्यापति बारह मास॥

प्रेम-दशा की अवशता या विवशता को भारतीय शृंगार साहित्य में अनेकत्र वर्णित किया गया है। प्रेम में नायिका सुध-बुध खो देती है। उसका मान नहीं रह पाता है। प्रियतम से वह परांगमुख होने का प्रयत्न करती है,

किन्तु दैहिक-मानसिक स्थितियाँ साथ नहीं देती हैं । अमरुक ने एक प्रेमिका की ऐसी ही विगलित दशा का निम्नलिखित पद्य में बड़ा ही अच्छा चित्रण किया है –

तद् म्कामि मुखे मुखे विनपितं दृष्टि: कृता जाद भी
एतस्याली पउइध्याकलतरे श्रोते निकहे मया
पणिभ्यां च तिरस्कृतः सप्रलभः स्वेदोद्गमयो गण्डयो
सख्य किं कखाणि यान्ति शताषा चरकंचुमे सम्वय्

अमरुक के उपर्युक्त पद्य के कथ्य को विद्यापति ने अपनी नायिका के मान-वर्णन-क्रम में नया आयाम दिया है जिससे प्रेम की उत्कटता का सत्यापन होता है । नायिका के नेत्र चोर की तरह नतमस्तक है, किन्तु उसकी कंचुकी क्षत-विक्षत होकर प्रेम की व्याकुलता को व्यक्त कर देती है –

अवनत आनन कय हम रहलिहुँ वारल लोचन चोर ।
पिया मुख-रूचि पिबय धाओल जनि से चाँद चकोर ॥
ततहु सत्रो हठे हँटि आनल धएल चरन राखि।
मधुक मातल उड़ए न पारए तइअओ पसारल पाँखि ॥
माधव बोलल मधुरी बानी से सुनि मृदु मो कान।
ताहि अवसर ठाम बाम भेल धरि धनु पंचबान॥
तनु पसेवे पसाहनि भासलि तइसन पुलक जागु।
चुनि-चुनि भय काँचुअ फाटलि बाहु बलआ भाँगु ॥
भन विद्यापति कम्पित कर हो बोलल बोल न जाय ।

इस तरह स्पष्ट है कि विद्यापति लौकिक प्रेम के शृंगारिक कवि हैं जो न केवल संस्कृत के बड़े कवियों से प्रेरणा लेते हैं, बल्कि यथास्थान लोक गीतों से भी अपने पदों को आप्यायित करते हैं ।

"सखि हे हमर दुखक नहिं ओर" – यह राधा या किसी गोपी का विरह-वर्णन नहीं, लोक-जीवन की सामान्य विरहिणी का उद्गार है । विद्यापति ने राधाकृष्ण के वियोग का परम्परागत चित्रण करते हुए भी उसे अपने देशकाल के सन्दर्भ में उपस्थापित किया है । कहीं-कहीं उनका वियोग राजा शिवसिंह के लापता हो जाने के बाद लखिमा के आन्तरिक परिताप को भी प्रकट करता है । रानी से लेकर सामान्य स्त्री तक के जीवन में जो रागात्मक सम्बन्ध गोचर होते हैं विद्यापति ने उन पर सम्यक् दृष्टिपात किया है । उनकी दृष्टि में प्रेम स्वार्थ नहीं, हार्दिक भाव से उपजता है । जिस तरह कबीर ने कहा था कि प्रेम किसी बाड़ी में नहीं उपजता है और न घर में बिकता है उसी तरह विद्यापति प्रेम को पण्य पदार्थ नहीं मानते हैं, बल्कि उसे हृदय से हृदय का संवाद समझते हैं। प्रेम कवि की दृष्टि में पूर्ण समर्पण है । उसमें उत्सर्ग-भावना निहित होती है । राजा शिवसिंह के बारह वर्षों तक न आने के बाद रानी लखिमा अग्निदाह करती है । 'पदावली' के एक विरह-गीत का कथ्य है – "सखि हे मोहि दे अगिहर साज ।" यह भग्न-हृदय लखिमा की प्रेमार्थ आहुति देने की वाणी है –

कालि कहल पिआ साँझहि रे, जाएब मएं मारुअ देस।
हमें अभागलि नहि जानल रहे, संगहि जइतहुँ सैह देश॥
हृदय मोर बड़दारुन रे, पिया बिनु बिहरि न जाए॥

X X X

एकहि सयन सुखि सूतल रे, अछल बालँम निसि मोर।
न जानल कखन तेजि गेल रे, बिछुरल चकबा चोर॥
सून सेज हिअ सालए रे, पिआ बिनु मरब मएं आजि।
मिनति करओं सहलोलिनि रे, मोहि देह अगिहर साजि॥
विद्यापति कवि गाओल रे, आबि मिलब पिआ तोर।
लखिमा देह बर नागर रे, राए सिबसिंह नहि भोर॥

विद्यापति का प्रेम-दर्शन एकान्तिक नहीं है। वह गार्हस्थ्य की भावना से परिपुष्ट है। कवि की अभिसारिकाएँ भी कुलटा नहीं हैं। वे मार्ग की भयावह बाधाओं को पार करके प्रियतम से मिलने का साहस दर्शित करती हैं। प्रेम के लिए परिस्थितियों से लड़ने की यह मानसिकता विद्यापति के अभिसारमूलक पदों की स्त्री-संकल्प-शक्ति को व्यंजित करती है।

प्रियतम से मिलने के लिए नायिका का अभिमान प्रेम की शक्ति का द्योतक है। विद्यापति के संयोग-शृंगार में जैसी लौकिकता मिलती है वैसी ही विप्रलम्भ वर्णन में भी पार्थिवता की विद्यमानता है। विद्यापति के पदों में दैहिक प्रणय की अनन्यता और राग-भावना की दृढ़ता के दर्शन होते हैं। यहाँ रास और विलास के दृश्यों में साहचर्य की हार्दिकता मिलती है।

'ऋग्वेद' के 'उर्वशी सूक्त' से लेकर आधुनिक काल तक 'प्रेम' काव्य का सर्वाधिक व्यापक विषय रहा है। विश्व-साहित्य में इस प्रेम के गहरे और छिछले तमाम रूपों के दर्शन होते हैं। सभी बड़े रचनाकार प्रेम को पूरी गम्भीरता के साथ ग्रहण करते रहे हैं। प्रेम मलिनता को भी पवित्र कर देता है। राग जब प्रगाढ़ होता है तब उसकी तुलना 'मंजिष्ठ' से की जाती है। मंजिष्ठ का रंग न धुलता है न नष्ट होता है। उसमें कलंक नहीं, कान्ति होती है। इसे ही रूप गोस्वामी ने 'उज्ज्वल रस' कहा है। बिहारी ने इसी उज्ज्वलता को यों निर्दिष्ट किया है –

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों ज्यों बूड़े स्याम रंग त्यों त्यों उज्ज्वल होय॥

यहाँ जिस उज्ज्वलता की बात की गई है उसमें लाल और काले रंग का मिश्रण श्वेत हो जाता है। इसी उज्ज्वल रस की धारा विद्यापति के शृंगारिक काव्य में प्रवाहित है। प्रेम या अनुराग का रंग मूलतः लाल माना गया है जिसमें यदि किसी प्रकार का श्याम रंग मिला दिया जाता है तो वह उजले प्रेम का द्योतक हो जाता है। बिहारी के

सन्दर्भ में राधा और श्याम का प्रणय जिस तरह उज्ज्वल है उसी तरह विद्यापति का प्रेम भी उज्ज्वल है जो शृंगार की उस शुभ्रता का वाचक है जिसकी ओर जयदेव ने संकेत किया है।

विद्यापति के पदों में स्वकीया के शृंगार का ही नहीं, परकीया की प्रीति का भी वर्णन हुआ है। 'श्रीमद्भागवत', जो विद्यापति का प्रिय ग्रन्थ है, उसमें परकीया के प्रेम का विस्तार से वर्णन दृष्टिगत होता है। कृष्ण की रासलीला में उक्त प्रीति की पहचान की जा सकती है। भागवत का रास-वर्णन शरत्काल से सम्बद्ध है और 'गीतगोविन्द' का रास-वर्णन वसन्त ऋतु से सन्दर्भित है। कृष्ण-काव्य के इन दोनों वर्णनों में जो रासलीला अवतरित हुई है वह स्वभावतः ऐहिक है। विद्यापति के रास-विषयक पदों में इस लौकिकता की पहचान की जा सकती है। उनके रासमूलक पदों में रस की जो धारा उमड़ी है वह लोकजीवन के उत्साह को मूर्त करती है। प्रणय का यह सामूहिक रूप वैयक्तिकता को चराचर से संग्रथित करने वाला है–

बाजति द्रिगि द्रिगि धौद्रिम द्रिमिया।
नटति कलावति माति ष्याम संग, कर करताल प्रबन्धक धुनिया॥
डम डम डफ डिमिक डिम मादल, रुनुझुनु मंजिर बोल।
किंकिनि रनरनि बलआ कनकनि, निधुबन रास तुमुल उतरोल॥
बीन रवाब मुरज स्वरमण्डल, सा रि ग म प ध नि सा बहुविधि भाव।
घटिता घटिता धुनि मृदंग गरजनि, चंचल स्वरमण्डल करु राव॥
स्रम भर गलित ललित कबरीयुत, मालति माल बिथारल मोति।
समय बसंत रास-रस वर्णन, विद्यापति मति छोभित होति॥

काव्यशास्त्र के अनुसार विप्रलम्भ शृंगार में अनेक कामदशाएँ पाई जाती हैं। कामदशाओं की यह अवधारणा प्रकारान्तर से प्रेम को सांसारिकता के सन्दर्भ में सामने लाती है। विद्यापति ने जो मान और प्रवास-विषयक पद लिखे हैं वे नायक-नायिका के लौकिक प्रेम को ही प्रकट करने वाले हैं। प्रोषितपतिका का निम्नलिखित उद्गार प्रेम की लौकिकता का आख्यान है –

माधब हमर रटल दुर देस। केओ न कहए सखि कुसल-सनेस॥
जुग-जुग जिबथु बसथु लाख कोस। हमर अभाग हुनक नहि दोस॥
हमरे करमे भेल बिहि बिपरीत। तेजल माधव पुरुब पिरीत॥
हृदयक बेदन बान समान। आनक दुःख आन नहि जान॥
भनइ विद्यापति कवि जयराम। दैब लिखल परिनत फल बाम॥

विद्यापति के कतिपय पद शिव-पार्वती के पारिवारिक जीवन से सम्बद्ध हैं। एक पद में पार्वती शिव से खेती करने की बात करती हैं। यहाँ पारिवारिक वातावरण में प्रेमजन्य नोक-झोंक की स्थिति मिलती है। पार्वती कहती हैं कि शिव अपने बैल की सहायता से कृषि-कार्य करें और त्रिशूल से भूमि को जोतें –

बेरि बेरि अरे सिब हमे तोहि कइलहुँ, किरिशि करिअ मन लाए।
रहिअ निसंक भीख मँगइते सब, गुन गौरब दुर जाए॥
निरधन जन बोलि सब उपहासए, नहि आदर अनुकंपा।
तोहें सिब आक धतुर फूल पाओल, हरि पाओल फुल चम्पा॥
खटँग* काटि हर हर जे बनाबिअ, तिरसुल तोड़ि तोड़ि करु फार।
बसहा धुरंधर हर लए जोतिअ, पाटिअ सुरसरि धार॥
भन विद्यापति सुनहु महेसर, इ लागि कएलि तुम सेबा।
एतए जे होएत से बरु होअओ, ओतए बिसरि जनि देबा॥

यह पारिवारिक जीवन में घटित प्रेम का एक लौकिक उदाहरण है जिसमें गार्हस्थ्य जीवन की खीझ मिलती है। ऐसे घरेलू प्रसंग में हमें पति-पत्नी के गहन प्रेम की प्रतीति होती है। गार्हस्थ्य जीवन के प्रेम का एक पक्ष विद्यापति के निम्नलिखित पद में भी दृष्टिगोचर होता है जिसमें पार्वती शिव से कई शर्तों के साथ नाचने की प्रार्थना करती हैं –

आजु नाथ एक ब्रत महा सुख लागत हे।
तोहें सिव धरु नट बेश कि डमरू बजाबह हे॥
तोहें गौरी कहैछह नाचए हमे कोना नाचब हे॥
चारि सोच मोहि होए कोन बिधि बाँचब हे॥
अमिअ चबिअ भुमि खसत बघंबर जागत हे॥
होए बघंबर बाघ बसहा धरि खाएत हे॥
सिरसँ ससरत साँप पुहुमि लोटाएत हे॥
कातिक पोसल मजूर सेहो धरि खाएत हे॥
जटासँ छिलकत गंग, भूमि भरि पाटत हे॥
होएत सहस मुखि धार, समेटलो न जाएत हे॥
मुंडमाल टुटि खसत, मसानी जागत हे॥
तोहें गौरी जएबह पड़ाए, नाच के देखते हे॥
सुकवि विद्यापति गाओल, गाबि सुनाओल हे।
राखल गौरी केर मान, चारू बचाओल हे॥

पुरुष के प्रति स्त्री का अनुराग ही प्रेम नहीं है, बल्कि पुरुष का स्त्री के प्रति आकर्षण भी प्रेम की परिधि में आता है। विद्यापति ने नायिका के संयोग और वियोग का ही वर्णन नहीं किया है, अपितु श्रीकृष्ण के प्रेम को भी दृष्टिपथ में रखा है –

पथ-गति नयन मिल राधा कान। दुहु मन मनसिज पुरल संधान॥
दुहु मुख हेरइत दुहु भेल भोर। समय न बूझए अचतुर चोर॥
बिटगधि संगिनी सब रस जान। कुटिल नयान कएल समाधान॥
चलल राज-पथ दुहु उरझाई। कह कबि-सेखर दुहु चतुराई॥

निश्चय ही यह एकपक्षीय प्रेम नहीं है। नायक के आकर्षण को नायिका समझ लेती है और दोनों नयनों के माध्यम से ही एक-दूसरे से जुड़ जाते हैं। नायक कृष्ण नायिका को देखते हैं, किन्तु उनका प्रत्यक्षीकरण पूरा नहीं हो पाता है। वे भली-भाँति नायिका का पर्यवेक्षण करने में समर्थ नहीं होते हैं। वे केवल उसकी देह-दृष्टि के सौन्दर्य से बँधकर रह जाते हैं। उनका यह दृष्टि-सम्भूत प्रेम भौतिक संकेतों से पूर्ण है। इस क्रम में निम्नलिखित पंक्तियों को ध्यान में रखा जा सकता है –

सजनी, भल कए पेखल न भेल।
मेघ-माल सँग तड़ित-लता जनि, हिरदय सेल दए गेल॥
आध आँचर खस आध बदन हँस, आधिहि नयन तरंग।
आध उरज हेरि आध आँचर तरे, तबधरि दगधे अनंग।
एके तनु गोरा कनक कटोरा, अतनु कोंचला उपाम (?)
ळार हारल मन जनि बूझि ऐसन, फाँस पसारल काम॥
छसन मुकुता पाँति अधर मिलाएल, मृदु मृदु कहितहि भासा ।
विद्यापति कह अतए से दुःख रह, हेरि हेरि न पुरल आसा॥
ससन-परस खसु अंबर रे, देखल धनि देह।
नव जलधर-तर चमकए रे, जनि बिजुरी-देह॥
आज देखलि धनि जाइत रे, मोहि उपजल रंग।
कनक-लता जनि संचर रे, महि निर अवलंब॥
ता पुन अपरूब देखल रे, कुच-जुग अरबिंद।
बिसगति नहि किछु कारन रे, सोझाँ मुख-चंद॥
विद्यापति कवि गाओल रे, रस बुझ रसमंत।
देवसिंह नृप नागर रे, हासिनि देह-कंत॥

उपर्युक्त सन्दर्भ का वर्णित प्रेम सांसारिक है जो पुरुष और स्त्री दोनों तक परिव्याप्त है। कवि ने संकेतित किया है –

लीला कमल भमर धरु बारि। चमकि चललि गोरि चकित निहारी॥
तें भेल बेकत पयोधर सोभ। कनक कमल हेरि काहि न लोभ॥
आध नुकाएल आध उगास। कुच कुंभे कहि गेलि अप्पन आस॥
से अब अमिल निधि दए गेल सँदेस। किछु नहि रखलन्हि रस परिसेस॥
भनइ विद्यापति दुहु मन जागु। बिसम कुसुम-सर काहु जनु लागु॥

कृष्ण को जब पलटकर राधा देखती है तब उनका चित्त स्थिर नहीं रह पाता है। वे प्रिया के रूप-वर्णन के साथ-साथ अपनी मानसिक स्थिति का यों परिचय देते हैं –

सुनु मनमोहन कि कहब तोए। मुगुधिनि रमनी तुअ लागि रोए॥
निसि-दिन लागि जपए तुअ नाम। थर-थर काँपि पड़ए सोइ ठाम॥

जामिनि आध अधिक जब होइ। बिगलित लाज उठए तब रोइ॥
सखिगन जत परबोधए जाए। तापिनि ताप ततहिं अधिकाए॥
कह कविसेखर ताक उपाए। रचइत तबहि रयनि बहि जाए॥

विद्यापति के प्रेम-दर्शन में स्त्री-पुरुष की पारस्परिक छेड़-छाड़ का उल्लेख भी मिलता है। 'बटगमनी' शैली में लिखित निम्नलिखित पद इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य है –

कुंज-भवन सएं निकसलि रे, रोकल गिरधारी।
एकहि नगर बसु माधब हे, जनि करू बटमारी॥
छाड़ कान्ह मोर आँचर रे, फाटत नव-सारी।
अपजस होएत जगत भरि हे, जनि करिअ उघारी॥
संगक सखि अुगआइलि रे, हम एकसरि नारी।
दामिनी आए तुलाएलि हे, एक राति अँधारी॥
भनहि विद्यापति गाओल रे, सुनु गुनमति नारी।
हरिक संग किछु डर नाहि हे, तोंहे परम गमारी॥

3.3.3 पाठ-सार

विद्यापति का प्रेम-दर्शन मर्यादाहीन नहीं है। उसमें स्वच्छंदता एवं उच्छृंखलता नहीं शीलगत मर्यादा के दर्शन होते हैं। कवि ने वाटिका का रूपक बाँधते हुए अपने प्रेम-दर्शन के सामाजिक स्वरूप को यों स्पष्ट किया है –

फूल एक फूलवारी लाओल मुरारी
जतने पटाओल सुवचनवारि
चैदिस बाँधल शीलतआरि
जीव अवलम्बन करू अवधारि
ततई फूलल फूल अभिनव पेम
जस मूल लहै न लाखौ हेम
अति अपरूप पेम परिणत भेल
द्विजीव अछल एक भए गेल
पिशुन कीट नहीं लागल ताहिं
साहस फल देल भेल दिहि निर्वाह।

विद्यापति ने अपने प्रेम-दर्शन के प्रादर्श के तौर पर राधा और लखिमा को ग्रहण किया है। उन्होंने इन्हें कामिनी ही नहीं, अपने प्रेम-पात्रों के प्रति सर्वतोभावेन निष्ठामयी ज्ञापित किया है। प्रेम मर्यादाहीन नहीं, संयमित होता है जो कृष्ण और राजा शिवसिंह जैसे आलम्बनों को पाकर अपनी सफलता को दिग्दर्शित करता है।

विद्यापति का प्रेम-दर्शन पार्थिवता से चेतना की ओर अग्रसर है। यह देह से भावना के व्योम तक की उड़ान भरता है। इसकी लौकिकता आध्यात्मिकता की ओर न जाकर संवेदना के संसार में विचरण करती है।

3.3.4 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. प्रेम या अनुराग की किस विषेशता पर विद्यापति ने बल दिया है ?
   (क) नूतनता
   (ख) भक्ति
   (ग) शारीरिक आकर्षण
   (घ) इनमें से कोई नहीं

सही उत्तर – (क) नूतनता

2. विद्यापति ने प्रेम के लिए जिस मृणाल तन्तु का उल्लेख किया है उसका क्या अर्थ है ?
   (क) कमल
   (ख) मृग
   (ग) कमल का पत्र
   (घ) कमल की डंठल के रेशे

सही उत्तर – (घ) कमल की डंठल के रेशे

3. 'अभिसारिका' का क्या अर्थ है ?
   (क) स्त्री
   (ख) प्रियतम के पास जानेवाली स्त्री
   (ग) मान करने वाली स्त्री
   (घ) विरहिणी

सही उत्तर – (ख) प्रियतम के पास जानेवाली स्त्री

4. रस की दृष्टि से विद्यापति के प्रेम को कहाँ स्थान दिया जा सकता है ?
   (क) भक्ति
   (ख) शृंगार
   (ग) शान्त
   (घ) हास्य

सही उत्तर – (ख) शृंगार

5. प्रेम के सन्दर्भ में 'उज्ज्वल रस' की उद्भावना किसने की थी ?
   (क) विश्वनाथ
   (ख) मम्मट
   (ग) रूप गोस्वामी
   (घ) चैतन्य महाप्रभु

सही उत्तर – (ग) रूप गोस्वामी

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. क्या विद्यापति का प्रेम भक्ति-तत्त्व से समन्वित है ?
2. विद्यापति ने प्रेम की तुलना किन पदार्थों से की है ?
3. विद्यापति के 'बारहमासा' में किस प्रेम का निरूपण हुआ है ?
4. क्या विद्यापति के प्रेम को उज्ज्वल रस से जोड़ा जा सकता है ?
5. क्या विद्यापति के पदों में शिवसिंह के वियोग में तड़पने वाली लखिमा की छाया उभरती है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. प्रेम की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
2. शृंगारिक काव्य के मुख्य आयामों को विवेचित कीजिए।
3. विद्यापति के प्रेम-निरूपण पर प्रकाश डालिए।
4. लौकिकता के सन्दर्भ में विद्यापति के प्रेम को विवेचित कीजिए।
5. विद्यापति की अभिसारिकाओं के प्रेम की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

3.3.5 उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. विद्यापति की काव्य-साधना, देशराज भाटी, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1962 ई.
2. विद्यापति ठाकुर, डॉ॰ उमेश मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण सन् 1960 ई.
3. विद्यापति-पदावली, प्रथम भाग, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना
4. पुरानी हिन्दी का हेमचन्द्रीय वीर-काव्य, डॉ॰ प्रमोद कुमार सिंह, कल्पना तीर्थ, दलसिंह सराय
5. विद्यापति, शिवप्रसाद सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 3 : विद्यापति का पदावली साहित्य

इकाई – 4 : 'पदावली' की भाषा एवं अलंकार-विधान

इकाई की रूपरेखा

3.4.0 उद्देश्य कथन
3.4.1 प्रस्तावना
3.4.2 विद्यापति की रचनाओं में भाषिक औदात्य
3.4.3 पदावली की भाषा : विविध आयाम
3.4.4 विद्यापति के काव्य में अलंकार विधान : अलंकार एवं उदाहरण
3.4.4.1 अनुप्रास
3.4.4.2 रूपक
3.4.4.3 उपमा
3.4.4.4 उत्प्रेक्षा
3.4.4.5 श्लेष
3.4.4.6 यमक
3.4.4.7 अतिशयोक्ति
3.4.4.8 भ्रान्तिमान
3.4.5 पाठ-सार
3.4.6 बोध प्रश्न
3.4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

3.4.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. विद्यापति के विषय में संक्षिप्त जानकारी के साथ उनकी अन्य रचनाओं की भाषा को समझ सकेंगे।
ii. भाषा के प्रति विद्यापति के लगाव एवं ज्ञान के विषय में जान सकेंगे।
iii. पदावली की समृद्ध भाषा एवं उसके विविध रूपों को समझ सकेंगे।
iv. विद्यापति के भाषिक सौन्दर्य को जानेंगे।
v. विद्यापति के काव्य में प्रयुक्त अलंकारों को उदाहरण सहित जान सकेंगे।

3.4.1 प्रस्तावना

विद्यापति साहित्य के क्षेत्र में श्रेष्ठ कवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनकी कीर्ति भारत में ही नहीं, बल्कि विश्व के अनेक देशों में फैली हुई है। नागार्जुन अपनी पुस्तक 'विद्यापति के गीत' में कवि परिचय में लिखते हैं कि –

"पिछले वर्षों में अमेरिका के एक प्रकाशक ने विद्यापति के चुने हुए गीतों का अंग्रेजी में रूपान्तर प्रकाशित किया है । विगत सौ वर्षों में उनकी पदावलियों के भिन्न-भिन्न प्रकार के पचासों संस्करण कलकत्ता, ढाका, पटना, इलाहाबाद और दिल्ली जैसे महानगरों से प्रकाशित होते रहे हैं ।" (पृष्ठ-6) विद्यापति को अपने श्रेष्ठ सृजन के कारण जहाँ जन-मानस में विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ वहीं उनको विभिन्न उपाधियों से सम्मानित भी किया गया । उन्हें 'अभिनव जयदेव' की उपाधि स्वयं राजा शिवसिंह द्वारा दी गई थी। जयदेव कवि संस्कृत भाषा में शृंगारिक साहित्य की सुमधुर एवं कोमल रचनाएँ कर रहे थे। उसी प्रकार कवि विद्यापति की भाषा भी साहित्य में अपना अलग एवं महत्त्वपूर्ण स्थान बनाती है । 'कविशेखर', 'कविकण्ठहार', 'कविरंजन' एवं 'विद्यापति चंपई' आदि उपाधियों से भी विद्यापति अलंकृत थे ।

विद्यापति ने संस्कृत में प्रचुर मात्रा में ग्रन्थों की रचना की किन्तु उनकी 'पदावली' मैथिल भाषा में लिखी गई और सर्वाधिक प्रसिद्ध हुई । सुर-लय-तालबद्ध इन पदावलियों ने जन मानस में अपना विशिष्ट स्थान बनाया और विद्यापति सुदूर अंचलों में भी जाने जाने लगे, यही वजह है कि विद्यापति को 'मैथिल-कोकिल' कहा गया । विद्यापति ने क्षेत्रीय बोली (मैथिल) को साहित्यिक भाषा के अनुरूप ही अभिव्यक्ति की सामर्थ्य प्रदान की और काव्य को मधुरता एवं सरसता प्रदान की । विद्यापति की पदावलियाँ धार्मिक उत्सवों, विवाहोत्सवों एवं अन्य उत्सवों में आज भी गायी जाती हैं, जिसका प्रमुख कारण है उनकी भाषा की सरसता और गेयता । इनकी पदावलियों में राधा-कृष्ण का प्रेम है तो विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुतियाँ भी। राधा-कृष्ण का शृंगारिक वर्णन इनकी पदावलियों में प्रचुरता से दृष्टिगत होता है।

विद्यापति के विषय में कहा जाता है कि वे अपने जीवन की अन्तिम अवस्था तक अध्ययन करते रहे । उन्होंने रामायण, पुराण, आगम, तन्त्र, धर्मशास्त्र एवं निबन्धों का भी सूक्ष्म अध्ययन किया था, जिससे उनकी भाषा इतनी अधिक शक्तिशाली एवं मनमोहक बनी । अपनी कृति कीर्तिलता में विद्यापति कहते हैं – "कीर्तिरूपी लता तीनों लोक में कैसे फैल सकती है, यदि अक्षरों रूपी डंडों से मण्डप नहीं बनाया गया ।" विद्यापति जीवन के अन्तिम दिनों तक अध्ययन के साथ-साथ साहित्य-सृजन भी करते रहे ।

3.4.2 विद्यापति की रचनाओं में भाषिक औदात्य

विद्यापति ने संस्कृत, अपभ्रंश एवं मैथिली तीनों ही भाषा में साहित्य रचनाएँ की हैं। संस्कृत उस समय पढ़े-लिखे, शिष्ट जनमानस की भाषा थी जिसे स्वयं विद्यापति ने भी माना और 'कीर्तिलता' के प्रथम पल्लव में लिखा भी –

सक्कय वाणी बहुव न भावइ
पाउँअ रस को मम्म न पावइ
देसिल बयना सब जन मिट्ठा
ते तैसन जम्पओ अवहट्ठा

उनका मानना था कि संस्कृत भाषा विद्वानों की भाषा है। उस भाषा में लिखे गए काव्य के रस को अन्य जन प्राप्त नहीं कर सकते। संस्कृत रस के मर्म को नहीं छू पाती है। देशी भाषा ही सभी को मीठी लगती है इसीलिए मैं अवहट्ट में अपने काव्य की रचना करता हूँ।

कवि विद्यापति अपनी कविता की भाषा पर मुग्ध थे और उस पर उन्हें अभिमान भी था। 'कीर्तिलता' में ही वे लिखते हैं –

बालचंद बिज्जावइ भासा।
दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन हासा
ओ परमेसर हर सिर सोहइ।
इ निच्चय नाअर मन मोहइ।

जिस प्रकार बाल चन्द्रमा को अत्यन्त सुन्दर एवं कोमल होने के कारण भी दुष्ट लोगों का उपहास नहीं लग सकता है उसी प्रकार विद्यापति की भाषा का भी दुष्ट उपहास नहीं कर सकते, क्योंकि जैसे बाल चन्द्रमा स्वयं शिव (ईश्वर) के माथे पर सुसज्जित है उसी प्रकार विद्यापति की भाषा विद्वज्जनों के मन को मोहती है।

विद्यापति का अपनी भाषा के प्रति अभिमान एवं प्रेम दोनों ही इस पद में परिलक्षित होता है। किन्तु अवहट्ट और मैथिली भाषा में लिखते हुए भी और प्रसिद्धि मिलते हुए भी उन्होंने संस्कृत भाषा में विभिन्न रचनाएँ की। संस्कृत भाषा पर विद्यापति का अद्भुत अधिकार था। उनका 'भूपरिक्रमा' संस्कृत भाषा में लिखा गया ग्रन्थ है जिसमें भूगोल तथा आदर्शपुरुष को व्यक्त करने वाली नीतिकथाओं का सम्मिश्रण है। दण्डनीति विषयक 'पुरुषपरीक्षा' ग्रन्थ भी संस्कृत में ही लिखा गया है। 'पुरुषपरीक्षा' की भाषा सरल एवं अभिव्यक्तिजन्य है। यद्यपि इसमें पाणिनीसम्मत व्याकरण का प्रयोग नहीं किया गया किन्तु अभिव्यक्ति की कसौटी पर यह रचना खरी उतरती है। विद्यापति संस्कृत भाषा को सरल, सुबोध, सशक्त और शालीन बनाने का प्रयत्न करते हैं, ताकि सामान्य जन तक उसकी पैठ हो सके। उन्होंने 'गोरक्षविजय' समेत अनेक नाटक संस्कृत में लिखे, जिन्हें आसानी से मंचित किया जा सके।

उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों के बाद अपभ्रंश भाषा में ग्रन्थ लिखे थे, जिनमें दो ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, प्रसिद्ध एवं विशेष हैं। वे हैं, 'कीर्तिलता' एवं 'कीर्तिपताका'। कीर्तिपताका में अपभ्रंश एवं संस्कृत दोनों भाषाओं का प्रयोग किया गया है किन्तु 'कीर्तिलता' पूर्णरूपेण अपभ्रंश भाषा में लिखा गया है।

महाकवि विद्यापति को सर्वाधिक ख्याति 'पदावली' की रचना के कारण मिली जिसके मूल में मैथिली भाषा थी। मैथिली भाषा में रचित इन पदावलियों ने विद्यापति को जन-जन तक पहुँचा दिया और वे 'मैथिलकोकिल' के रूप में स्थापित हो गए। यह ग्रन्थ शृंगार रस से ओत-प्रोत पदों का अनूठा संग्रह है। इसकी भाषा, रस, छन्द और अलंकार प्रधान है। शृंगार की अधिकता होने के अतिरिक्त शान्त एवं भक्ति रस भी इन पदों में द्रष्टव्य है। इन पदावलियों में गंगा, दुर्गा, शिव आदि देवी-देवताओं की वन्दना भी है।

3.4.3 पदावली की भाषा : विविध आयाम

महाकवि विद्यापति का भाषा पर पूर्ण अधिकार था । संस्कृत भाषा के ज्ञाता होने पर भी उन्होंने अपनी पदावली की भाषा मैथिली ही रखी और इसी लोकभाषा के माध्यम से सर्वग्राही और प्रिय कवि के रूप में विख्यात हो गए । वे जब लोकभाषा को अपनी रचनाओं का माध्यम बनाते हैं तो लोक की समस्त छवियाँ उसमें समाहित हो जाती हैं । लोकजीवन के विभिन्न रंगों का अद्‌भुत सामंजस्य विद्यापति की पदावलियों में उपलब्ध है और इनकी स्थानीय भाषा ही इनको लोककण्ठों तक पहुँचा सकी है । कबीरदास का कथन – "संसकिरत है कूप जल, भाषा बहता नीर" विद्यापति की पदावलियों के लिए सटीक सिद्ध होता है और विद्यापति भी "देसिल बयना सब जन मिट्ठा" कहते हैं ।

विद्यापति पदावली को ऐसी भाषा में रचते हैं जो मधुर और लयात्मक है । शब्दों का ठीक-ठीक चयन, प्रसंग अनुकूलता, सरसता एवं सुबोधता इनको लोकप्रिय बनाती है । विद्यापति भाषा को सरलीकृत भी करते हैं और संयुक्ताक्षरों की दुरूहता को दूर करते हुए उसे उच्चारण की दृष्टि से सरल बनाते हैं –

तोह हुनि उचित रहत नहि भेद ।
मनमथ मधयें करब परिछेद ।

यहाँ 'मन्मथ' को 'मनमथ' कर शब्द का सरलीकरण कर दिया है । इसी प्रकार –

अपथ पथ परिचय भेल
जनम आतर बेड़ा देल

जन्म को जनम कर देने से 'आँचलिक माधुर्य' की प्रतीति होती है । इसी प्रकार वे जगह-जगह करम, मरम आदि शब्दों का प्रयोग करते दिखते हैं । विद्यापति शब्दों को इस रूप में ढालते हैं कि उनमें से अपभ्रंश काल की रुक्षताएँ तिरोहित हो जाती हैं और भाषा लयात्मक होकर प्रवाहमयी बन जाती है । विद्यापति के पदों में शब्दों का चुनाव जनमानस के अनुकूल हुआ है–

घन-घन-घनक घुँघरू कत बाजय,
हन-हन कर तुअ काता
विद्यापति कवि तुअ पद सेवक,
पुत्र बिसरू जनु माता ।

यहाँ पर घन-घन-घनक एवं हन-हन शब्दों के दोहराव से माधुर्य की सृष्टि होती है । वे कर्णकटु शब्दों को अपनी भाषा में स्थान नहीं देते । इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण देखिए –

नंदक-नंदन कदम्बक तरू तर
धिरे-धिरे मुरलि बजाव
समय संकेत निकेतन बइसल
बेरि-बेरि बोलि पठाव।

इस प्रकार की ध्वनियाँ कर्णप्रिय होने के साथ ही श्रोताओं को कण्ठस्थ भी हो जाती हैं।

विद्यापति के पदों में कृष्ण एवं राधा के चमत्कारिक रूप के दर्शन होते हैं। भाषा के बल पर ही वे ऐसा चमत्कार उपस्थित कर सकने में सक्षम हो सके हैं –

ए सखि पेखलि एक अपरूप
सुनइत मानवि सपन-सरूप
कमल जुगल पर चाँदक माला
तापर उपजल तरुन तमाला।

विद्यापति भाषा के माध्यम से ऐसा चमत्कार प्रस्तुत करते हैं, जो अभूतपूर्व है। राधा कृष्ण के रूप को देखकर चमत्कृत है और अपनी सखी से कहती है कि हे सखि, मैंने एक अपूर्व रूप के दर्शन किए हैं, जिसे सुनकर तुम स्वप्न ही समझोगी। दो कमलों अर्थात् दो पैरों के ऊपर चन्द्र की माला अर्थात् नाखूनों की पंक्ति और उसके भी ऊपर तरुण तमाल अर्थात् श्यामवर्ण कृष्ण दिखाई दिए। इस प्रकार का वर्णन विद्यापति की भाषा में ही सम्भव है, जिसमें प्रत्येक शब्द के दो-दो अर्थ हैं जो चमत्कार उत्पन्न करते हैं।

विद्यापति अपनी पदावली में लोकभाषा को विशिष्ट स्थान देते हैं। उनके यहाँ देशी शब्दों का स्वाभाविक प्रयोग सभी स्थानों पर दिखाई देता है जिससे पद का सौन्दर्य द्विगुणित हो उठता है –

जतने आएलि धनि समनक सीम।

यहाँ धनि अर्थात् पति, सयनक अर्थात् शैय्या, सीम अर्थात् निकट। यहाँ इन्होंने देशी शब्दों का सुन्दर वर्णन किया है। अपंझंप, चंगिम, छितनी, झंखइते, टिटिपन, पतओलनि जैसे देशज शब्दों से पदावली अँटी पड़ी है, जो इसकी गेयता और प्रवाह को बनाए रखती है। इसी प्रकार वे अपनी भाषा में संस्कृत के 'ष' एवं 'श' का प्रयोग न करके विशुद्ध रूप से लोक भाषा में प्रचलित 'स' का ही प्रयोग करते चलते हैं –

पुनु जनु बोलह अइसनि भासा
काहुक कउतुके काहे निरासा

यहाँ भाषा एवं निराशा को क्रमशः 'भासा' और 'निरासा' लिखा गया है। कहीं-कहीं मैथिली में 'ष' का प्रयोग अक्षुण्ण रहा है, इसलिए उन्होंने उसे वैसा का वैसा ही रखा 'स' का प्रयोग नहीं किया-

ए सखि ए सखि पुरुष अजान
भुजंग भनावथि रंकन जान।

विद्यापति भाषा में प्रयोगों के प्रति पूरी तरह सजग रहे हैं । अपनी काव्य-भाषा मैथिली के मूल स्वरूप की रक्षा करते हुए वे पदों की सर्जना करते थे । उनकी भाषा तद्भव-प्रधान भाषा थी इसीलिए वे अवहट्ट को 'देसिल बअना' के समान कहते हैं, जो प्राचीन मैथिली है । हिन्दी साहित्य कोश में धीरेन्द्र वर्मा लिखते हैं – "पदावली की भाषा प्राचीन मैथिली है, जिसमें ब्रजभाषा का भी प्रभाव है । इसे हम चाहें तो शिथिल अर्थ में ब्रजबुलि का प्राचीन रूप कह सकते हैं ।" (पृ. 565) उपर्युक्त कथन के आधार पर कुछ उदाहरणों को देखें तो पाएँगे कि ब्रजभाषा की प्रवृति पदावली में मिलती है जैसे ब्रजभाषा की प्रमुख प्रवृति ओकारान्त है । पदावली में भी अनेक ओकारान्त शब्दों का प्रयोग दिखता है – "उगओ सहस दस दारूण चन्द", "करओ कमल बन केलि भमरा", "एक दिन सफल जवन बल चलिओ" आदि । इसी प्रकार ब्रजभाषा के मिल्यौ, कर्यौ, भर्यौ, दरस्यौ आदि शब्दों के समानान्तर शब्दों का प्रयोग भी इनकी पदावलियों में देखा जा सकता है – "पिय विस लेखे रहओं निरथेघ", "एकसरि हमें धनि सुनओं जागि" और "गरूड़ मागओं पाँखी" । विद्यापति की काव्य-भाषा पर ब्रजबोली का प्रभाव मानते हुए डॉ॰ सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या लिखते हैं कि "ब्रजबुलि इस बात की द्योतक है कि एक बनावटी भाषा भी दूसरे प्रान्त में काव्य-भाषा के रूप में किस प्रकार ग्रहण की जा सकती है और इसी से इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि किस प्रकार शौरसेनी अपभ्रंश या अवहट्ट मध्यप्रदेश के अलावा बंगाल आदि तक में छायी हुई थी ।" (ऑरिजिन एंड डेवलपमेंट ऑफ बेंगाली लेंग्वेज, पृ. 104)

उपर्युक्त सभी उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि विद्यापति की पदावली की भाषा में ब्रजबोली का प्रभाव था, लेकिन उनकी मूलभाषा प्राचीन मैथिली ही थी । कवि-लोचन विद्यापति के गीतों की मैथिली भाषा को 'मिथिलापभ्रंश' कहते हैं । विद्यापति की पदावलियों की रचना मधुर लयात्मक और सुरीली है। वे इसमें माधुर्य गुण लाने के लिए सहज एवं सरल शब्दों का चुनाव करते हैं। वे शब्दों को बेहद मृदुता के साथ भाषा रूप में ढालते हैं।

विद्यापति की पदावलियों में कहावतों एवं लोकोक्तियों का भी प्रयोग मिलता है । वैसे तो किसी भी आंचलिक भाषा में लोकोक्तियाँ एवं कहावतें यहाँ-वहाँ बिखरी होती ही हैं, लेकिन विद्यापति ने बहुत ही सहज एवं स्वाभविक रूप से इनका प्रयोग पदों में किया है, जिससे उनकी भाषा अत्यधिक प्रभावोत्पादक बन पड़ी है । डॉ॰ आनन्दप्रकाश दीक्षित लिखते हैं – "विद्यापति का शिल्प बड़े मनोवैज्ञानिक आधार पर निखरा था । वे लोकमानस के बड़े पारखी थे, इसीलिए उन्होंने अपनी कला को भी लोक-कला के निकट रखा । उन्होंने लोक-भाषा अपनायी, उसे लोक-हृदय और लोक-कण्ठ में विराजमान लोकोक्तियों और मुहावरों से सजाया और लोकगीत की तरंगों पर बिठा कर लोगों के इस लोक (शृंगार और प्रेम) से लेकर लोकोत्तर आनन्द (भक्ति) तक के लिए मुखरित कर दिया ।" (पृ. 107) उदाहरणार्थ –

अंकुर तपन ताप यहि जारब, कि कहब बारिद मेह ।

अर्थात् यदि सूर्य का ताप अंकुर को जला डाले तो घनघोर घटाओं की क्या आवश्यकता । "का वर्षा जब कृषि सुखाने" जैसी कहावतों के समतुल्य विद्यापति अपनी बात इस पदावली में कहते हैं । लोकोक्तियों एवं मुहावरों के प्रयोग के साथ-साथ वे विशुद्ध रूप से मिथिला की परम्पराओं को भी इन पदों में स्थान देते हैं और संस्कारों के लिए उन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हैं, जो वहाँ लोक में व्याप्त हैं । उनके एक पद में यह प्रसंग मिलता है कि शिव दूल्हे रूप में हैं और स्त्रियाँ उस विचित्र दूल्हे को देखकर कह रही हैं, इसके सिर पर तो गंगा की धारा है, हम 'चुमौना' कैसे करें, दूल्हे के पाँच मुख हैं, हम किसमें 'महुअक' दें । इस प्रकार के लोक संस्कार का सुन्दर वर्णन उसी भाषा के शब्दों के साथ इनकी पदावलियों में यत्र-तत्र-सर्वत्र दृष्टिगत होता है । भारतीय हिन्दी साहित्य को विद्यापति की यह मौलिक देन है इसीलिए मिथिला में आज भी हर अवसर पर विद्यापति के पद अनिवार्यतः सम्मिलित किए जाते हैं । इतने वर्ष बीत जाने के पश्चात भी भाषा की सरलता एवं स्थानीयता इसको सर्वग्राह्य बना देती है ।

विद्यापति ने अपने पदों में अत्यधिक प्रभावशील, सजीव और विरोधाभाषात्मक रूप में प्रकृति को उकेरा है । यद्यपि भाव बेशक उन्होंने संस्कृत शृंगार काव्य से ग्रहण किया था, लेकिन अपनी स्वाभाविक भाषा में उसे अभिव्यक्त किया । वे प्रकृति का सूक्ष्म अवलोकन करते हैं तभी तो वे कहते हैं –

माइ हे सीत-बसन्त विवाद, कओन विचारब जय अवसाद

अर्थात् हे सखी ! शीत ऋतु एवं वसन्त ऋतु दोनों में विवाद हो गया है। अब किसकी जय होगी और किसकी पराजय इसका विचार कैसे होगा ? बड़ी ही सहजता से विद्यापति जाती हुई शीत और आती हुए ग्रीष्म ऋतु का संघर्ष, जो वास्तव में वसन्त ऋतु पर हावी होता है, का वर्णन करते हैं । यही विद्यापति की भाषा का सौन्दर्य है । इस प्रकार के विरोधाभासों को वे बड़ी स्वाभाविकता के साथ वर्णित करते हैं । प्रकृति में व्याप्त लघु से लघुतर रूपों का वे सूक्ष्म अवलोकन करते हैं और वास्तविक ढंग से उसका चित्र अपनी भाषा के माध्यम से पाठकों तक पहुँचा देते हैं –

नृप- आसन नव पीठल पात, काँचन कुसुम छत्र धरू माथ
मौलि रसाल मुकुट भेल ताव, समुखहि कोकिल पंचम गाव ।

वसन्त का वर्णन करते हुए विद्यापति कहते हैं कि – "ऋतुराज वसन्त के लिए पीठल (एक प्रकार का वृक्ष) ने नव अंकुरों का आसन बना दिया है और चम्पा के फूल उनके सिर पर छत्र जैसे हैं । आम्रमंजरी वसन्तराज का मुकुट बन गए हैं और कोयल पंचम स्वर में गा रही है।" बड़ी ही सहजता से वसन्त में होने वाले परिवर्तनों का चित्र कवि हमारे सक्षम प्रस्तुत करता है । विद्यापति की पदावली में प्रकृति परम्परागत रूप से नहीं, बल्कि वास्तविक रूप में आयी है, जिसका पूर्ण श्रेय उनकी सशक्त भाषा को जाता है। उनके चित्र चाहे वह प्रकृति के हों या नायक-नायिका प्रेम के, स्त्री वर्णन के हों अथवा देवी-देवताओं के वे स्वाभाविक हैं, पूर्ण हैं और विविध रंगों में ढली मधुर भाषावली के साथ अत्यन्त सुरीली भी हैं।

रमानाथ झा अपनी पुस्तक 'विद्यापति' में लिखते हैं कि – "विद्यापति शब्द चित्रकार थे। किशोरावस्था में प्रवेश करती हुई कन्याओं को किसने नहीं देखा, किन्तु प्रतिदिन उद्भासमान परिवर्तनों को चित्रित करने वाले अपने अनेक गीतों में वे उस सौन्दर्य को उद्घाटित करते हैं, जो एकदम नया तथा विस्मयकारी लगता है। वे सौन्दर्य को अत्यन्त सूक्ष्मता से देखते हैं और अपनी सूक्ष्मग्राहिणी कल्पना की सहायता से उन सूक्ष्मताओं का प्रत्यावृत कर सकते हैं, जिन्हें वे सरल, लुभावनी और आवेगपूर्ण भाषा में व्यक्त करते हैं।" (पृ. 49)

3.4.4 विद्यापति के काव्य में अलंकार विधान : अलंकार एवं उदाहरण

सशक्त भाषा के धनी विद्यापति की पदावलियों में एक ही शब्द को भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। उनमें अर्थ विस्तार, प्रतीकात्मकता और बिम्बात्मकता के दर्शन होते हैं। प्रत्येक पद में लाक्षणिकता का गुण भी है। विद्यापति सूक्ष्म कल्पनाएँ कर ऐसी शब्द-योजना निर्मित करते हैं कि अनुभूति साकार हो उठती है। उन्होंने अपने काव्य में रूपक, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक, विभावना, उत्प्रेक्षा, सन्देह, भ्रम आदि अलंकारों का प्रयोग किया है, किन्तु उपमा, उत्प्रेक्षा एवं रूपक उनके पदों में सर्वत्र दिखाई देते हैं। उनके काव्य में अलंकारों की उपस्थिति सायास नहीं है, बल्कि वे स्वाभाविक रूप से प्रकट होते हैं और काव्य के सौन्दर्य में चार चाँद लगाते हुए उसे विशिष्ट बना देते हैं। रमानाथ झा अपनी पुस्तक 'विद्यापति' में लिखते हैं – "यदि हम वस्तुगत भेद की दृष्टि से काव्य की स्पष्ट परिभाषा करने की कोशिश करें, तो हमारी परिभाषा अलंकार बोध के चारों ओर घूमेगी (अलंकार शब्द का प्रयोग इसके विस्तृत अर्थ में लिए जाने पर)। अलंकार काव्य की सुन्दरता है, रूप की सुन्दरता है। महान् कवि की रचना में अलंकार वे अनिवार्य अवतार हैं जिसमें विभिन्न भाव, रूप धारण करते हैं, किन्तु रूप के महत्त्व को एक तरफ रखकर हमें अलंकारिता को ही काव्य नहीं समझना चाहिए। अलंकार की वेदी पर काव्य का बलिदान सम्भव है। औचित्य, सामंजस्य या समानुपात, ऐसी चीजें हैं जो काव्य सौन्दर्य का चरम बिन्दु हैं। "इस औचित्य के सन्दर्भ की पृष्ठभूमि काव्य की आत्मा रस है जिससे सभी का औचित्य नापा जाता है। जब आत्मा नहीं रहती तब शरीर शव मात्र रहता है और शव के ऊपर अलंकारों का क्या उपयोग ? कवि अलंकारों की सहायता तभी ले सकता है, जब वह प्रमुख भाव या रस के अनुकूल उसका प्रयोग करे।" (पृ. 54)

वास्तव में विद्यापति का काव्य भावों का सजीव बिम्ब प्रस्तुत करता है। उनके बिम्ब सदैव ठोस, सुन्दर और स्वाभाविक होते हैं। अलंकारों की बहुलता उनके पदों में दिखती है और कभी-कभी तो एक ही पद में अनेक अलंकार समाविष्ट दिखाई देते हैं, जैसे –

चिकुर निकर तम-सम पुनु आनन पुनिम ससी
नयन पंकज के पतिआओत एक ठाम रहु बसी।

नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि कहता हैं कि नायिका की केश राशि अँधकार के सदृश है और मुखमण्डल पूर्णिमा-चन्द्र सदृश मनोरम है। उसके नेत्र कमल के समान हैं। कौन विश्वास करेगा कि सभी परस्पर विरोधी वस्तुएँ एक ही स्थान पर बसती हैं। जैसे जहाँ पूर्णमासी का चन्द्रमा हो, वहाँ अँधकार कैसे हो

सकता है और चन्द्रमा और अँधकार की उपस्थिति में कमल कैसे पुष्पित हो सकता है भला ! इस पद में उपमा, रूपक और विरोधाभास इन अलंकारों का सम्मिलित रूप दिखाई देता है। अलंकारों की बहुलता होने के बाद भी भाव में कहीं कोई प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि वह अधिक प्रभावी हो जाता है। जैसे-जैसे भावनाएँ बढ़ती हैं वैसे-वैसे अभिव्यक्ति विकसित होती है और अलंकार उद्वेलित होते हैं।

रमानाथ झा लिखते हैं – "सबल परिस्थितियों में अलंकारों के अधिक प्रयोग की ज्यादा प्रवृति होती है। जब कवि प्रतिभाशाली होता है और रसमग्न हो जाता है, तब वह उत्तम अलंकारों का प्रयोग करता है। जहाँ तक विद्यापति का प्रश्न है, जब रस-प्रवाह बढ़ जाता है तब हम पाते हैं कि अलंकार अनेक स्थलों पर कवि की लेखनी से निरन्तर उद्भूत होने लगते हैं।" (विद्यापति, पृ. 55) नायक-नायिका के प्रणय का विषय हो अथवा प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन, अलंकारों की छटा उनके काव्य के साथ एक रूप हो जाती है । कुछ अलंकारों के उदाहरण देखिए –

रितुपति-राति रसिक रसराज, रसमय रास रभस सम मांझ
रसमति रमनि रतन धनि राहि, रास रसिक सह रस अवगाहि।
रंगिनि गन सब रंगहि नटई, रनरनि कंकन किंकिन रटई।
रहि रहि राग रचय रसवंत, रतिरत रागिनि रमन बसन्त।
रटति रबाब महातिक पिनास, राधा रमन करू मुरलि बिलास।
रसमय विद्यापति कवि भान, रूपनारायन भूपति जान।

सम्पूर्ण पद में अनेक अलंकारों का प्रयोग किया गया है। वसन्त में प्रकृति के सुन्दर रूप का वर्णन करते हुए कवि वसन्त की चन्द्र ज्योत्सना में रसिक रसराज कृष्ण की रासलीला का व्याख्यान करता है। पूरे पद में अनुप्रास अलंकार है, जिसमें एक ही वर्ण की आवृत्ति बार-बार हुई है – "रितुपति-राति-रसिक।" यहाँ 'र' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'रनरनि कंकन किंकिन रटई' में ध्वन्यार्थ व्यंजना है। ध्वन्यार्थ व्यंजना के अन्य उदाहरण देखिए –

बाजत द्रिग द्रिग धौद्रिम द्रिमिया
नटति कलावति माति श्याम संग,
कर करताल प्रबन्धक ध्वनिया।
डम डम डंफ डिम मादल,
रूनु झुनु मंजीर बोल।
दुहु तनु कापइ मदन उछल रे,
किन-किन किन खरि किंकिनि रूचल रे।

इस प्रकार की ध्वन्यात्मकता विद्यापति के अधिकांश पदों में मिलती है। वे उस दृश्य को सजीव कर देते हैं, जिसका वे वर्णन कर रहे हैं। पाठक के सक्षम एक चित्र-सा उपस्थित हो उठता है और हम प्रकृति के वास्तविक रूप को महसूस कर सकते हैं।

3.4.4.1 अनुप्रास

नव वृंदावन नव नव तरूगन, नव नव विकसित फूल

इसी प्रकार अन्य उदाहरण देखिए –

मधु रितु मधुकर पति, मधुर कुसुम मधुमाति
मधुर वृंदावन मझ, मधुर-मधुर रसराज।

यहाँ अनेकानेक वस्तुओं के मेल से सम अलंकार, वातावरण के मधुर होने के कारण उल्लास एवं सौन्दर्य के अनेक गुणों का वर्णन होने के कारण समुच्चय अलंकार है तथा एक ही वर्ण की आवृत्ति बारम्बार होने के कारण अनुप्रास अलंकार भी है।

3.4.4.2 रूपक

पथ गति पेखल मो राधा
तखनुक भाव परान पए पीड़लि रहल कुसुम-निधि साधा।

इस पंक्ति में जाती हुई राधा को कृष्ण ने देखा। राधा की भाव-भंगिमाओं ने कृष्ण के प्राणों को पीड़ित कर दिया और वे राधा के चन्द्रमुख को देखने की अधूरी आकांक्षा लिए हुए ही रह गए। यहाँ पर राधा के मुख को चन्द्रमुख कहा गया है जिसमें रूपक अलंकार है। इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण देखिए –

कमल जुगल पर चाँदक माला, तापर उपजल तरुण तमाला।

यहाँ कृष्ण के चरणों को कमल युग्म, नाखूनों को चन्द्रमाल एवं कृष्ण के श्यामल गाल को तमाल के तरुण वृक्ष के रूप में देखा गया है। रूपक के साथ-साथ यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार भी दिखाई देता है। विद्यापति को उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकार विशेष प्रिय थे जो उनके लगभग प्रत्येक पद में विद्यमान हैं।

3.4.4.3 उपमा

जोरि भुजजुग मोरि बेढ़ल ततहि बदन सुछन्द
दाम-चमक काम पूजल जढ़इ सारदा चन्द।

यहाँ पर चम्पा के फूलों की माला की उपमा राधा के दोनों हाथों से एवं शरतचन्द्र की तुलना राधा के मुख से की गई है अतः उपमा अलंकार है। साथ ही, अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन होने से अतिशयोक्ति अलंकार भी है। विद्यापति कुशल कलाकार की भाँति अलंकारों की उद्भावना कर काव्य को विशिष्ट बना देते हैं। कृष्ण से राधा के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए उनकी सखि उसकी तुलना प्रकृति के विभिन्न उपादानों से करती हुई कहती है –

अधर बिम्ब सन, दसन दाड़िम-बिजु रवि ससि उगधिक पासे ।
राहु दूर बसि नियरो न अबधि तै नहि करथि गरासे ।

नायिका के होंठ बिम्ब फल के सदृश्य लाल हैं । दाँत दाड़िम के समान सघन और पंक्तिबद्ध हैं और नायिका के शरीर में बाल सूर्य तथा चन्द्रमा पास-पास उदित हैं (अर्थात् टीका उनके मुख पर ऐसे सुशोभित हैमानों चन्द्रमा रूपी मुख पर सूर्य) इसी कारण से राहु उनसे दूर ही रहता है, ग्रसता नहीं । यदि हम इस पद को पूरा पढ़ें तो पाएँगे कि इसमें आलंकारिक चित्रण अपनी भव्यता में मुखरित है । राधा के रूप को प्रकृति के उपमानों द्वारा व्यक्त किया गया है । चरण, गति, कटि, कुच, हार, अधर, केश, नेत्र, ललाट एवं केश के लिए क्रमशः कमल, ऐरावत, सिंह, पर्वत, कमल, गंगा, बिम्ब फल, अनार, हरिण एवं भौरों के उपमान प्रकृति से लिए गए हैं। एक अन्य उदाहरण में हम अलंकारों की भव्यता का दर्शन कर सकते हैं–

जाइत देखिल पथ नागरि सजनि गे आगरि सुबुधि सेयानि
कनक लता सनि सुन्दरि सजनि गे बिंहि निरमाओल आनि
हस्ति गमन जकाँ चलइत सजनि गे देखइत राज कुमारि
जिनकर एहनि सुहागिनि सजनि गे पाओल पदारथ चारि
नील बसन तन घेरल सजनि गे सिर लेल चिकुर सँभारि
तापर भ्रमरा पिबए रस सजनि गे बइसल पाँखि पसारि
केहरि सम कटि-गुन अछि सजनि गे लोचन अम्बुज धरि
विद्यापति कवि गाओल सजनि गे गुन पाओल अबधारि।

इस पद में स्थान-स्थान पर उपमा अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है। जैसे – "कनक लता सनि सुन्दरि सजनि" हस्तिगमन से लेकर पसारि तक पूर्ण रूप से नायिका के अपूर्व सौन्दर्य की तुलना भ्रमर, अमृत, सिंह आदि से की गई है।

3.4.4.4 उत्प्रेक्षा

उपमा एवं रूपक अलंकार की भाँति ही पदावली में उत्प्रेक्षा अलंकार बहुलता से मिलता है। एक उदाहरण है –

आजु मझु सुन दिन भेला । कामिनि पेखल सनानक बेला ।
चिकुर गरए जलधारा। मेह बरिस जनु मोतिम हारा।
बदन पोंछल परचूने। माजि धयल जनि कनक-मुकूरे।
तेइ उदसल कुच जोरा। पलटि बैसाओल कनक कटोरा।
निबि-बंध करल उदेस। विद्यापति कहु सेस।

सद्यःस्नाता नायिका के वर्णन वाले इस सम्पूर्ण पद में उत्प्रेक्षा अलंकार है। काले केशों से उज्ज्वल जल की धारा का गिरना मानों बादल, (केश) मोती की माला की वर्षा कर रहे हैं। इसी प्रकार मुख साफ करती नायिका

का मुखमण्डल मानों स्वर्ण दर्पण हो – इस प्रकार उत्प्रेक्षा अलंकार युक्त वर्णनपूरे पद में दृष्टिगत होता है। विद्यापति की पदावली में उत्प्रेक्षा अलंकार लगभग सभी पदों में दिखता है।

3.4.4.5 श्लेष

हरि सम आनन हरि समलोचन हरि तहा हरि बर आगी।
हरिहि चाहि हरि हरि न सोहाबए हरि कए उठि जागी।

यहाँ हरि शब्द का प्रयोग अलग-अलग वस्तुओं के लिए किया गया है। जैसे – चन्द्रमा, कमल, मृग, कृष्ण, ब्रह्मा, शिव, आकाश आदि। इसी तरह 'हरि' शब्द विभिन्न अर्थों में सम्पूर्ण पद में प्रयुक्त हुआ है। एक ही शब्द की बारम्बार आवृत्ति होने के कारण पद सरस और प्रवाहमान बन पड़ा है। विद्यापति इस प्रकार के प्रयोग सायास नहीं करते थे बल्कि स्वयं ही अलंकार पदों में अपना स्थान बना लेते थे और यहीं विद्यापति रीतिकालीन कवियों से भिन्न स्थान रखते थे।

अन्य अलंकारों के उदाहरण देखिए–

3.4.4.6 यमक

सारंग नयन वयन पुनि सारंग, सारंग तसु समधाने।
सारंग उपर उगल दस सारंग केलि करथि मधुपाने।

यहाँ सारंग शब्द की आवृति बार-बार होने से यमक अलंकार है।

3.4.4.7 अतिशयोक्ति

नायिका एवं नायक (कृष्ण एवं राधा) के रूप-सौन्दर्य का वर्णन विद्यापति बहुत ही बढ़-चढ़ कर करते हैं। नायिका के सौन्दर्य को अप्रतिम बनाने के लिए वे प्रकृति के ऐसे उपादानों का प्रयोग करते हैं जो अतिशयोक्तिपूर्ण होता है, किन्तु ये पद अपने स्वाभाविक सौन्दर्य को कहीं भी छोड़ते प्रतीत नहीं होते–

कबरी भय चामरि गिरि कन्दर मुख भए चाँद अकासे
हरिन नयन भय सर भय कोकिल गति भय गज बनवासे

अर्थात्, नायिका के केश समूह से भयभीत होकर चंवर गाय भागकर पर्वत एवं कन्दराओं में छिप गई हैं। मुख के भय से चन्द्रमा आकाश में जाकर छिप गया। आँखों के भय से मृग सघन वन में जा छिपा। स्वर के भय से कोकिल और गति के भय से हाथी वन में रहने को विवश हो गया।

सर्वथा नवीन प्रयोगों के साथ कवि नायिका के अद्भुत सौन्दर्य का वर्णन बढ़-चढ़ कर करता है। उनके सभी पदों में मौलिक एवं नवीन प्रयोग मिलते हैं।

3.4.4.8 भ्रान्तिमान

केह कहै भमए भमरा केह कहे नहि नहि चरए चकोरा
संसय परल सब देखी केह बोले ताहि जुगति विसेखी
भनइ विद्यापति गाबे बड़ पुन गुनमति पुनमत पाबे।

यहाँ नायिका के नेत्रों को देखकर भ्रम की स्थिति पैदा हो रही है कि ये नेत्र हैं अथवा भ्रमर। नायिका का सौन्दर्य सभी को भ्रमित कर रहा है, क्योंकि उसका सौन्दर्य है ही ऐसा जिसकी थाह कोई पा ही नहीं सकता। जो चिर नूतन और अतुलनीय है। इसलिए कोई भी उपमा उसके उपयुक्त नहीं और यही स्थिति लोगों में भ्रम की स्थिति उत्पन्न करती है।

कवि के पदों में उपयुक्त अलंकारों के अतिरिक्त मानवीकरण, विरोधाभास जैसे अलंकार भी उपस्थित हैं। "वसन लागल भाव रूप निहारि" अर्थात् वस्त्र ही नायिका का रूप निहारने लगे। यहाँ मानवीकरण अलंकार है। इसी प्रकार यत्र-तत्र व्यतिरेक, दृष्टान्त, विशेष आदि अलंकारों का प्रयोग मिलता है।

अलंकारों का प्रयोग भाषाभिव्यक्ति का अनूठा साधन है जो विद्यापति के पदों के सौन्दर्य को कहीं भी क्षीण नहीं होने देता। डॉ॰ गुणानन्द जुयाल के शब्दों में – "विद्यापति की अलंकार योजना कहीं तो सर्वथा मौलिक है और जहाँ उन्होंने परम्परा सिद्ध उपमानों को लिया है वहाँ भी नवीनता का निर्मोक चढ़ा दिया है। उनके अलंकार भाव विधान और दृश्य चित्रण में पूर्ण सहयोग देते हैं।"

3.4.5 पाठ-सार

इस पाठ में आपने विद्यापति की भाषा के विषय में जाना। विद्यापति की भाषा सहज, सरल एवं स्वाभाविक गेयता लिये हुए प्राचीन मैथिली भाषा थी। अपनी भाषा एवं सहज अभिव्यक्ति के कारण ही आज भी विद्यापति के गीत मिथिलांचल में लोकजीवन का अभिन्न अंग हैं। इसी पाठ में आपने विद्यापति के अलंकार विधान के विषय में जाना। विद्यापति के पदों में रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा, भ्रान्तिमान, अतिशयोक्ति, यमक, श्लेष आदि अलंकारों की भरमार है, लेकिन ये वास्तव में पदों की शृंगारिकता को बढ़ाते हैं। विद्यापति लोकप्रिय कवि हैं जिनके काव्य में अभिव्यक्ति का वैशिष्ट्य दिखता है, साथ ही, उनकी भाषा एवं कला-काव्य-सौष्ठव के माध्यम से और अधिक निखर कर सामने आती है।

3.4.6 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. विद्यापति की पदावलियों की मूल भाषा है –
   (क) मैथिली
   (ख) प्राचीन
   (ग) अवधी
   (घ) भोजपुरी

2. विद्यापति को कहा जाता है –
   (क) कलम का सिपाही
   (ख) मैथिल कोकिल
   (ग) भाषा का डिक्टेटर
   (घ) सुकवि किंकर

3. विद्यापति देसिल बयना कहते हैं –
   (क) साधारण जनों द्वारा प्रयुक्त भाषा को
   (ख) संस्कृत को
   (ग) पढ़े-लिखे लोगों की भाषा को
   (घ) खड़ीबोली को

4. विद्यापति के काव्य में अलंकारों का प्रयोग हुआ है –
   (क) स्वाभाविक
   (ख) सायास
   (ग) कभी-कभी
   (घ) कभी नहीं

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. पदावली की भाषा किस प्रकार की है ? प्रकाश डालिए।
2. पदावली में अलंकारों के प्रयोग के महत्त्व को उद्घाटित कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. "विद्यापति की भाषा में ब्रज के शब्द मिलते हैं।" इस कथन का उदाहरण सहित उत्तर दीजिए।
2. "पदावली में अलंकार अपने स्वाभाविक रूप में बहुलता से उपस्थित हैं।" उदाहरण सहित बताइए।
3. निम्नलिखित के दो-दो उदाहरण दीजिए –

(i) पदावली में प्रयुक्त संयुक्ताक्षर शब्दों का सरलीकरण।

(ii) पदावली में प्रयुक्त मैथिली शब्द।

(iii) पदावली में प्रयुक्त कहावत अथवा लोकोक्ति।

4. पदावली में प्रयुक्त निम्नलिखित अलंकारों के उदाहरण दीजिए–

(i) उत्प्रेक्षा

(ii) रूपक

(iii) अतिशयोक्ति

(iv) भ्रान्तिमान

3.4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. विद्यापति, डॉ॰ त्रिभुवन शुक्ल
2. विद्यापति, डॉ॰ शिवप्रसाद सिंह
3. विद्यापति, रमानाथ झा
4. विद्यापति का अमर काव्य, डॉ॰ गुणानन्द जुयाल
5. विद्यापति, डॉ॰ आनन्दप्रकाश दीक्षित

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 3 : विद्यापति का पदावली साहित्य

इकाई – 5 : विद्यापति की काव्य-भाषा

इकाई की रूपरेखा

3.5.0 उद्देश्य कथन
3.5.1 प्रस्तावना
3.5.2 विषय-विस्तार
    3.5.2.1 विद्यापति की काव्य-भाषा
3.5.3 पाठ-सार
3.5.4 बोध प्रश्न
3.5.5 उपयोगी ग्रन्थ-सूची

3.5.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. लोक-भाषा के सौष्ठव से परिचित हो सकेंगे।
ii. विद्यापति के काव्य-सौष्ठव से अवगत हो सकेंगे।
iii. विद्यापति की काव्य-भाषा की प्रेषणीयता और मधुरता को समझ सकेंगे।

3.5.1 प्रस्तावना

किसी भी कवि के अध्ययन का एक विशेष पक्ष उसकी काव्य-भाषा का अनुशीलन होता है। विद्यापति संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की राहों से होते हुए लोक-भाषा तक पहुँचे हैं। वे भाषिक संक्रमणकाल के एक विशिष्ट कवि हैं। उनकी काव्य-भाषा के पर्यालोचन से हम तत्कालीन भाषिक प्रयोगों से ही परिचित नहीं हो सकते हैं, बल्कि लोकभाषा के सौष्ठव का भी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। काव्य-भाषा की अलंकृत विदग्धता, प्रेषणीयता और मधुरता को जानने के लिए विद्यापति का काव्य एक महान् स्रोत की तरह है। किसी भी कवि की भाषा का अध्ययन उसके मनोजगत् और समाज के रसात्मक बोध का साक्षात्कार करा सकता है। विद्यापति की मिथिलांचलिक भाषा – शास्त्र और लोक – दो तटों के बीच प्रवाहित होने वाले धारा की तरह है जिसमें अवगाहन कर सहृदय रसासिक्त हो सकते हैं।

बहुभाषाविद् विद्यापति चौदहवीं शताब्दी के भाषिक परिप्रेक्ष्य को बहुत दूर तक उजागर करते हैं। उनका भाषाशास्त्रीय महत्त्व असंदिग्ध है, किन्तु उन्होंने काव्य-भाषा के रूप में मिथिला की जनपदीय बोली को स्वीकार कर एक नई परम्परा की शुरुआत की है। लोकभाषा को काव्य-भाषा के स्तर पर प्रतिष्ठित कर देना उनका महान् ऐतिहासिक कार्य समझा जाता है। जिस तरह कवि हाल की 'गाहा सतसई' भारतीय लोकजीवन की वाणी को

स्तरीयता प्रदान करती है और सूरदास अपने पदों में ब्रजभाषा को स्वीकार करते हैं, उसी तरह विद्यापति अपने पदों के द्वारा मिथिलांचलिक लोक-संस्कृति को मुखरित करते हैं। उनके पहले ज्योतिरीश्वर ने 'वर्णरत्नाकर' की रचना की थी, जिसमें मिथिला की भाषा को गद्य के परिधान में प्रस्तुत किया गया था। काव्य की दृष्टि से विद्यापति पहले कवि हैं, जिन्होंने लोक-वेद की वाणी को काव्यगुणों से समृद्ध किया है।

कहा जाता है कि मिथिला की भाषा में लालित्य की प्रमुखता है। विद्यापति के पदों में यह भाषिक सौन्दर्य अनेकत्र दृष्टिगत होता है, किन्तु उनमें कई ऐसे पद भी है जो कठोरता और परुषता को उदाहृत करते हैं। उनके शृंगारिक पदों में कोमलता मिलती है, लेकिन काली की वन्दना में उन्होंने कठोर शब्दावली का प्रयोग किया है। इसी तरह शिवसिंह के युद्ध वर्णन में वे शौर्य और वीरत्व की व्यंजना करते हुए मिथिला की भाषा को विषयानुरूप औचित्य प्रदान करते हैं –

जय जय भैरवि असुर-भयाउनि, पसुपति-भामिनि माया।
सहज सुमति बर दिअ हे गोसाउनि, अनुगति गति तुअ पाया॥
दूर दुग्गम दमसि भंजेओ, गाढ़ गढ़ गूढ़िअ गंजेओ।
पातिसाह समीप सीमा, समर दरसेओ रे॥
ढोल तरल निसान सद्दहि, भेरि काहल पंख नद्दहि।
तीनि भुवन कित केतकि, सान भरिओ रे॥

विद्यापति की काव्य-भाषा प्रधानतः कोमलकान्त पदावली का उसी तरह निदर्शन है जैसे जयदेव के 'गीत-गोविन्द' में ललित शब्दावली के द्वारा एक मादक परिवेश की रमणीय सृष्टि की गई है। यह अकारण नहीं है कि विद्यापति को 'अभिनव जयदेव' कहा जाता है। शृंगार के अनेक कवि वैदर्भी रीति के सफल प्रयोक्ता रहे हैं, किन्तु विद्यापति एक ऐसे रचनाकार हैं, जिन्होंने वैदर्भी और गौड़ीय – दोनों प्रतिलोम रीतियों को समानतः ग्रहण किया है। उनकी काव्य-भाषा माधुर्य ही नहीं, ओज गुण से भी वेष्टित है। उनके प्रसाद-गुण-सम्पन्न अनेकपद भी हैं जिनकी उक्तियाँ सहज-संवेद्य हैं। इस प्रसंग में उनकी निम्नलिखित लोकोक्तियाँ ध्यान खींचती हैं–

अलखिते हमे हेरि बिहुँसलि थोर। जनि रयनी भेल चाँद इँजोर॥
कुटिल कटाख लाट पड़ि गेल। मधुकर-डंबर अंबर भेल॥

संस्कृत भाषा के सौष्ठव, काव्यशास्त्र के पाण्डित्य और जनभाषा की बोधगम्यता को विद्यापति एक साथ अभिव्यंजित करते हैं। मम्मट ने उस शब्दार्थ को काव्य कहा है जिसमें दोष नहीं हो, गुण अवश्य हो और अलंकार हों अथवा न हों। इस कसौटी पर जब विद्यापति के काव्य का अनुशीलन करते हैं तो पाते हैं कि वे दोषहीन, गुणयुक्त और अलंकरण के वैकल्पिक प्रयोगों पर ध्यान देते हैं। इस दृष्टि से उनकी अभिव्यंजना सफल मानी जा सकती है। उनका काव्य जिस रसात्मकता का बोध कराता है वह औचित्य से संवलित है। विषय के अनुरूप भाषा-प्रयोग में उनकी निपुणता लक्षित होती है। ब्रजमण्डल के सूरदास से लेकर बंगाल के चण्डीदास और चैतन्य तथा असम के शंकरदेव तक उनकी काव्य-भाषा की ग्राह्यता देखी जाती है। मिथिला के घर-घर में और अशिक्षित

चरवाहों के बीच इनके पद व्याप्त रहे हैं। वैष्णव भक्तों के पूजा-स्थलों से लेकर पारिवारिक कौतुक-गृहों और गाँवों की अमराइयों तक इनके गीत गूँजते रहे हैं । लोकजीवन में ऐसी व्यापकता का सबसे बड़ा कारण भाषिक अभिव्यंजना की प्रासंगिकता है। एक नवीन काव्य-भाषा को बहुविध भावों के सम्प्रेषण में उपयुक्त बना देना विद्यापति की भाषिक दक्षता का निदर्शन है।

3.5.2 विषय-विस्तार

3.5.2.1 विद्यापति की काव्य-भाषा

चौदहवीं शताब्दी के महान् कवि विद्यापति ठाकुर उद्‌भट विद्वान् और प्रतिभा के धनी रचनाकार थे। वे बहुज्ञ ही नहीं, बहुभाषाविद् भी थे। संस्कृत की शास्त्र-परम्परा और काव्य-परम्परा उन्हें सम्पूर्णतः अधिगत थी। वे प्रायः लोकभाषा मैथिली के कवि माने जाते हैं, किन्तु काव्य-भाषा की दृष्टि से उन्हें क्षेत्र-विशेष से ही परिमित नहीं किया जा सकता है। उन्होंने संस्कृत में 'शैवसर्वस्वसार' और 'दुर्गाभक्ति तरंगिणी' का ही प्रणयन नहीं किया था, बल्कि अनेकत्र उनके संस्कृत भाषाबद्ध पद्य भी उपलब्ध होते हैं। 'कीर्तिलता' के प्रारम्भ में और 'पुरुष-परीक्षा' में उन्होंने संस्कृत की रचनाधर्मिता का परिचय दिया है। वे प्राकृत और अपभ्रंश के भी मर्मज्ञ थे और अवहट्ठ के द्वारा उन्होंने एक नई काव्य-भाषा का सृजन किया था। बंगाल में उनकी 'पदावली' की भाषा को 'ब्रजबुलि' से जोड़ा जता है। विविध भाषा-प्रयोगों के उक्त आयामों को देखते हुए विद्यापति पूर्व-मध्यकाल के एक विशिष्ट कवि के रूप में सामने आते हैं। वे एक साथ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश ही नहीं, 'देसिल बयना' के कवि के रूप में भी अपने ऐतिहासिक महत्त्व का परिज्ञान कराते हैं।

'कीर्तिलता' के प्रारम्भ में ही विद्यापति ने समकालीन भाषिक विमर्श को उपस्थापित किया है। उन्होंने कहा है कि संस्कृत बुधजनों अर्थात् विद्वानों की भाषा है जो सर्वसाधारण की समझ में नहीं आती है तथा प्राकृत कठिन है, जिसका रस अप्रकट रह जाता है। अतः सभी लोगों के लिए देशी भाषा ही मीठी है जिससे सम्पृक्त, अवहट्ठ भाषा ग्राह्य मानी जानी चाहिए –

सक्कय बाणी बहुअन भावइ, पाउँअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल बअना सबजन मिट्ठा, तें तैसन जम्पयो अवहट्ठा॥

उपर्युक्त पंक्तियों में दो भाषाएँ संस्कृत और प्राकृत अवांछनीय बतलाई गई है तथा देशी और अवहट्ठ को प्रासंगिक माना गया है। संस्कृत और प्राकृत का युग बीत चुका है और लोकभाषाएँ अस्तित्व में आने लगी हैं। विद्यापति भाषा के इसी चतुष्पथ पर खड़े होकर अपने लिए एक सुसंगत माध्यम की खोज कर रहे हैं। उन्होंने देशी और अवहट्ठ के मिलाप की चर्चा की है। यह एक प्रयोगशील नई काव्य-भाषा के संस्थापन का प्रयत्न है।

विद्यापति ने जिस 'देसिल बयना' और अवहट्ठ की चर्चा की है उससे विद्वानों में एक भ्रमजाल-सा फैल गया है। लोग 'देसिल बयना' का अर्थ मैथिली समझते हैं और 'कीर्तिलता' के अवहट्ठ को मैथिली से मिश्रित

भाषा मानते हैं। 'देशी' शब्द यहाँ मैथिली के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है, क्योंकि इस शब्द का अर्थ सभी क्षेत्रीय भाषाओं तक परिव्याप्त है। गुजरात के हेमचन्द्र ने 'देशीनाम माला' नामक एक पुस्तक लिखी थी जिसमें विविध क्षेत्रों में प्रचलित लोकभाषिक विविध अभिधानों का संग्रह हुआ था। एक समय आरम्भिक मराठी को भी देशी कहते थे तथा अनेक आंचलिक भाषाएँ इस शब्द के द्वारा पहचानी जाती थीं। विद्यापति का कहना है कि वे अपभ्रंश नहीं, अवहट्ठ में 'कीर्तिलता' लिख रहे हैं जिसका मूलाधार देशी है, किन्तु यह सम्पूर्णतः क्षेत्रीय भाषा नहीं है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अवहट्ठ को 'अग्रसरीभूत अपभ्रंश' कहा है। उनका मंतव्य है कि अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई एक नई भाषा अवहट्ठ है जिसमें अपभ्रंश के व्याकरण का अनुपालन नहीं हुआ है। विद्यापति 'तैसन' शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ 'वही' नहीं 'वैसा' है। उनकी अवहट्ठ भाषा देशी नहीं है, किन्तु उससे सादृश्य रखती है। यह एक नई काव्य-भाषा की खोज है।

भाषाविज्ञान की दृष्टि से 'कीर्तिलता' की भाषा का स्वरूप समरस नहीं है। इसका आरम्भ उस मानक 'शौरसेनी अपभ्रंश' भाषा में होता है जिसका व्याकरण हेमचन्द्र ने लिखा था। 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' में अपभ्रंश को उकार-बहुला भाषा कहा गया है। यहाँ 'उकार' में 'ईकार' भी समाहित है। मानक अपभ्रंश की यह प्रवृत्ति 'कीर्तिलता' के प्रथम पल्लव में ही लक्षित होती है –

तिहुअन खेत्तहि कामि तसु कित्तिवल्ली पसरेइ।
अक्खर खम्भारंलयो मंचो बंधि न देइ॥

'कीर्तिलता' के द्वितीय पल्लव में 'अर्धमागधी अपभ्रंश' के लक्षण दृष्टिगत होते हैं। भूतकालिक कृदन्त के सन्दर्भ में यह भाषा 'बरल', 'मारल' जैसे शब्दों का व्यवहार करती है। यह वही अर्धमागधी अपभ्रंश है जिससे मैथिली और बांग्ला का विकास हुआ है। शौरसेनी अपभ्रंश की तुलना में ये पंक्तियाँ पूर्वांचलिक अपभ्रंश की प्रतीति कराती हैं –

रज्ज लुद्ध असलान बुद्धि बिक्कनबले हारल।
पास बइसि बिसबासि राए गएनेसर मारल॥

जिसे आज हम मैथिली कहते हैं उसकी भी पहचान 'कीर्तिलता' में होती है। ग्रन्थ के प्रथम पल्लव में ही विद्यापति ने जो गद्यांश प्रस्तुत किया है उसके संस्कृत और प्राकृत के शब्दों की भीड़ में लोकभाषा के मोती मौजूद हैं –

तीनहु शक्तिक परीक्षा जानलि
रसलि विभूति पलटाय आनलि।

कवि ने पद्य में भी मैथिली के शब्दों को अनायास स्थान दे दिया है। निम्नलिखित पंक्तियों में न अपभ्रंश है और न अवहट्ट। ये एकान्ततों तत्कालीन जनभाषा को उदाहृत करती है –

जहाँ जाइअ जेहि गाँव।
भोगाइ रजाक बद्धि गाँव।

उपर्युक्त सन्दर्भों से प्रकट है कि विद्यापति की यह आरम्भिक कृति अनेक भाषाओं की उपस्थिति को समाहित करती है। इस भाषा में तुर्की भाषा के भी कई शब्द ले लिए गए हैं। इस तरह यहाँ किसी रूढ़भाषा के साँचे को स्वीकार नहीं किया गया है, बल्कि अभिव्यक्ति के नए माध्यम की गवेषणा की गई है।

काव्य-भाषा की दृष्टि से विद्यापति ने 'कीर्तिलता' में कुछ सूत्रों का प्रतिपादन किया है जिनसे काव्य के कथ्य और अभिव्यंजना के उपादानों का बोध होता है। उनकी दृष्टि में काव्य की रसात्मकता सर्वोपरि है। वे काव्य को एक ऐसी कला मानते हैं जिसे विदग्धजन या सहृदय ही समझ सकते हैं। उन्होंने कहा है "महु अर बुज्झइ कुसुम रस कब्ब कलाउ छइल्ल"। उनका मंतव्य है कि फूल का रस मधुकर या भ्रमर जानता है और काव्य की कला को छैला या मर्मज्ञ समझता है। यहाँ वे भावक के लिए एक कसौटी निश्चित करते हैं जिसका मूलाधार रस है। इसके साथ-ही-साथ वे कलागत दक्षता की बात उठाते हैं। सहृदय के लिए काव्यगत शैली का ज्ञान अनिवार्य है। बिना अभिव्यंजना की निपुणता को जाने कोई भी किसी रचना की परख नहीं कर सकता है। कलागत इस नैपुण्य के लिए वे दोषहीनता और वक्रता को आवश्यक ठहराते हैं। कीर्तिलता में उन्होंने लिखा है –

बालचंद विज्जवइ भासा।
दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन हासा॥
ओ परमेसर हर सिर सोहइ।
इ णिच्चय नाअर मन मोहइ॥

विद्यापति सहृदय के लिए नागर होना आवश्यक मानते हैं। अभिजात रुचि का व्यक्ति ही नागर या नागरिक है जो काव्य के परीक्षण का अधिकारी कहा जा सकता है। विद्यापति कहते हैं कि उनकी भाषा और बाल चन्द्रमा अर्थात् द्वितीया के चाँद की निन्दा सम्भव नहीं है, क्योंकि बालचन्द्र शिव के मस्तक पर शोभायमान है और उनकी भाषा नागर-वर्ग के लोगों का अनुरंजन करने में समर्थ है। यहाँ वे प्रकारान्तर से काव्य-भाषा के लिए नागर गुणों की अपेक्षा पर बल देते हैं। बाल चन्द्रमा में कलंक नहीं होता है। उसकी दोषहीनता काव्य के लिए गुण की तरह है। निर्दोषता स्वयं में काव्य की मूलभूत विशेषता है। मम्मट ने 'तद्दोषौ' के द्वारा यही संकेतित किया है कि काव्य में दोष का अभाव आवश्यक है। बालचन्द्र दोषमुक्त होने के साथ-साथ टेढ़ा अर्थात् वक्र भी होता है। उसकी वक्रता उसी काव्य सिद्धान्त की ओर इंगित करती है जिसे कुन्तक ने प्रतिपादित किया था। यह पूरा प्रसंग विद्यापति की काव्य-भाषा विषयक अवधारणा का एक अभिलेख है। वे नागरों के लिए ग्राह्य उस भाषा को आदर्श ज्ञापित करते हैं जिसमें दोष या कलंक न हो, किन्तु वक्रता अवश्य हो।

विद्यापति ने लोक-भाषा में अनेक गीत लिखे हैं जिनमें मुख्यतः शृंगार रस का निर्वाह हुआ है। उनकी रचनाएँ प्रतिभा के साथ-साथ पाण्डित्य को भी उदाहृत करती हैं। कई शास्त्रों की व्युत्पत्ति उनके गीतों को उदात्तता

प्रदान करती है। उनका पदावली-साहित्य दोषों के निराकरण और वक्रोक्ति के संस्थापन को ध्यान में रख कर प्रणीत है।

काव्य-भाषा का आभिजात्य अलंकारों और सांगीतिक स्वरों के द्वारा सिद्ध होता है। विद्यापति के कई पदों में शब्दों की झंकृतियाँ सुनाई पड़ती हैं–

बाजति द्रिगि द्रिगि धौद्रिमि द्रिमिया।
नटति कलावति माति ष्याम संग, कर करताल प्रबन्धक ध्वनिया॥

– से प्रारम्भ होने वाला पद नृत्य और संगीत के पारस्परिक सहयोग को व्यक्त करता है। "ननुआ नअन नलिनज्यों अनुपम", "बंक निहारइ थोड़ा" में वैदर्भी रीति की शब्द-योजना है। यहाँ 'वृत्यनुप्रास' का निर्वाह तो हुआ ही है, किन्तु शब्द-चयन की युक्तियुक्तता की दृष्टि से यह अंश महत्त्वपूर्ण है। नयन के लिए 'ननुआ' अर्थात् नवनीत का प्रयोग दृष्टि की कोमलता का द्योतक है। नयन के लिए 'नलिन' अर्थात् कमल का उपनाम तो रूढ़ है, किन्तु 'ननुआ' में नूतनता की उद्भावना हृदयावर्जक है।

बंगाल के कुछ विद्वान् विद्यापति को 'ब्रजबुलि' भाषा से जोड़ते हैं। वे ब्रजभाषा, बांग्ला और मिथिला की क्षेत्रीय बोली को मिश्रण से उद्भूत काव्य-भाषा को 'ब्रजबुलि' कहते हैं। डॉ॰ सुकुमार सेन ने इस भाषा को चैतन्य सम्प्रदाय से कृष्णकाव्य और अष्टछाप के सूरदास से जोड़ा है। इस प्रसंग में प्रायः "झम्पि घन गरजंति सन्तत भरि बरसंतिया" को उद्धृत किया जाता है। जिस तरह कुछ लोग अवहट्ठ को एक गढ़ी हुई भाषा बतलाते हैं उसी तरह ब्रजबुलि को भी लोक-भाषा नहीं कृत्रिम भाषा माना जाता है। विद्यापति की उक्त पंक्ति गढ़ी हुई भाषा को उदाहृत नहीं करती है। यह काव्य-भाषा में नाद-सौन्दर्य लाने की चेष्टा है।

सखि हे हमर दुःखक नहीं ओर।
ई भर बादर माह भादर, सून मन्दिर मोर॥

मूल पद की संगति में वर्षा का यह चित्रण स्वस्संयोजन का अच्छा उदाहरण है। यहाँ अपभ्रंश पर ब्रजबुलि के प्रभाव को स्वीकार करना संगत नहीं है। इस प्रसंग में हम श्रुति संवेदना से सम्पृक्त ध्वनि बिम्ब के स्पष्ट दर्शन कर सकते हैं।

काव्य में अलंकारों की योजना को अनिवार्य नहीं माना गया है, किन्तु अलंकार सौन्दर्यवर्धक होते हैं। विद्यापति इस तथ्य को मानते हैं। उनके पदों में अनेकत्र अलंकारों की स्वाभाविक छटा दृष्टिगत होती है। शब्दालंकार एवं अर्थालंकार के अनेक प्रयोग उनकी काव्यभाषा को विभूषित करते हैं।

विद्यापति ने रूढ़ उपमानों का प्रयुक्त करके भी उनमें चमत्कार ला दिया है। औपम्यविधान के क्षेत्र में उन्होंने परम्परागत उपमानों को नई भंगिमा दी है। प्रियतम के पास जानेवाली नवोढ़ा की शारीरिक और मानसिक स्थितियों को वे अत्यन्त सफलता के साथ चित्रित करते हैं। कमल के ऊपर थरथराते हुए जल में नायिका की देह

और गति को भली-भाँति व्यक्त किया गया है । स्त्री के मन और शरीर के रंग को यह उपमान स्वाभाविक और अछूते ढंग से प्रकट करता है।

प्रियतम की उपेक्षा से आहत नायिका एकाकी संध्यातारा और भाद्रपद की चतुर्थी के चाँद से अपनी तुलना करती है। यहाँ भी उपमागत वह नवीनता लक्षित होती है जो लोकजीवन के विश्वास से सम्बद्ध है –

कि हम साँझक एक सरि तारा, भादब चैठिक ससी।
इथि दुहुँ माझ कओन मोर आनन जे पहु हेरथि न हँसी॥

तेल जल पर फैल जाता है और बालू में पानी सूख जाता है । लोकजीवन के इस पर्यवेक्षण के आधार पर कवि ने नायिका के प्रेम और सौभाग्य को हृदयावर्जक उपमा-शैली में वर्णित किया है –

तेल-बिंदू जैसे पानी पसारिअ, ऐसन मोर अनुराग।
सिकता जल जैसे छनहि सुखैय सखि, तैसन मोर सोहाग॥

आँख के लिए भ्रमर का उपमान परम्परा से प्रसिद्ध है, किन्तु विद्यापति ने निम्नलिखित पंक्तियों में मदमत्त नेत्रों का जो बिम्ब उपस्थित किया है वह रूढ़ उपमान को मौलिकता प्रदान करता है –

सहजहि आनन सुन्दर रे, भँउह सुरेखलि आँखि।
पंकज मधु पिवि मधुकर रे, उड़ए पसारल पाँखि॥

विद्यापति जब चले आते हुए उपमानों को प्रतीक शैली में व्यवहृत करते हैं तब उनकी अलंकृत काव्य-भाषा पाठकों को चमत्कृत कर देती है । नायिका के सौन्दर्य को देखकर सारे उपमान पलायन कर जाते हैं और सुन्दरी का अनूठा व्यक्तित्व सबसे ऊपर दिखाई पड़त है । उपमानों की यह अशक्ति और नायिका के सौन्दर्य की उत्तमता विद्यापति के निम्नलिखित पद में वर्णित है –

कबरी भय चामरि गिरि कंदर, मुख-भय चाँद अकासे।
हरिनि नयन-भय, सुर-भय कोकिल, गति-भय गज बनबासे॥

सांगरूपक अलंकार का एक उत्कृष्ट उदाहरण निम्नलिखित पद में वर्णित है–

बड़ कौसल तुअ राधे! किनल कन्हाई लोचन आधे।
ऋतुपति हटबए नहि परमादी। मनमथ मधथ उचित मूलबादी॥

नायिका के बाल काले हैं। वह जब स्नान करती है तब उसकी शोभा अनूठी हो जाती है। उसके बालों से पानी टपक रहा है और उसका आनन चन्द्रमा की तरह है। सद्यःस्नाता के इस वर्णन में कवि ने जो उत्प्रेक्षा की है वह बेमिसाल है। केशराशि से गिरता हुआ जल ऐसा है मानों मुख-रूपी चन्द्रमा के भय से अँधकार रो रहा है।

बाल अँधकार की तरह काले हैं। वे नायिका ने मुखचन्द्र के डर से रो रहे हैं। यहाँ कवि के परम्परागत उपमान को नई शोभा प्रदान की है –

कामिनि करए सनाने, हेरितहि हृदय हनए पँचबाने।
चिकुर गरए जलधारा, जनि मुख-ससि डरें रोअए अँधारा॥

सद्यःस्नाता नायिका के नेत्र लाल हैं। इस प्रसंग में विद्यापति एक सुन्दर उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानों श्वेत कमल सिन्दूर से रंजित हो गया है। आँखों की लालिमा के लिए सिन्दूर से लिप्त पंकज का यह चित्र एक अभिनव सौन्दर्य को साकार करता है –

नीर निरंजन लोचन राता
सिन्दूर मंडित जनु पंकज पाता

नेत्र के लिए हरिण, मुख के लिए चन्द्रमा शारीरिक सुगन्ध के लिए परिमल, गति के लिए हस्तिनी, शरीर की कान्ति के लिए सोना और वाणी या स्वर के लिए कोयल के उपमान परम्परागत हैं। विद्यापति ने इन छह उपमानों को क्रमबद्ध करते हुए नायिका के सौन्दर्य का जो वर्णन किया है उसमें यथासंख्य अलंकार के कारण एक नवीनता आ गई है। कवि ने उक्त छह उपमानों को यों सूत्रबद्ध किया है –

हरिन इंदु अरबिंद करिनि हेम, पिक बूझल अनुमानी।
नयन बदन परिमल गति तन रुचि, अओ अति सुललित बानी॥

नये मेघ में कौंधती बिजली के उपमान से घटित उत्प्रेक्षा का यह रम्य उदाहरण द्रष्टव्य है –

ससन-परस खसु अंबर रे, देखल धनि देह।
नव जलधर-तर चमकए रे, जनि बिजुरी-रेह॥

वियोगिनी की मनःस्थिति को व्यक्त कराने के लिए विद्यापति जिस तार्किक पद्धति का आश्रय लेते हैं उसमें एकावली अलंकार की छटा दृष्टिगोचर होती है। जैसे एकावली हार विभिन्न मनकों से जुड़कर एकरूप ग्रहण करता है उसी तरह यहाँ मनोभावों की एक पिरोई हुई शृंखला दिखाई पड़ती है –

सरसिज बिनु सर सर बिनु सरसिज
की सरसिज बिनु सूरे।
जौबन बिनु तन तन बिनु जौबन
की जौबन पिय दूरे।

कवि का कहना है कि बिना कमल के सरोवर और बिना सरोवर के कमल तक बिना सूर्य के कमल के प्रस्फुटन का कोई अर्थ नहीं है इसी तरह यौवन के बिना शरीर और शरीर के बिना यौवन व्यर्थ है तथा प्रियतम के

वियोग में यौवन की कोई सार्थकता नहीं है। इन तमाम बातों को कवि ने एकावली अलंकार के सहारे अभिव्यक्त किया है।

विद्यापति के निम्नलिखित प्रसिद्ध पद में तद्गुण नामक अलंकार की विद्यमानता है जिससे राधा की वियोगजन्य स्थिति की सम्यक् प्रस्तुति होती है –

अनुखन माधब माधब सुमरईते, सुंदरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभाबहि बिसरल, अपनेहि गुन लुबुधाई।

उपमान उपमेय से श्रेष्ठ माने जाते हैं, किन्तु विद्यापति ने एक पद में नायिका के सौन्दर्य के विविध सन्दर्भों के कारण उपमेयों की शोभा-वृद्धि की बात कही है। युवती के जहाँ-जहाँ चरण पड़ते हैं वहाँ-वहाँ कमल पैदा होता है। उसके अंगों की कान्ति से विद्युत तरंग की उत्पत्ति होती है। इसके नेत्रों के विकास से कमल का विकास होता है। उसके हास्य से अमृत का प्रसार होता है। उसके कटाक्ष से कामदेव के बाण उत्पन्न होते हैं –

जहाँ-जहाँ पद-जुग धरई। तहिं-तहिं सरोरूह झरई॥
जहाँ-जहाँ झलकए अंग। तहिं-तहिं बिजुरि तरंग॥
कि हेरलि अपरुब गोरि। पइठलि हिअ मधि मोरि॥
जहाँ-जहाँ नयन विकास। ततहिं कमल परकास॥

विद्यापति की काव्य-भाषा का सौन्दर्य अनेकत्र सांगीतिकता पर भी निर्भर है। नाद-व्यंजना से भरपूर ऐसी अनेक पंक्तियां मिलती हैं जो स्वर बिम्ब को मूर्त करती हैं। इस प्रसंग में निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं –

किंकिन किनि किनि कंकन कनकन
घन-घन नूपुर बाजे।
रति रन मदन पराभव मानल
जय जय डिम डिम बाजे॥

विद्यापति साहित्य के आदि समीक्षक पण्डित शिवनन्दन ठाकुर ने कवि की अलंकार-योजना और सांगीतिकता पर विचार करते हुए ठीक ही लिखा है – "गहना पहन कर कुरूप नारियाँ भी सुन्दरी मालूम पड़ती हैं। सुन्दरी नारियों के गहने तो सोने में सुगन्ध का काम करते हैं। विद्यापति की श्रुतिमधुर कविता अलंकार से सुसज्जित होकर किस पद-प्रेमी पाठक का मन नहीं हर लेती है ?"

विद्यापति की काव्य-भाषा वाग्वैदग्ध्य और सूक्तिकौशल के अनेक दृष्टान्त उपस्थित करती है –

अंबरे बदन झँपाबह गोरि। राज सुनइ छिअ चाँदक चोरि॥
घरें घरें पहरि गेल अछि जोहि। अबही दूखन लागत तोहि॥

थोड़े शब्दों के द्वारा कवि ने अपनी वाग्विदग्धता का परिचय दे दिया है –

तन्हि सएं केसन पिरित रसाल। बानर-कण्ठ कि मोतिम माल॥
भनइ विद्यापति एह रस जान। बानर-मुँह की सोभए पान॥

इसी तरह "आगि जारि पुनि आगहिक काज" जैसी पंक्ति में विद्यापति के उक्ति-कौशल से हम अवगत होते हैं।

विद्यापति की काव्य-भाषा का एक महनीय वैशिष्ट्य लोकगीतों की धुनों का अनुवर्तन है। सरलता और सहजता की मूलभूमि लोक-परम्परा है। कवि ने लोक-कण्ठ की रागिनी को अपने कई गीतों में प्रतिध्वनित किया है। निम्नलिखित प्रसंग विद्यापति की भाषा के लोकात्मक स्वरूप का बोध कराते हैं –

चानन भेल विषम सम रे, भूषन भेल भारी।
सपनहुँ नहि हरि आएल रे, गोकुल गिरधारी॥

* * *

मधुपुर मोहन गेल रे, मोरा बिहरत छाती।
गोपी सकल बिसरलन्हि रे, जत छलि अहिबाती॥

* * *

मोरा रे आँगना चानन केरि गछिआ, ताहि चढ़ि कुररए काग रे।
सोने चोंच बाँधि देब तोहि बायस, जओ पिया आओत आज रे॥

काव्य में प्रकृति के मानवीकरण की बड़ी महिमा रही है। मानवीकरण की यह प्रक्रिया अचेतन वस्तु को चेतन बनाने वाली है। काव्य-भाषा की यह विलक्षणता सर्वप्रथम कालिदास के 'मेघदूत' में लक्षित होती है जहाँ मेघ को दूत बनाया गया है। कवि विद्यापति ने वसन्त के वर्णन-क्रम में उक्त मानवीकरण को बड़ी सफलता के साथ दर्शित किया है। वसन्त को मानवीय गुणों से मण्डित करने में उनकी भाषा की बड़ी भूमिका रही है। इस क्रम में वसन्त को कभी बालक तो कभी राजा के रूप में कल्पित किया गया है। एतत्सम्बन्धी निम्नलिखित उदाहरण उनके मानवीकरण की पद्धति को प्रकट करते हैं। बालक वसन्त के उदाहरण द्रष्टव्य है –

माघ मास सिरिपंचमि गँजाइलि, नवम मास पंचम हरु आई हे।
अति घन पीड़ा दुःख बड़ पाओल, बनसपती भेलि धाई हे॥

* * *

आएल रितुपति राज वसन्त। घाओल अलिकुल माधबि-पंथ॥
दिनकर-किरन भेल पौगंड। केसर कुसुम धएल हेमदण्ड॥

कवि विद्यापति प्रकृति के रमणीय ही नहीं, भीषण रूप को भी चित्रित करने में कुशल हैं। छायावाद के कवि पंत की 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में भी यही कौशल देखा जा सकता है। विद्यापति मूलतः माधुर्य के कवि हैं, किन्तु उनकी काव्य-भाषा भीषण वातावरण के चित्रण में भी अमोघ सिद्ध होती है। निम्नलिखित पंक्तियाँ इस सन्दर्भ में ध्यातव्य हैं –

जलद सरिस जलधार
काजरे राताति राति
भमएं भजगम भीम
पंके पुरल चैसीम
दिग मग देखिए धोर
पयर दिअ विजुरि अजोर

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विद्यापति की काव्य-भाषा बहुआयामी है। इसमें उदात्तता और सरलता का मणिकांचन चरित्र दृष्टिगत होता है।

3.5.3 पाठ-सार

विद्यापति की काव्य-भाषा का प्रस्तुत विमर्श एक नई काव्य-भाषा की उद्‌भावना से सम्बद्ध है। लोकभाषा को जीवन के वैविध्य और शास्त्र की गहनता से एक साथ जोड़ने में विद्यापति कृतकार्य हुए हैं। उन्होंने अपने काव्यशास्त्रीय ज्ञान और लोकगत अभिज्ञता को पिरोकर एक प्रांजल काव्य-भाषा का निर्माण किया है। प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के समन्वित रूप को काव्य कहा गया है। विद्यापति का कर्त्तत्व इन तीनों तथ्यों का संग्रथित रूप है। उन्होंने उन्मेष, पाण्डित्य और सतत अभ्यास को लोकजीवन की धरती पर अवतरित किया है। जिस तरह एक अपभ्रंश मुक्तक की मुग्धा अपने सहज सौन्दर्य से रसिकों को उठक-बैठक करा देती है उसी तरह विद्यापति की काव्य-भाषा मर्मज्ञ पाठकों और सहृदय विद्वानों को प्रभावित और आह्लादित करती है। उनकी काव्य-भाषा के सौन्दर्य को अपभ्रंश के इस मुक्तक के द्वारा हम भलीभाँति समझ सकते हैं–

सिरि जर खंडी लोअडी गल मन अऽ न वीस।
तो वि गोदुआ कराविया मुद्धएं उद्ध बईस॥

एक सामान्य लोक-भाषा नागर जनों को किस तरह अभिभूत कर सकती है यह विद्यापति को पढ़कर समझा जा सकता है। पारखी विद्वान् और अनपढ़ ग्रामीणजन एक साथ इनकी भाषा की गंगा में पैठ कर पुलकित होते हैं।

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, अवहट्ठ और मिथिला की लोकवाणी में समानतः प्रवेश रखने वाले विद्यापति अपने समय की भाषिक संस्कृति को प्रभावी ढंग से मूर्त करते हैं और परवर्ती कृतिकारों के लिए अनुकरणीय सिद्ध होते हैं। वे मिथिला की काव्य-भाषा-रूपी गंगा के निष्ठावान् भगीरथ हैं जिन्होंने गोमुख से निकलने वाली धारा को लोकजीवन की उपत्यका में संचरित करने का ऐतिहासिक कार्य किया है।

3.5.4 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. काव्य-भाषा निम्नलिखित में से क्या है ?

(क) तर्क की भाषा

(ख) ज्ञान की भाषा

(ग) शास्त्र की भाषा

(घ) भाषा का रमणीय और संवेगात्मक रूप

सही उत्तर – (घ) भाषा का रमणीय और संवेगात्मक रूप।

2. निम्नलिखित में से अवहट्ठ क्या है ?

(क) प्राकृत

(ख) देशी

(ग) अपभ्रंश

(घ) अग्रसरीभूत अपभ्रंश

सही उत्तर – (घ) अग्रसरीभूत अपभ्रंश।

3. 'पदावली' की भाषा क्या है ?

(क) ब्रजबुलि

(ख) मैथिली की लोकभाषा

(ग) देशी

(घ) मिथिला अपभ्रंश

सही उत्तर – (ख) मैथिली की लोकभाषा।

4. विद्यापति 'पदावली' की मूल विषयवस्तु क्या है ?

(क) शृंगार

(ख) लोकजीवन का चित्रण

(ग) भक्ति

(घ) भक्ति-शृंगार का एकीकरण

सही उत्तर – (घ) भक्ति-शृंगार का एकीकरण।

5. विद्यापति ने अपनी काव्य-भाषा के लिए निम्नलिखित में से किसे आदर्श के रूप में स्वीकार किया है ?
   (क) निष्कलंक और वक्र बालचंद
   (ख) ध्वनि
   (ग) रीति
   (घ) अलंकार

सही उत्तर – (क) निष्कलंक और वक्र बालचंद।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अवहट्ठ क्या है ?
2. माधुर्य गुण क्या है?
3. ब्रजबुलि क्या है ?
4. विद्यापति को 'अभिनव जयदेव' क्यों कहा जाता है ?
5. 'पदावली' की भाषा पर प्रकाश डालिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. काव्य-भाषा की अवधारणा क्या है ?
2. क्या काव्य-भाषा का सम्बन्ध गुणाश्रित रीतियों से है ?
3. विद्यापति की काव्य-भाषा का क्या स्वरूप है ?
4. "विद्यापति की काव्य-भाषा में जीवन के विविध पक्षों की अभिव्यक्ति हुई है।" प्रमाणित कीजिए।
5. "विद्यापति की काव्य-भाषा लोकगीतों की सरलता का अनुवर्तन करती है।" सप्रमाण उत्तर दीजिए।

3.5.5 उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. महाकवि विद्यापति, पण्डित शिवनन्दन ठाकुर, पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय
2. विद्यापति ठाकुर, डॉ॰ उमेश मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण सन् 1960 ई.
3. विद्यापति, शिवप्रसाद सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
4. विद्यापति पदावली के आकर स्रोत, डॉ॰ प्रमोद कुमार सिंह, अनुपम प्रकाशन, पटना
5. The Songs of Vidyapati, डॉ॰ सुभद्र झा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली

❖❖❖

खण्ड – 4 : अमीर ख़ुसरो का हिन्दवी काव्य

इकाई – 1 : ख़ुसरो की रचनाधर्मिता, प्रमुख रचनाएँ, पहेलियाँ, मुकरियाँ, दो सुखने, ग़ज़ल, शेर आदि

इकाई की रूपरेखा

4.1.01 उद्देश्य कथन
4.1.02 प्रस्तावना
4.1.03 अमीर ख़ुसरो की रचनाधर्मिता
4.1.04 ख़ुसरो की रचनाएँ
4.1.05 ख़ुसरो की प्रमुख पहेलियाँ
  4.1.05.1 अन्तर्लापिका पहेलियाँ
  4.1.05.2 बहिर्लापिका पहेलियाँ
4.1.06 ख़ुसरो-कृत दो सुखने
  4.1.06.1 कुछ प्रमुख दो सुखने
  4.1.06.2 फ़ारसी और हिन्दी में रचित दो सुखने
4.1.07 अमीर ख़ुसरो की प्रमुख ग़ज़लें
4.1.08 अमीर ख़ुसरो के प्रमुख गीत
4.1.09 पाठ-सार
4.1.10 बोध प्रश्न

4.1.01 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. अमीर ख़ुसरो की रचनाधर्मिता को समझ सकेंगे।
ii. अमीर ख़ुसरो की प्रमुख रचनाओं और उनके वैशिष्ट्य से अवगत हो सकेंगे।

4.1.02 प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य के आदिकाल के प्रमुख कवियों में अमीर ख़ुसरो का प्रमुखस्थान है। ये गयासुद्दीन बलबन से लेकर अलाउद्दीन और कुतुबद्दीन मुबारक शाह तक कई पठान बादशाहों के समकालीन रहे। ये फ़ारसी के अच्छे ग्रन्थकार और अपने समय के नामी कवि थे। ख़ुसरो बड़े ही विनोदी, मिलनसार और सहृदय थे। जनता के सभी कार्यों में सहयोग की भावना रखने वाले ख़ुसरो ने हिन्दी काव्य की अनेक विधाओं में लेखनी चलाई। इनके दोहे, तुकबंदियाँ और पहेलियाँ साधारण जनता की बोलचाल में रचित हैं। इनकी पहेलियाँ और मुकरियाँ जन साधारण से लेकर सुधी पाठकों की कण्ठहार हैं। ख़ुसरो के काव्य में उक्ति वैचित्र्य की प्रधानता थी। इनके गीत ग़ज़ल, शेर और दोहे खूब प्रसिद्ध हुए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है– "ख़ुसरो

का लक्ष्य जनता का मनोरंजन था।" इस पाठ में ख़ुसरो की रचनाधर्मिता, उनकी प्रमुख रचनाओं तथा उनके काव्य के विभिन्न पक्षों पर विचार किया गया है।

4.1.03 अमीर ख़ुसरो की रचनाधर्मिता

अमीर ख़ुसरो हिन्दवी खड़ीबोली कविता के सिरमौर हैं। उनकी फ़ारसी कविता जितना महत्त्व रखती है, उनका हिन्दवी काव्य भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। ख़ुसरो का हिन्दवी काव्य राष्ट्रीय साहित्य का गौरव है। उर्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तानी और खड़ीबोली का प्रथम रूप हमें अमीर ख़ुसरो के हिन्दवी काव्य में दृष्टिगोचर होता है। ख़ुसरो ने अपार साहित्य रचा। उनकी प्रत्युत्पन्न मति पाठकों को आश्चर्यचकित करती है। वे आशुकवि थे। अपनी चौथी रचना 'बकिया-नकिया' की भूमिका में अपनी रचनात्मक तीव्रता के लिए ख़ुसरो कहते हैं – "मैं काव्य-पंक्ति इतनी देर में कहता हूँ जितनी देर में शब्द कविता की ज़बान से पूरा किया जाय।" धनवानों की महफिलों के लिए वे कहते हैं कि वहाँ मैं अधिकतर कलम का प्रयोग त्याग देता हूँ तथा अविलम्ब तैयार काव्य-पंक्तियों पर सन्तोष करता हूँ।

अमीर ख़ुसरो का मूल नाम 'अबुल हसन यमीनुद्दीन' था। ख़ुसरो इनका उपनाम था। 'अमीर' की उपाधि इन्हें जलालुद्दीन खिलजी द्वारा इनकी कविता से प्रभावित होकर दी गई। तब से ये अमीर ख़ुसरो के नाम से प्रसिद्ध हुए। ईरानियों ने उन्हें 'तूती-ए-हिन्द' भी कहा है।

ख़ुसरो की महत्ता उनके फ़ारसी काव्य के लिए है परन्तु उनकी लोकप्रियता का कारण उनकी हिन्दवी की रचनाएँ ही है। शुरुआती हिन्दी में काव्य-रचना करने वालों में अमीर ख़ुसरो का नाम सर्वप्रमुख है। फ़ारसी-अरबी के साथ-साथ अमीर ख़ुसरो को अपने हिन्दवी ज्ञान पर गर्व था। उन्होंने स्वयं कहा है– "मैं हिन्दुस्तान की तूती हूँ। अगर तुम वास्तव में मुझसे जानना चाहते हो तो हिन्दवी में पूछो! मैं तुम्हें अनुपम बातें बता सकूँगा।" ख़ुसरो हिन्दी खड़ी बोली के पहले लोकप्रिय कवि थे, जिन्होंने कई ग़ज़ल, ख़याल, क़व्वाली, रुबाई और तराना आदि की रचनाएँ की थीं। इसका साक्ष्य स्वयं उनके इस कथन में प्राप्त होता है – "जुजवे चन्द नज़्में हिन्दी नज़रे दोस्तां करदाँ अस्त।"

अमीर ख़ुसरो ने प्रत्येक वर्ग को ध्यान में रखकर काव्य-सृजन किया क्योंकि राजदरबार की भाषा फ़ारसी थी जिसे सामान्य लोग नहीं समझ सकते थे। अमीर ख़ुसरो ने राजदरबार के साथ-साथ आम लोगों के दुःख-दर्द को भी अपने लेखन का विषय बनाया। उन्होंने पहले फ़ारसी में तथा बाद में हिन्दी में गज़लें लिखीं। ख़ुसरो ने वैदिककाल से चली आ रही पहेलियों की परम्परा को अधिक सुदृढ़ किया तथा उन्हें लोक से जोड़कर प्रस्तुत किया। उन्होंने लोक में प्रचलित सामान्य विषयों को अपनी पहेलियों का आधार बनाया।

ख़ुसरो की मातृभाषा खड़ीबोली थी। वे अवधी के माधुर्य से भी बख़ूबी परिचित थे। इसी से उनकी भाषा में प्रांजलता तथा लालित्य प्रवाहित होता है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नुह सिपहर' के तीसरे सर्ग के पाँचवें अध्याय में उन्होंने तत्कालीन भारत में प्रचलित भाषाओं की सूची दी है। उसमें हिन्दी की इन दोनों बोलियों का उल्लेख किया है। ख़ुसरो ने अपने समय में प्रयुक्त खड़ीबोली को 'दिल्ली की बोली' कहा है तथा अवधी को 'अवद' अर्थात्

'अवध' की बोली कहा है। अपने काव्य में ख़ुसरो ने उपर्युक्त दोनों भाषाओं का प्रमुखता से उपयोग किया है। साथ ही ब्रजभाषा का पुट भी कहीं-कहीं देखने को मिलता है। वस्तुतः ख़ुसरो के समय ये बोलियाँ पूर्णतः अलग नहीं थीं प्रत्युत एक-दूसरे में समाहित थीं। मिश्रित होने के बावजूद ख़ुसरो की पहेलियों, दो सुखने तथा मुकरियों की भाषा खड़ीबोली ही कही जाएगी। ख़ालिक़ बारी में हिन्दी के जो रूप दिखाई देते हैं वे अंशतः खड़ीबोली के ही हैं। जैसे कहिये, तू जान, रहिया (रहा का पुराना रूप) बैठ री, तथा रात जो गई आदि। ख़ुसरो के गीतों, क़व्वालियों और दोहों की भाषा का आधार अवधी या पूर्वी हिन्दी है। उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

खड़ीबोली –

एक थाल मोती से भरा।
सबके सिर पर औंधा धरा॥
चारों ओर वह थाली फिरे।
मोती उससे एक न गिरे॥

– आसमान

पूर्वी अवधी –

छाप-तिलक तज दीन्ही रे, तो से नैना मिला के।
प्रेम बटी का मदवा पिला के
मतवारी कर दीन्ही रे, मो से नैना मिला के।
'ख़ुसरो' निज़ाम पै बलि-बलि जइए,
मोहे सुहागन कीन्ही रे, मो से नैना मिला के।

छन्द, अलंकार, गुण, रस आदि की व्याप्ति होने पर भी ख़ुसरो के काव्य में काव्यशास्त्रीय दोष देखे जा सकते हैं तथापि भाषाओं के सम्यक् प्रयोग के प्रति वे पर्याप्त जागरूक थे। इसी से उन्हें आधुनिक भारतीय भाषाओं के प्रथम प्रयोगकर्त्ता के रूप में जाना जाता है। अपने ग्रन्थ 'नुर सिपहर' में वे कहते हैं –

सिंदी ओ लाहौरी ओ काश्मीरी ओ कबर
घोर (धूर) समन्दरी ओ तिलंगी ओ गुजर
मअबरी ओ गौरी ओ बंगाल ओ अवद
दिहली ओ पैरामनश अन्दर हमद हद
ईन हमह हिन्दमवीस्त कि जि अय्याम-ए-कुहन
आम्मह बकार अस्त ब हर गूनह सुखन।

अर्थात् सिंदी, लाहौरी, कश्मीरी, कबर, घोर (धूर) समन्दरी, तिलंगी, गुजर, मअबरी, गौरी, बंगाल, अवद, दिहली और उसके इर्द-गिर्द की ये सभी भाषाएँ हिन्दवी हैं और पुराने ज़माने से हर तरह की अभिव्यक्ति के लिए जन-साधारण के काम आती रही हैं। ख़ुसरो के साहित्य में भारतीय परम्परा के हिन्दी छन्दों में दोहा, चौपाई आदि

का तथा फ़ारसी परम्परा की बहरों का भी प्रयोग किया है, यद्यपि कई प्रसंगों में ये नियम-विरुद्ध प्रयुक्त हुए हैं। आवश्यकतानुसार बहरों में परिवर्तन कर लिया गया है। विद्वानों का मानना है कि ख़ुसरो के छन्दों में अश्लीलत्व दोष की बहुतायत है। कहीं-कहीं पुनरावृत्ति दोष तथा अप्रयुक्त दोष भी मिलते हैं। कहना कठिन है कि ये दोष ख़ुसरो द्वारा किये गए हैं या बाद में अन्य लोगों द्वारा छन्दों में परिवर्तन-परिवर्धन करके किये गए हैं। शृंगार के छन्दों में आगत अश्लीलत्व दोष के कुछ उदाहरण देखिए –

कसके छाती पकड़े रहे।
मुँह से बोले न बात कहे।
ऐसा है कामिनि का रंगियाँ।
ऐ सखि साजन ना सखि अंगिया॥

* * *

पड़ी थी मैं अचानक चढ़ि आयो।
जब उतर्‌यो तो पसीनो आयो॥
सहम गई नहिं सकि पुकार।
ऐ सखि साजन ना सखि बुखार॥

काव्यत्व की उच्चतम कसौटी पर खरे उतरने वाले अमीर ख़ुसरो प्रत्युत्पन्नमति कवि थे। उनकी यह प्रतिभा उनके द्वारा रचित छन्दों में अभिव्यक्ति के स्तर पर प्रायः अपने पूरे वैभव के साथ शिखर पर विराजमान है। ख़ुसरो में काव्यगत प्रतिभा जन्मजात थी। इसकी अभिव्यक्ति अनेक प्रकार के प्रयुक्त अलंकारों से प्रकाशित होती है। अनुप्रास, श्लेष, यमक, रूपक, विभावना आदि अलंकार ख़ुसरो के यहाँ प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

अनुप्रास –

एक नार वह दाँ दँतीली।
पतली दुबली छैल छबीली॥

श्लेष –

(क) सभंग पद

श्याम बरन औ दाँत अनेक।
लचकत जैसे नारी॥
दोनों हाथ से ख़ुसरो खींचे।
और कहे तू आरी॥

(ख) अभंग पद

गोल मटोल औ छोटा-छोटा।
हरदम वह तो जमीं पर लोटा॥

यमक –

है वह प्यारी सुन्दर नार।
नार नहीं है पर है वह नार॥

रूपक (सांगरूपक) –

आगे-आगे बहिना आई, पीछे-पीछे-भइआ।
दाँत निकाले बाब आए, बुरका ओढ़े मइया॥

विभावना –

एक कहानी मैं कहूँ तू सुन ले मेरे पूत।
बिना परों वह उड़ गया, बाँध गले में सूत॥

ख़ुसरो की रचनाओं को शुद्ध रस के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। उनकी रचनाओं को प्रदर्शनप्रियता, उक्ति-वैचित्र्य तथा मनोरंजन के मूल में समझना चाहिए। उनकी पंक्तियों में अद्‌भुत एवं शृंगार रस का प्राचुर्य है। कुछ अन्य रसों को स्पर्श करने वाले छन्द भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं। सोदाहरण अग्रांकित हैं–

अद्‌भुत –

बीसों का सिर काट लिया।
ना मारा ना खून किया॥

* * *

जब काटो तब ही बढ़े।
बिन काटे कुम्ह लाय॥

शृंगार –

सगरी रैन छतिअन पर राखा।
रंग रूप सब वाका चाखा।
भोर भई जब दिया उतार।

ऐ सखी साजन ना सखी हार।

हास्य –

जब मोरे मन्दिर आवे।
सोते मुझको आन जगावे।
पढ़त-फिरत वह बिरह के अच्छर।
ऐ सखी साजन ना सखी मच्छर।

करुण –

चकवा चकवी दो जने, उनको मार न कोउ।
वो मारे करतार के, रैन बिछोही होउ।

4.1.04 ख़ुसरो की रचनाएँ

अपनी मातृभूमि और हिन्दी से ख़ुसरो को अथाह प्रेम था। हिन्दी के साथ ही वे अन्य कई भाषाओं के अच्छे जानकार थे। फ़ारसी, अरबी, तुर्की और यदा-कदा संस्कृत में भी उनकी गति थी। यद्यपि उनके जन्मस्थान के सम्बन्ध में आलोचकों में मतैक्य नहीं है तथापि अधिकांश विद्वानों ने उन्हें 'एटा' उत्तरप्रदेश का निवासी स्वीकार किया है। ब्रजक्षेत्र में निवास करने के कारण ख़ुसरो की भाषा पर ब्रजभाषा का प्रभाव देखा जा सकता है। अमीर ख़ुसरो को कविताओं के सन्दर्भ मे औहदी साहब ने 'तज़किरे अरफ़ात' में लिखा है कि "ख़ुसरो ने जितना फ़ारसी में लिखा, उतना ही ब्रजभाषा में।" ख़ुसरो ने अपार साहित्य रचा। कुछ विद्वानों के कथनानुसार ख़ुसरो ने फ़ारसी भाषा में तीन लाख से ऊपर और चार लाख से कम कविताओं का सृजन किया है। ख़ुसरो ने स्वयं अपनी रचानाओं की संख्या के बारे में कहा है कि मेरे छन्दों की संख्या चार लाख से पाँच लाख के मध्य (बीच) है। विभिन्न अनुसन्धानों और शोध के उपरान्त ख़ुसरो की निम्नलिखित हिन्दवी रचनाओं को सर्वसम्मति से प्रामाणिक माना गया है – पहेलियाँ : अन्तर्लापिका एवं बहिर्लापिका, मुकरियाँ, निस्बतें, दो सुखने : हिन्दी-फ़ारसी एवं हिन्दी, ढकोसले, गीत, क़व्वाली, फ़ारसी-हिन्दी मिश्रित छन्द, सूफ़ी दोहे, ग़ज़ल, फुटकल छन्द और ख़ालिक़ बारी।

4.1.05 ख़ुसरो की प्रमुख पहेलियाँ

जन सामान्य की थाती मानी जाने वाली पहेलियों का इतिहास भारत में प्राचीनकाल से है। वैदिक वाङ्मय (ऋग्वेद) में कहीं-कहीं पहेलियों के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणों, उपनिषदों, संस्कृत ललित काव्य में भी यदा-कदा पहेलियों का प्रयोग मिलता है। इस तरह प्राचीन ग्रन्थों से प्रवाहित होती हुई पहेलियों की यह साहित्यिक धारा ख़ुसरो की सृजनात्मकता में समाहित होती है। वस्तुतः साहित्यिक पहेलियाँ लौकिक पहेलियों का ही अनुकरण है। ख़ुसरो के पहेलियों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहला वर्ग वह है जिनका उत्तर परोक्ष या अपरोक्ष रूप से पहेलियों में है जबकि दूसरा वर्ग उन पहेलियों का है जिनका उत्तर पहेलियों में नहीं रहता है। पहले

वर्ग को अन्तर्लापिका (अर्थात् जिसका उत्तर पहेली में ही निहित हो) या बूझ पहेलियाँ (जिनके भीतर ही जिन्हें बूझ लिया गया हो) कहा जाता है। इसी प्रकार दूसरे वर्ग की पहेलियों का उत्तर पहेली से बाहर होता है।

पहले वर्ग की पहेली का उदाहरण देखिए –

एक नार जब बन कर आवे।
मालिक अपने ऊपर बुलावे॥
है वह नारी सबके गौ की।
ख़ुसरो नाम लिए तो चौकी॥

यहाँ अन्तिम चरण में ही उत्तर छिपा है।

दूसरे वर्ग का उदाहरण है –

एक नार कुँए में रहे।
वाका नीर खेत में बहे॥
जो कोई वाके नीर को चाखे।
फिर जीवन की आस न राखे॥

इस प्रकार की पहेलियों का उत्तर पहेली से बाहर होता है।

4.1.05.1 अन्तर्लापिका पहेलियाँ

श्याम बरन और दाँत अनेक।
लचकत जैसे नारी॥
दोनों हाथ से ख़ुसरो खींचे।
और कहे तू आरी॥

– आरी

* * *

टूटी टूट के धूप में पड़ी।
जों-जों सूखी हुई बड़ी॥

– बड़ी

* * *

फ़ारसी बोली आई ना।
तुर्की ढूँढ़ी पाई ना॥

हिन्दी बोली आरसी आए।
ख़ुसरो कहे कोई न बताए॥

– आरसी

* * *

पौन चलत वह देह बढ़ावै।
जल पीवत वह जीव गँवावै॥
है वह प्यारी सुन्दर नार।
नार नहीं पर है वह नार॥

– नार (आग)

* * *

एक नार करतार बनायी।
ना वह क्वारी ना वह ब्याही॥
सूहा रंगहि वाको रहै
भाबी भाबी हर कोई कहै॥

– भाबी (बीर बहूटी)

* * *

घूम-घूमेला लहँगा पहिने एक पाँव से रहे खड़ी।
आठ हाथ हैं उस नारी के सूरत उसकी लगे परी॥
सब कोई उसकी चाह करे हैं मुसलमान हिन्दु छत्री।
ख़ुसरो ने यह कही पहेली दिन में अपने सोच ज़री॥

– छतरी (छत्री)

* * *

सावन भादों बहुत चलत है, माघ पूस में थोरी
अमीर ख़ुसरो यों कहे तू बूझ पहेली मोरी

– मोरी (नाली)

* * *

गोल-मटोल और छोटा-मोटा।
हर दम वह तो ज़मी पर लोटा॥
ख़ुसरो कहे नहीं है झूठा।

जो न बूझे अकिल का खोटा ॥

– लोटा

* * *

एक तरुवर का फल है तर
पहले नारी पीछे नर
वा फल की यह देखो चाल
बाहर खाल उनौ भीतर बाल

– भुट्टा

* * *

पान फूल वाके सर माँ हैं।
लड़े-कटें जब नद पर आहैं ॥
चिट्टे काले वाके बाल।
बूझ पहेली मेरे लाल॥

– लाल चिड़िया

4.1.05.2 बहिर्लापिका पहेलियाँ

एक नार पानी पर तरे।
उसका पुरुख लटका मरे॥
ज्यों-ज्यों खंदी गोता खाय।
त्यों-त्यों भडुआ मारा जाय ॥

– घंटी और घंटा

* * *

गोल गात औ सुन्दर मूरत।
काल मुँह तिस पर खुबसूरत ॥
उसको जो हो महरम बूझे।
सीना देख पिरोना सूझे॥

– छाती

* * *

डाला था सब को मन भाया।
टाँग उठाकर खेल बनाया ॥

कमर पकड़ के दिया ढकेल।
जब होवे वह पूरा खेल॥

– झूला

* * *

क्या करूँ बिन पाँव के,
तुझे ले गया बिन सिर का।
क्या करूँ लम्बी दुम के,
तुझे खा गया बिना चोंच का लड़का॥

– जाल

* * *

पानी में निस दिन रहे, जाके हाड़ न मास
काम करे तलवार का, फिर पानी में बास

– कुम्हार का डोरा

* * *

एक है पत्ता वाके ऊपर, माथ छुवे कुम्हलावे॥
सुन्दर वाकी छाँव है औ सुन्दर वाको रूप।
खुला रहे औ नहीं कुम्हलावे जों जों लागे धूप॥

– छाता

* * *

एक नार नौरंगी चंगी।
वह भी नार कहावे।
भाँति-भाँति के कपड़े पहिने।
लोगों को तरसावें॥

– बदली

* * *

भाँति-भाँति की देखी नारी,
नीर भरी है गोरी काली
ऊपर बसे और जग धावे,
रच्छा करे जब नीर बहावे॥

– बदली

* * *

है वह नारी सुन्दर नार
नार नहीं पर वह है नार
दूर से सब को छवि दिखलावे
हाथ किसी के कभी न आवे ॥

– बिजली (आसमान की)

* * *

एक थाल मोती से भरा।
सबके सिर पर औंधा धरा ॥
चारो ओर वह थाली फिरे।
मोती उससे एक न गिरे ॥

– आसमान

* * *

उज्जल अति वह मोती बरनी।
पाए कंत, दिए मोहि धरनी ॥
जहाँ धरी थी वहाँ न पाई।
हाट-बज़ार सभी ढूँढ़ि आई ॥
सुनो सखी अब कीजै क्या।
पी माँगे तो दीजै क्या ॥

– ओला

* * *

स्याम बरन की है एक नारी।
माथे ऊपर लागै प्यारी ॥
जो मानुस इस अरथ को खोले।
कुत्ते की वह बोली बोले ॥

– भौंह

* * *

एक बुढ़िया शैतान की ख़ाला।

सिर सफ़ेद औ मुँह है काला ॥
लौंडे घेरे हैं, वह नार।
लड़के रखे हैं उससे प्यार॥
उछले कूदे, नाचे वो।
आग लगे उस बुढ़िभस को॥

– आक की बुढ़िया

* * *

एक नार पिया को भानी।
तन वाको सगरा ज्यों पानी।
आब रखे पर पानी नाँह।
पिया को राखे हिरदय माँह।
जब पी को वह मुख दिखलावे।
आपहि सगरी पी हो जावे॥

– आईना

* * *

जा घर लाल बलैया जाय
ताके घर में दुंद मचाय
लाखन मन पानी पी जाय
धरा-ठका सब धार का खाय

– आग

4.1.06 ख़ुसरो-कृत दो सुखने

'सुखने' फ़ारसी भाषा का शब्द है जिसका हिन्दी अर्थ है, 'उक्ति' या 'कथन'। 'दो सुखने' दो चरणों में कहा जाता है जिसका उत्तर एक ही होता है।

ख़ुसरो से पहले कहीं भी 'दो सुखने' का इतिहास नहीं मिलता है। यानी 'दो सुखने' का सूत्रपातकर्त्ता ख़ुसरो को माना जा सकता है। अमीर ख़ुसरो ने दो सुखने को दो भाषाओं में लिखा है, 'फ़ारसी' और 'हिन्दी'। ख़ुसरो के 'दो सुखने' में कहीं दोनों चरण हिन्दी में कहे गए हैं तो कहीं पहला चरण फ़ारसी का है जबकि दूसरा चरण हिन्दी का है। भाषाई स्तर पर उक्त दो भेद करने के बाद अर्थ के स्तर पर भी ख़ुसरो के दो सखुने के दो अन्य वर्गीकरण किये जाते हैं।

पहला भेद वह है जहाँ 'दो सुखने' में उत्तर का काम करने वाले एक शब्द के बिना उच्चारण भेद के फ़ारसी और हिन्दी में दो अर्थ होते हैं, और इस प्रकार वह दोनों प्रश्नों का उत्तर हो जाता है। उदाहरणार्थ –

कूवते रूह चीस्तज
प्यारी को कब देखिए ?

– सदा

इसमें प्रथम चरण जो फ़ारसी में है, का अर्थ है, "प्राण या आत्मा का बल क्या है ?" इस सन्दर्भ में 'सदा' को फ़ारसी शब्द मानना होगा और इसका अर्थ होगा 'आवाज' या 'शब्द'। दूसरे चरण के प्रसंग में, जो हिन्दी में है, 'सदा' को हिन्दी शब्द मानना होगा और इसका अर्थ होगा 'सर्वदा' या 'हरदम'। यहाँ हम देखते हैं कि भिन्न अर्थ व्यंजित करने वाले 'सदा' शब्द का उच्चारण एक ही रहता है।

अर्थ के स्तर पर दो सखुने का दूसरा भेद वह है जहाँ उत्तर का काम करने वाले शब्द के दो उच्चारण हो जाते हैं। उदाहरण देखिए –

सौदागर बच्चा रा चे मी बायद
बूचे को क्या चाहिए ?

– दो कान

उपर्युक्त दो सखुने में प्रथम चरण का अर्थ है, "सौदागर के बच्चे को क्या करना चाहिए ?" जिसका उत्तर दूकान पढ़ना होगा परन्तु दूसरे सन्दर्भ में इसको 'दो कान' (दो कान) पढ़ना होगा अर्थात् 'दू' का उच्चारण 'दो' हो जाएगा तथा बीच में संगम या विवृति आ जाएगी।

4.1.06.1 कुछ प्रमुख दो सुखने

पण्डित क्यों न नहाया ?
धोबिन क्यों मारी गई ?

– धोती न थी

*   *   *

घर क्यों अँधियारा ?
फ़कीर क्यों बिगड़ा

– दिया न था

*   *   *

दीवार क्यों टूटी ?
राह क्यों लूटी ?

– राज न था

* * *

खाना क्यों न खाया ?
जामा क्यों न धुलवाया ?

– मेल न था

* * *

जोगी क्यों भागा ?
ढोलकी क्यों न बाजी ?

– मढ़ी न थी

* * *

राजा प्यासा क्यों ?
गदहा उदासा क्यों ?

– लोटा न था

* * *

रोटी जली क्यों ?
घोड़ा अड़ा क्यों ?
पान सड़ा क्यों ?

– फेरा न था।

* * *

अनार क्यों न चखा ?
वज़ीर क्यों न रखा ?

– दाना न था।

* * *

गोश्त क्यों न खाया ?
डोम क्यों न गाया ?

– गला न था

* * *

गढ़ी क्यों छिनी ?
रोटी क्यों माँगी ?

– खाई न थी

* * *

सितार क्यों न बजा ?
औरत क्यों न नहाई ?

– परदा न था

* * *

क्यारी क्यों न बनाई ?
डोमनी क्यों न गाई ?

– बेल न थी

4.1.06.2 फ़ारसी और हिन्दी में रचित दो सुखने

दर जहन्नुम चीस्त ? (जहन्नुम में क्या है ?)
कामी को क्या चाहिए ?

– नार (आग,स्त्री)

* * *

कोह चे मी दारद ? (पहाड़ क्या रखता है ?)
मुसाफ़िर को क्या चाहिए ?

– संग (पत्थर, साथ)

* * *

रा चे मी बायद ? (प्यासे को क्या चाहिए ?)
मिलाप को क्या चाहिए ?

– चाह (कुआँ, इच्छा या प्रेम)

* * *

कूवते रुह चीस्त ? (रूह या आत्मा का बल क्या है ?)
प्यारी को कब देखिए ?

– सदा (आवाज, सदैव)

* * *

शिकारी रा चे मी वायद ? (शिकारी को क्या चाहिए ?)
मुसाफ़िर को क्या चाहिए ?

– दाम (जाल, पैसा)

* * *

दर आईन : चे मी बीनंद ? (शीशे में क्या दीखता है ?)
दुखिया को क्या न कहिए ?

– रू, रो (चेहरा, रोना)

* * *

सौदागर बच्च राचे मी बायद ? (सौदागर के बच्चे को क्या चाहिए ?)
बूचे को क्या चाहिए ?

– दूकान, दोकान (दो कान)

* * *

दुआ चे तौर मुस्त, जाब शबद ? (प्रार्थना किस तरह स्वीकार होती है ?)
लश्कर में कौन बैठे ?

– बाजारी (नम्रता से, बाजार वाला)

(फ़ारसी चरणों के अर्थ कोष्ठक में लिखे गए हैं ।)

4.1.07 अमीर ख़ुसरो की प्रमुख ग़ज़लें

'ग़ज़ल' मूलतः अरबी का शब्द है जिसका अर्थ है, 'स्त्रियों से बात करना' । ग़ज़ल में प्रेम और शृंगार की प्रधानता होती है । ग़ज़ल के क्षेत्र में 13वीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध ईरानी साहित्यकार शेख़ सादी शीराज़ी (शेख मुसलिदुद्दीन सादी) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ग़ज़ल की शुरुआत फ़ारसी से ही होती है । अमीर ख़ुसरो इसी परम्परा के महत्त्वपूर्ण ग़ज़लकार हैं । ख़ुसरो की ग़ज़लों से प्रभावित होकर दिल्ली सल्तनत के खिलजी वंश के शासक जलालुद्दीन फ़िरोज ख़िलजी ने अपने दरबार में ख़ुसरो को अमीर उपाधि से नवाजा था । तब से ख़ुसरो 'अमीर ख़ुसरो' के नाम से जाने गए । ख़ुसरो ने ग़ज़ल में नूतन प्रयोग किये हैं । उनकी एक प्रसिद्ध हिन्दी ग़ज़ल पढ़िए –

जब यार देखा नैन भर दिल की गई चिन्ता उतर,
ऐसा नहीं कोई अजब, राखे उसे समझाय कर ।
जब आँख से ओझल भया, तड़पन लगा मेरा जिया,

हक्का इलाही क्या किया आँसू चले भर लाय कर।
तूँ तो हमारा यार है, तुझ पर हमारा प्यार है,
तुझ दोस्ती विसियार है, एक शब मिलो तुम आय कर।
जाना तलब मेरी करूँ, दीगर तलब किसकी करूँ,
तेरी जो चिन्ता दिल करूँ, एक दिन मिलो तुम आय कर।
मेरो जो मन तुमने लिया, तुम उठा गम को दिया
तुमने मुझे ऐसा किया, जैसा पतंगा आग पर।
'ख़ुसरो' कहे बातें गज़ब, दिल में न लावे कुछ अजब,
कुदरत ख़ुदा की है अजब, जब जीव दिया गुल लाय कर।

4.1.08 अमीर ख़ुसरो के प्रमुख गीत

अमीर ख़ुसरो की सृजनात्मकता के विविध आयाम हैं। काव्य की प्रायः प्रत्येक विधा में उन्हें महारथ हासिल है। वे जितने कौशल से दोहे, मुकरियाँ कहते हैं उतना ही गाम्भीर्य उनके गीतों में विद्यमान है। ख़ुसरो रचित अनेक गीतों में से आज कुछ ही उपलब्ध हैं। ख़ुसरो के गीत लोकगीतों से प्रेरित हैं। इन पर सूफ़ी-प्रभाव भी देखा जा सकता है। भाषा की नजाकत और नफासत के हिमायती ख़ुसरो अच्छे संगीतज्ञ भी थे। उदाहरणार्थ कुछ प्रमुख गीत द्रष्टव्य हैं –

काहे को ब्याही विदेश रे,
लखि बाबुल मोरे।
हम तो बाबुल तोरे बागों की कोयल
कुहुकत घर-घर जाऊँ, लखि बाबुल मोरे।
हम तो बाबुल तोरे खेतों की चिड़िया,
चुग्गा चुगत उड़ि जाऊँ, लखि बाबुल मोरे।
हम तो बाबुल तोरे बेले की कलियाँ
जो माँगे चली जाऊँ, लखि बाबुल मोरे।
हम तो बाबुल तोरे खूँटे की गइया
जित हाँको हँक जाऊँ, लखि बाबुल मोरे।
लाख की बाबुल गुड़िया जो छाँड़ी
छोड़ि सहेलिन का साथ, लखि बाबुल मोरे।
महल तले से डोलिया जो निकली,
भाई ने खाई पछाड़, लखि बाबुल मोरे।
आम तले से डोलिया जो निकली,
कोयल ने की है पुकार, लखि बाबुल मोरे।
तू क्यों रोवे है, हमरी कोइलिया,
हम तो चले परदेस, लखि बाबुल मोरे।
नंगे पाँव बाबुल भागत आवै,

साजन डोला लिए जाय, लखि बाबुल मोरे।

* * *

मोरा जोबना नवेलस भयो है गुलाल
कैसे घर दीनी बकस मोरी माल
निजामुद्दीन औलिया को कोई समझाय
जो जों मनाऊँ वह तो रूसो ही जाय॥
मोरा जोबना ...।
चूड़ियाँ फोड़ूँ पलंग पर डारुँ
इस चोली को दूँगी मैं आग लगाय
सूनी सेज डरावन लागै, विरहा अगिन मोहें डस-डस जाय॥
मोरा जोबना ...।

* * *

बहुत रही बाबुल घर दुलहिन, चल, तेरे पी ने बुलाई।
बहुत खेल खेली सखियन सों, अन्त करी लरिकाई॥
न्हाय धोय के बस्तर पहिरे, सब ही सिंगार बनाई।
बिदा करन को कुटुँब सब आए, सिगरे लोग-लुगाई॥
चार कहारन डोली उठाई, संग पुरोहित नाई।
चले ही बनेगी होत कहा है, नैनन नीर बहाई॥
अन्त विदा है चलिहै दुलहिन, काहू की कछु न बसाई।
मौज-खुशी सब देखत रह गए, माता-पिता औ भाई॥
मोरि कौन संग लगन धराई, धन-धन तेरि है खुदाई।
बिन माँगे मेरी मँगनी जो दीन्ही, पर घर की जो ठहराई॥
अंगुरी पकरि मोरा पहुँचा भी पकरे, कँगना अँगुठी पहिराई।
नौशा के संग मोहि कर दीन्हीं, लाज-संकोच मिटाई॥
सोना भी दीन्हा, रूपा भी दीन्हा, बाबुलदिल दरियाई।
गहेल गहेला डोलति आँगन में, पकरि अचानक बैठाई॥
बैठत महीन कपरे पहनाये, केसर तिलक लगाई।
'ख़ुसरो' चली ससुरारी सजनी संग नहीं कोई जाई॥

* * *

दइआ री मोहे भिजोया री
शाह निज़ाम के रंग में
कपड़े रँगन ते कुछ ना होत है

या रंग मे मैंने तन को डुबोया री
दइआ री मोहे भिजोया री ॥
वाही के रंग से सुन बे शोख रंग
खूब ही मल-मल के धोया री
पीर निज़ाम के रंग में भिजोया री ॥

* * *

अम्मा मेरे बाबा को भेजो जी
कि सावन आया
बेटी तेरा बाबा तो बूढ़ा री
कि सावन आया
अम्मा मेरे भाई को भेजो जी
कि सावन आया
बेटी तेरा भाई तो बोला री
कि सावन आया
अम्मा मेरे मामू को भेजो जी
कि सावन आया
बेटी तेरा मामू तो बाकां री
कि सावन आया

* * *

औलिया तेरे दामन लागी।
पढ़ियो मेरे ललना।
औलिया तेरे दामन लागी।
ख़ाजा हसन को मैं मुजरे मिली
ख़ाजा कुतुबुद्दीन।
औलिया तेरे दामन लागी।

4.1.09 पाठ-सार

अमीर ख़ुसरो को हिन्दी खड़ीबोली का प्रथम सशक्त रचनाकार होने का गौरव प्राप्त है। उन्होंने काव्य की विभिन्न विधाओं में उत्कृष्ट रचनाएँ कीं। उनकी काव्य-रचनाएँ शिक्षितजन और साधारणजन में समान रूप से लोकप्रिय हैं। आज सात शताब्दी से भी अधिक समय गुजरने के बाद भी ख़ुसरो के पहेलियाँ, मुकरियाँ, दो सुखने, ग़ज़ल, शेर, गीत आदि श्रोताओं और पाठकों के चित्त में रसानुभूति का संचार करने में पूर्ववत् सक्षम हैं जो ख़ुसरो की शाश्वत लोकप्रियता और प्रसिद्धि का प्रमाण है। अमीर ख़ुसरो की कृतियाँ खड़ीबोली हिन्दी के काव्य का आधार हैं। हिन्दवी को साहित्यिक मंच पर स्थापित करने में अमीर ख़ुसरो का अवदान अविस्मरणीय है।

4.1.10 बोध प्रश्न

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अमीर ख़ुसरो के बचपन का नाम बताइए।
2. ख़ुसरो को अमीर की उपाधि से किसने नवाज़ा ?
3. निम्नलिखित दो सुखने को पूरा कीजिए –

   "दीवार क्यों ... ?
   राह क्यों ... ?
   – ... न था।"
4. ग़ज़ल किस भाषा का शब्द है ?
5. ख़ुसरो की किन्हीं तीन रचनाओं का उल्लेख कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अमीर ख़ुसरो के हिन्दवी काव्य में से शृंगार रस के कोई दो उदाहरण प्रस्तुत कीजिए।
2. अमीर ख़ुसरो के हिन्दवी काव्य में से श्लेष और यमक अलंकार के एक-एक उदाहरण प्रस्तुत कीजिए।
3. अश्लीलत्व दोष को व्याख्यायित करते हुए ख़ुसरो के हिन्दवी काव्य में से कोई दो उदाहरण लिखिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. ख़ुसरो की रचनाधर्मिता को व्याख्यायित कीजिए।
2. ख़ुसरो रचित किसी एक गीत की भाव-व्यंजना पर प्रकाश डालिए।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : अमीर ख़ुसरो का हिन्दवी काव्य

इकाई – 2 : ख़ुसरो के काव्य की प्रकृति एवं विशेषताएँ

इकाई की रूपरेखा

4.2.0 उद्देश्य कथन
4.2.1 प्रस्तावना
4.2.2 अमीर ख़ुसरो का हिन्दवी काव्य : एक परिचय
4.2.3 अमीर ख़ुसरो के काव्य की प्रकृति
4.2.3.1 सूफ़ी भावावधारणा की अन्तर्वर्तिता
4.2.3.2 दरबारी काव्यावधारणा की अन्तर्वर्तिता
4.2.3.3 लोकधर्मी भावावधारणा की अंतरंगता
4.2.3.3.1 लोकानुभव की अंतरंगता
4.2.3.3.2 आमजन की जीवनचर्या की अंतरंगता
4.2.4 अमीर ख़ुसरो के काव्य की विशेषताएँ
4.2.4.1 काव्य-वस्तुगत विशेषताएँ
4.2.4.1.1 आश्रयदाता का गुणानुवाद
4.2.4.1.2 दरबारीपन की श्रेष्ठ गुणवत्ता : सर्वप्रियता
4.2.4.1.3 सूफ़ी मतवाद
4.2.4.1.4 धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता
4.2.4.1.5 प्रेम-तत्त्व : लौकिक बनाम अलौकिक
4.2.4.1.6 प्रकृति-चित्रण
4.2.4.1.7 लोकजीवन के विभिन्न रंग : लोक-परम्पराएँ, त्योहार, सुख-दुःख के प्रसंग
4.2.4.2 काव्य-शैलीगत विशेषताएँ
4.2.4.2.1 सहजता और सरलता
4.2.4.2.2 श्लिष्टता
4.2.4.2.3 अनेकार्थकता
4.2.4.2.4 प्रतीकात्मकता
4.2.4.2.5 विधा-वैविध्य
4.2.4.3 काव्य-भाषागत विशेषताएँ
4.2.4.3.1 अभिजातवर्गीय अरबी एवं फ़ारसी भाषा
4.2.4.3.2 लोकप्रचलित जनपदीय भाषा
4.2.4.3.3 देशज भाषा-विधान
4.2.5 पाठ-सार
4.2.6 बोध प्रश्न

4.2.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ के अध्ययन के उपरान्त अध्येता यह जान सकेंगे कि –

i. हिन्दी के प्रथम कवि अमीर ख़ुसरो के काव्य की अन्तःप्रकृति क्या है और किस प्रकार के काव्य की रचना उन्होंने की है।
ii. ख़ुसरो ने हिन्दी में प्रमुखतः कौन-कौनसी काव्य-रचनाएँ लिखीं।
iii. अमीर ख़ुसरो के काव्य की प्रकृति और मनुष्य के बीच एकता और अंतरंगता का सन्देश क्या है ?
iv. अमीर ख़ुसरो के काव्य की विविधस्तरीय विशेषताएँ क्या हैं ?
v. हिन्दी-काव्य-परम्परा में उनका स्थान एवं योगदान क्या है ?

4.2.1 प्रस्तावना

अमीर ख़ुसरो अपनी काव्यवस्तु, काव्य-शैली, काव्य-भाषा, काव्याभिप्रेत, काव्योद्देश्य इत्यादि की दृष्टि से आज भी उतने ही लोकप्रिय हैं जितना अपने समय तथा अपने बाद के अब तक के समय में रहे हैं। लोकप्रिय के साथ-साथ वे पर्याप्त प्रासंगिक भी हैं। जीवन के विविध प्रसंगों और अवसरों, क्षेत्रों, सन्दर्भों में आज भी उनकी ज़रूरत पड़ती है तथा वे अपरिहार्य हैं। दरबार से अधिक लोक-संवेदना की दृष्टि से ख़ुसरो का महत्त्व है। लोकजीवन के जिन रूपों को ख़ुसरो ने अपने लिए चुना, वे आज भी कवियों के लिए एक रचनात्मक चुनौती की तरह हैं। लोक का इतना गहरा और सर्वव्यापक रूप हिन्दी में पहली बार ख़ुसरो में ही दिखा। ख़ुसरो का स्वभाव चाहे मसखराना, मनोरंजनात्मक, चमत्कारपूर्ण रहा हो पर मूलभूत लोक-परिदृश्य उनकी रचनाओं में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। दरबारी होते हुए भी लोकजीवन की इतनी गहरी पकड़ अत्यन्त विरल है। लोक उनके काव्य की आत्मा है। उनके काव्य की विषयवस्तु, उस विषयवस्तु के विविध आयाम, उनकी काव्य-शैली, काव्य-शैली के विविध पक्ष, उनकी काव्य-भाषा तथा उसके विविध प्ररूप; ये सब चीजें लोक-संवेदना में रची-बसी पाठक के सामने उपस्थित होती हैं। दरबारीपन उनकी जीविकोपार्जन की विवशता हो सकती है किन्तु उनका मन और अन्तरात्मा लोक में ही रमती दिखाई देती है। ख़ुसरो को सात-आठ दशकों के बाद आज भी हम जो याद करते हैं और महत्त्वपूर्ण मानते हैं और उनकी रचनाएँ आज भी जो विभिन्न स्तरों, रूपों और क्षेत्रों में प्रयोग और व्यवहार में लाई जाती हैं तो इसका कारण यही है कि सामान्य लोक वहाँ जीवन्त रूप में उपस्थित दिखाई देता है। ख़ुसरो को इसी रूप में समझना और ग्रहण करना समीचीन होगा।

4.2.2 अमीर ख़ुसरो का हिन्दवी काव्य : एक परिचय

अमीर ख़ुसरो हिन्दी खड़ीबोली के प्रथम कवि माने जाते हैं। अमीर ख़ुसरो को अपने भारतीय होने पर गर्व था इसलिए उन्हें अपनी मातृभाषा हिन्दवी से गहरा प्रेम था। अमीर ख़ुसरो के हिन्दवी काव्य के बारे में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका 'गुर्रतुल कमाल' की है। यह दीवान ख़ुसरो ने अपनी तैंतालीस वर्ष की उम्र में संकलित कर लिया था। इसकी भूमिका में स्वयं ख़ुसरो ने लिखा है–

तुर्क-ए-हिन्दुस्तानेम मन हिन्दवी गोयम चु आब।
शक्कर-ए-मिसरी न दारम कज़ अरब गोयन सुखन॥

(नारंग, गोपीचंद, अमीर ख़ुसरो का हिन्दवी काव्य, पृष्ठ-25)

अर्थात् मैं हिन्दुस्तान में जन्मा एक तुर्क हूँ। मैं हिन्दवी धाराप्रवाह बोल सकता हूँ। मेरे पास अरबी भाषा की मिठास नहीं है कि उसमें बातचीत करूँ।

अमीर ख़ुसरो का महत्त्व यह है कि उन्होंने हिन्दवी में काव्य-रचना उस समय की जब साहित्य में उसकी प्रतिष्ठा नहीं थी और कोई उसे पूछता नहीं था। ख़ुसरो ने जब हिन्दवी को अपनाया और उनकी रचनाओं का व्यापक प्रभाव पड़ा तो हिन्दवी को जीवन-दान मिला और साहित्य की भाषा के रूप में वह प्रतिष्ठित हुई। हिन्दवी के कारण अमीर ख़ुसरो जनमानस में लोकप्रिय हुए तथा अमीर ख़ुसरो की हृदयहारी रचनाओं के कारण हिन्दवी चलन में आ गई। भारत में अमीर ख़ुसरो की लोकप्रियता उनके जनसुलभ हिन्दी-काव्य के कारण ही रही है। अमीर ख़ुसरो की हिन्दवी में लिखी तीन पुस्तकें बताई जाती हैं, जो इस प्रकार हैं – ख़ालिक़ बारी, हालत-ए-कन्हैया, नजराना-ए-हिन्दी।

उक्त तीनों पुस्तकों में केवल 'ख़ालिक़ बारी' ही उपलब्ध है। अमीर ख़ुसरो के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने कुल चार सौ छन्द लिखे हैं। यों तो कहा यह भी जाता है कि अमीर ख़ुसरो ने चार से पाँच लाख के बीच छन्दों की रचना की किन्तु वास्तविकता यह है कि लगभग चार सौ छन्द ही ख़ुसरो ने लिखे थे। जिन उक्त चार सौ छन्दों की बात कही गई है, वे अधिकांश इन पुस्तकों में संगृहीत हैं तथा कुछ अन्यत्र फुटकर भी हैं।

विद्वान् समीक्षकों ने अमीर ख़ुसरो की समस्त हिन्दी रचनाओं को निम्नलिखित तीन भागों में विभक्त किया है – साहित्यिक स्वरूप की रचनाएँ, लोकरुचि की रचनाएँ, ख़ालिक़ बारी कोश। (द्रष्टव्य : (पांचाल, परमानन्द; भारत की महान् विभूति अमीर ख़ुसरो – व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृष्ठ-45)

साहित्यिक स्वरूप की रचनाओं में दोहे, ग़ज़लें और स्फुट रचनाएँ हैं। लोकरुचि की रचनाओं में पहेलियाँ, मुकरियाँ, निस्बतें, दो सखुने, ढकोसले, गीत, क़व्वाली और नुस्खे आदि प्रसिद्ध हैं।

अमीर ख़ुसरो की हिन्दी रचनाओं में 'ख़ालिक़ बारी' सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। यह एक प्रकार का पद्य रूप में हिन्दी-फ़ारसी शब्दों का पर्यायवाची कोश है जिसे अमीर ख़ुसरो ने तत्कालीन भारतीयों और विदेशी मुसलमानों के मध्य आपसी विचार-विनिमय में सहायता प्राप्त करने हेतु लिखा था। (वही, पृष्ठ-05) यह कोश बहुत अधिक लोकप्रिय हुआ था। आज भी प्राचीन हिन्दी को समझने के लिए इसे अत्यधिक उपयोगी माना जाता है।

अमीर ख़ुसरो के गीत-काव्य को लोकगीत एवं जनगीत के मध्य रखा जा सकता है जिसकी भाषा ब्रज या मुख-प्रचलित काव्य-भाषा ही है। ये रचनाएँ जितनी ज्ञानवर्द्धक हैं, उतनी ही मनोरंजक भी हैं। इनमें मनोविनोद के लिए उक्तिवैचित्र्य का सहारा लिया गया है। उक्ति-वैचित्र्य दरबार और लोक दोनों को प्रिय होता है। अमीर ख़ुसरो

अपनी शैली के कारण सर्वप्रिय थे । उक्तिवैचित्र्य एक बहुआयामी शिल्प है । इसका उद्देश्य हास्य, विनोद एवं उल्लास का वातावरण बनाते हुए मानव-जीवन को सरस एवं सजीव बनाना होता है । अमीर ख़ुसरो इस उद्देश्य में पूर्ण सफल रहे हैं । यह परम्परा पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली है । अमीर ख़ुसरो एक किंवदन्ती जैसे बने हुए हैं ।

उक्त के अतिरिक्त अमीर ख़ुसरो की कुछ पाण्डुलिपियाँ भी पाई जाती हैं । इनका विवरण इस प्रकार है –

1. 'कुल्लियात' : यह अमीर ख़ुसरो की सबसे पुरानी पाण्डुलिपि है । यह ताशकंद के फारेन इंस्टिट्यूट में मौजूद है । इस पाण्डुलिपि में 'गुर्रतुलकमाल' का लगभग सम्पूर्ण पाठान्तर शामिल है ।
2. 'खमसा-ए-अमीर ख़ुसरो' : यह अमीर ख़ुसरो की दूसरी महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपि है जो तीन मसनवियों – 'शीरी-ख़ुसरो', 'आइना-ए-सिकन्दरी' और 'हश्त-बहिश्त' पर आधारित है । ये मसनवियाँ 1355 ई. में लिखी गयी थीं ।
3. 'कुल्लियाते अमीर ख़ुसरो' : यह पाण्डुलिपि 1462 ई. में तैयार की गई थी । यह इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी में उपलब्ध है ।
4. 'बाकिया-नाकिया' : यह पाण्डुलिपि अस्ताना-ए-कुत्स की लाइब्रेरी में, जो मशहद (ईरान) में है, सुरक्षित रखी है । यह 15वीं शताब्दी की युग-सन्धि में लिखी गई थी ।
5. 'हश्त-बहिश्त' : यह पाण्डुलिपि तुर्की के टॉप कॉपी संग्रहालय में रखी हुई है । यह पाण्डुलिपि इस दृष्टि से बेजोड़ है कि इसमें हिरत स्कूल के 23 अमूल्य चित्र हैं । कोई भी मसनवी इससे उत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत नहीं की गई है । 1496 में तैयार की गई पाण्डुलिपि सुल्तान अली मशहदी की कला के दुर्लभ नमूनों में से एक है ।
6. 'खमसा' : यह पाण्डुलिपि पश्चिम बर्लिन की स्टेट लाइब्रेरी में रखी हुई है । यह भी अत्यन्त मूल्यवान् है । इसे स्वयं सम्राट् शाहजहाँ ने तैयार किया था । इसमें हाशिए की टिप्पणियाँ काव्य के प्रति शाहजहाँ की परिष्कृत रुचि का आभास देती हैं ।
7. 'वस्ल-ए-हयात' : दीवान की एक पाण्डुलिपि भी मिली है जिसे सन् 1669 में मुहम्मद मुराद बिन शाहरूप बेग बल्खी ने स्वयं अपने लिए तैयार कराया था । यह पश्चिम बर्लिन की स्टेट लाइब्रेरी में उपलब्ध है ।

(उक्त पाण्डुलिपियाँ के विस्तृत विवरण के लिए देखिए, 'प्र. अमीर ख़ुसरो देहलवी राष्ट्रीय समारोह समिति, मुंबई के लिए डॉ॰ जोये अंसारी द्वारा तैयार अमीर ख़ुसरो सातवें शताब्दी समारोह की सचित्र स्मारिका', पृष्ठ – 23-28) ।

नेशनल म्यूजियम (राष्ट्रीय संग्रहालय) दिल्ली में भी अमीर ख़ुसरो की रचनाओं की कुछ पाण्डुलिपियाँ रखी हुई हैं । इनकी संख्या 10 है किन्तु इनमें दो पाण्डुलिपियाँ ही उल्लेखनीय हैं – 'खगसा' और 'आशिका' । इन पाण्डुलिपियों में कुछ चित्र अकबर-काल के हैं और कुछ ऐसे चित्र भी हैं जिनमें पूर्व-मुग़लकाल के चित्रों की विशेषताएँ हैं ।

4.2.3 अमीर ख़ुसरो के काव्य की प्रकृति

अमीर ख़ुसरो के काव्य की प्रकृति का अध्ययन हम निम्नलिखित बिन्दु-उपबिन्दुओं के रूप में कर सकते हैं – (i) सूफ़ी भावावधारणा की अन्तर्वर्तिता, (ii) दरबारी काव्यावधारणा की अन्तर्वर्तिता, (iii) लोकधर्मी भावावधारणा की अंतरंगता।

4.2.3.1 सूफ़ी भावावधारणा की अन्तर्वर्तिता

अमीर ख़ुसरो में एक गहरे अन्तरवर्ती भाव के रूप में सूफ़ी विचारावधारणा का प्राधान्य मिलता है। अमीर ख़ुसरो शेख़ निजामुद्दीन औलिया के शिष्य थे। शेख़ निजामुद्दीन औलिया अफगान-युग के महान् सूफ़ी सन्त थे। अमीर ख़ुसरो आठ वर्ष की अवस्था से ही उनके शिष्य हो गए थे। अपने गुरु की प्रेरणा से ही उन्होंने काव्य-साधना प्रारम्भ की थी। यह गुरु का ही प्रभाव था कि राज-दरबार के वैभव के बीच रहते हुए भी ख़ुसरो मन से सूफ़ी सन्त बन गए थे। ख़ुसरो ने मुक्त कण्ठ से अपने गुरु का यशोगान किया है और अपनी मसनवियों में उन्हें सम्राट् से पहले स्मरण किया है। अपने गुरु के प्रति उनकी श्रद्धा का आलम यह था कि जब उनकी अनुपस्थिति में उनके गुरु की मृत्यु हो जाती है तो वे उसे सहन नहीं कर पाते और ख़ुद भी सारा काम-काज, दुनियादारी छोड़ अपने गुरु की समाधि पर ही धूनी रमा लेते हैं। कहा जाता है कि प्रवास में रहते हुए जब इन्हें अपने गुरु के निधन का समाचार मिला तो उन्हें लगा कि उनकी तो सारी दुनिया ही उजड़ गई है। वे सन्निपात जैसी स्थिति में दिल्ली पहुँचे, धूल-धूसरित खानकाह के दर पर खड़े हो गए। वस्तुतः अन्दर जाने का उनका साहस ही नहीं हुआ। वे मृत रूप में अपने प्रिय गुरु को नहीं देखना चाहते थे लेकिन कब तक न देखते! शाम को आखिरकार उन्होंने उनकी मृत देह के दर्शन किए और देखते ही उनके पैरों पर सिर पटक-पटककर मूर्च्छित हो गए। इस अवस्था में उनके मुख से यह जो कुछ निकला, वह सूफ़ी भाव एवं अवधारणा के नितान्त अनुकूल था। उनके मुख से जो निकला वह यह था –

गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल ख़ुसरो घर आपने, साँझ भयी चहुँ देस॥

(अमीर ख़ुसरो; पृष्ठ-15)

यह पूरा छन्द बहुत लम्बा है। यह उनके अन्तर्निहित सूफ़ी भावावधारणा को बखूबी व्यक्त करता है। इसमें सूफ़ी प्रेम का हकीकी रूप दिखाई देता है।

4.2.3.2 दरबारी काव्यावधारणा की अन्तर्वर्तिता

अमीर ख़ुसरो जीवनभर एक दरबारी कवि रहे। सबसे पहले सन् 1270 ई. में अमीर ख़ुसरो को सम्राट् गयासुद्दीन बलबन के भतीजे, कड़ा हाकिम (इलाहबाद) के हाकिम अलाउद्दीन मुहम्मद कुलिश ख़ाँ (मलिक छज्जू) का राज्याश्रय प्राप्त हुआ। एक बार बलबन के द्वितीय पुत्र बुगरा ख़ाँ की प्रशंसा में क़सीदा लिखने के कारण मलिक छज्जू उनसे अप्रसन्न हो गया और ख़ुसरो को बुगरा ख़ाँ का आश्रय ग्रहण करना पड़ा। जब बुगरा ख़ाँ

लखनौती का हाकिम नियुक्त हुआ तो ख़ुसरो भी उसके साथ चले गए किन्तु वे वहाँ ज्यादा दिन रह नहीं सके और बलबन के ज्येष्ठ पुत्र सुल्तान मुहम्मद का निमन्त्रण पाकर दिल्ली लौट आए। सुल्तान मुहम्मद सुसंस्कृत और कलाप्रेमी था। सुल्तान मुहम्मद के साथ ख़ुसरो मुल्तान गए और वहाँ मुग़लों के साथ युद्ध में शामिल हुए। इस युद्ध में ख़ुसरो बंदी बना लिए गए। कुछ दिनों बाद छूटे तो अपनी माँ के पास पटियाली कुछ समय रहे। उसके बाद अवध के हाकिम अमीर अली के यहाँ रहे परन्तु वहाँ ज्यादा दिन नहीं रह पाए और दिल्ली लौट गए। इसके बाद ख़ुसरो दिल्ली के सुल्तान गयासुद्दीन तुग़लक के आश्रित रहे और अपनी सबसे प्रसिद्ध मस्नवी 'तुग़लक' लिखी। दिल्ली में पुनः उन्हें मुइज़ुद्दीन कैकबाद के दरबार में राजकीय सम्मान प्राप्त हुआ। यहाँ उन्होंने सन् 1289 ई. में 'मसनवी किरानुससादैन' की रचना की। इसके बाद दिल्ली का सुल्तान जब जलालुद्दीन खिलजी हुआ तो ख़ुसरो उसके दरबारी बने। जलालुद्दीन खिलजी ने ख़ुसरो को 'अमीर' की उपाधि से विभूषित किया। अलाउद्दीन खिलजी जब जलालुद्दीन खिलजी की हत्या कर सुल्तान बना तो उसने भी अमीर ख़ुसरो को उसी तरह सम्मानित किया और उन्हें राजकवि की उपाधि प्रदान की। अलाउद्दीन के उत्तराधिकारी कुतुबद्दीन मुबारकशाह के दरबार में भी ख़ुसरो को राजकवि का सम्मान प्राप्त था।

4.2.3.3 लोकधर्मी भावावधारणा की अंतरंगता

इस बिन्दु पर दो उपबिन्दुओं के रूप में चर्चा की जा सकती है – (i) लोकानुभव की अंतरंगता और (ii) आमजन की जीवनचर्या की अंतरंगता। इनका विस्तृत विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है –

4.2.3.3.1 लोकानुभव की अंतरंगता

अमीर ख़ुसरो की सबसे बड़ी विशेषता है, उनका अंतरंग लोकानुभव। लोकजीवन की जैसी गहरी पैठ अमीर ख़ुसरो को थी, वैसी कम ही दरबारी कवियों में होती है। जब उन्होंने कहा कि 'मैं हिन्दुस्तान की तूती हूँ' तो इसका एक अर्थ यह भी था कि वे हिन्दुस्तान के लोक की आवाज़ थे। उनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ख़ालिक़ बारी' एक ओर उनके पाण्डित्य, विविध भाषा-ज्ञान, विभिन्न भाषाओं की परस्पर पर्यायवाचिकता की गहन जानकारी इत्यादि का प्रमाण है तो दूसरी ओर वह उनके लोकानुभव एवं लोकपरकता का भी सूचक है। विशेष रूप से उनकी पहेलियाँ, मुकरियाँ, पद, ढकोसले, नुस्ख़े, दोहा, गीत इत्यादि लोक सम्बन्धी उनकी पैठ के प्रतीक हैं। एतत् सम्बन्धी एक बानगी प्रस्तुत है –

काहे को ब्याही विदेश रे,
लखि बाबुल मोरे।
हम तो बाबुल तोरे बागों की कोयल
कुहुकत घर-घर जाऊँ, लखि बाबुल मोरे।

(पांचाल, परमानन्द; भारत की महान् विभूति अमीर ख़ुसरो – व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृष्ठ-80)

4.2.3.3.2 आमजन की जीवनचर्या की अंतरंगता

अमीर ख़ुसरो जितने दरबारी गुणानुवाद में पारंगत थे, उससे ज्यादा वे आम जनजीवन के आत्मीय चित्रण में सिद्धहस्त थे। आम जनजीवन की रोज़मर्रा की चीजें उनकी रचनाओं में ऐसे आती थीं जैसे वे उनकी घर की ही चीजें हों। उन्होंने कविता में हिन्दी के दिन-प्रतिदिन के प्रयोग में आने वाली वस्तुओं को उसी रूप में रखा जिस रूप में वे जन-जन में प्रयुक्त होती थीं। जैसे लोटा, छतरी, ईंट, जामुन, झूला, आरी, तोता, निंबोली आदि। उन्होंने लोक-समाज में प्रचलित बोलचाल, व्यवहार, खानपान आदि सामाजिक तत्त्वों को अपनी कविता में स्थान दिया। समाज की छोटी-छोटी बातों को, लोगों के व्यवहार को ध्यान से देखा और अपनी रचना में हू-ब-हू, नितान्त अंतरंगरूप में प्रस्तुत कर दिया। जैसे अपनी एक पहेली में झूले का उनका यह वर्णन इसकी तस्दीक करेगा –

डाला था सबको मन भाया
टाँग उठा कर खेल बनाया
कमर पकड़ कर दिया धकेल
तब होवे वह पूरा खेल।

(तिवारी, भोलानाथ; अमीर ख़ुसरो और उनका हिन्दी साहित्य; पृष्ठ-69)

4.2.4 अमीर ख़ुसरो के काव्य की विशेषताएँ

अमीर ख़ुसरो के काव्य की विशेषताओं को तीन आधारों पर व्याख्यायित किया जा सकता है। ये तीन आधार हैं – काव्य-वस्तुगत, काव्य-शैलीगत और काव्य-भाषागत।

4.2.4.1 काव्य-वस्तुगत विशेषताएँ

4.2.4.1.1 आश्रयदाता का गुणानुवाद

अमीर ख़ुसरो अपने जीवनभर किसी न किसी के आश्रय में रहे। हर आश्रयदाता ने उन्हें सम्मानित किया और उपाधियों से विभूषित किया। इस मामले में वे सदैव लाभ की स्थिति में रहे। कहते हैं कि व्यावहारिक रूप से वे बहुत ही कुशल और समय का रुख़ देखकर चलने वाले थे। ख़ुसरो में कलात्मकता / सृजनात्मकता और व्यावहारिकता का मणिकांचन संयोग था। जन्मजात कवि होते हुए भी ख़ुसरो में व्यावहारिक बुद्धि की कमी नहीं थी। सामाजिक जीवन की कभी उन्होंने अवहेलना नहीं की। जहाँ एक ओर उनमें एक कलाकार की उच्च कल्पनाशीलता थी, वहीं दूसरी ओर वे अपने समय के सामाजिक जीवन के उपयुक्त कूटनीतिक व्यवहारकुशलता में भी दक्ष थे। उस समय बुद्धिजीवी कलाकारों के लिए आजीविका का सबसे उत्तम साधन राज्याश्रय ही था। ख़ुसरो ने भी अपना सारा जीवन राज्याश्रय में बिताया। उन्होंने तीन अफ़ग़ान राजवंशों – गुलाम, खिलजी और तुग़लक तथा 11 सुल्तानों का उत्थान-पतन अपनी आँखों से देखा। इस सम्बन्ध में सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि निरन्तर राज्याश्रय में रहने के बाद भी ख़ुसरो ने कभी भी उन राजनैतिक षड्यन्त्रों में तनिक भी भागीदारी नहीं

की। ऐसे षड्यन्त्र प्रत्येक उत्तराधिकार के समय अनिवार्य रूप से प्रायः हर सत्ता में होते थे। राजनैतिक दांवपेंच से अपने को सदैव अनासक्त रखते हुए ख़ुसरो निरन्तर एक कवि, कलाकार, संगीतज्ञ और सैनिक ही बने रहे; ख़ुसरो की व्यावहारिक बुद्धि का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि वे जिस आश्रयदाता के कृपापात्र और सम्मान-भाजक रहे, उसके हत्यारे उत्तराधिकारी ने भी उन्हें उसी प्रकार आदर और सम्मान दिया।

4.2.4.1.2 दरबारीपन की श्रेष्ठ गुणवत्ता : सर्वप्रियता

दरबारीपन की श्रेष्ठ गुणवत्ता का तात्पर्य यह है कि अपने आश्रयदाता की खुलकर प्रशंसा करना। कहना न होगा कि अमीर ख़ुसरो इसमें अव्वल रहे हैं। वे जिस राजा, सुल्तान या सत्ता के आश्रय में रहे, उसका भरपूर गुणगान उन्होंने किया। इस मामले में वे उत्कृष्ट कोटि के दरबारी कवि कहे जा सकते हैं। वह सभी सुल्तानों के प्रिय रहे।

4.2.4.1.3 सूफ़ी मतवाद

अमीर ख़ुसरो ने जीवन-व्यवहार में सूफ़ी मत को अपनाया। उन्होंने कहा है कि सूफ़ी निस्पृह होते हैं। वे किसी से कुछ नहीं चाहते। वे परमात्मा से ही याचना करते हैं और उसके बन्दों से प्रेम करते हैं। 'नूह सिपहर' में अमीर ख़ुसरो ने सूफ़ी सिद्धान्तों की चर्चा की है। इसमें उन्होंने प्रेम को सर्वोपरि महत्त्व दिया है।

ख़ुसरो ने पहेलियों में भी सूफ़ी चिन्तन को उतार दिया था। उदाहरण के लिए यह पहेली देखी जा सकती है –

अग्नि कुंड में घिर गया
औ जल में किया निकास
परदे परदे आवना
अपने पिया के पास।

(अमीर ख़ुसरो; पहेलियाँ; पृष्ठ-88)

मुकरियों में उन्होंने सूफ़ी प्रेम-सिद्धान्त की चर्चा की है। प्राणवायु की तरह रहने वाले पवन का गंतव्य सुनिश्चित नहीं है लेकिन वह हर उस जगह पहुँचता है जहाँ उसका प्रेम होता है। उदाहरण के लिए –

रात दिना जाकौ है गौन
खुले द्वार वह आवे भौंन।
वाको हर एक बतावे कौन
ऐ सखि साजन, ना सखि पौन॥

(अमीर ख़ुसरो; मुकरियाँ-24; पृष्ठ-94)

ख़ुसरो के अनेक फुटकर दोहे मिलते हैं। इनमें उनकी सूफ़ी और रहस्यवादी भावना की झलक मिलती है। फ़ारसी में ख़ुसरो की बहुत सारी मसनवियाँ मिलती हैं, जिनका सम्बन्ध सूफ़ी मत से है।

4.2.4.1.4 धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता

अमीर ख़ुसरो धार्मिक व्यक्ति थे। सूफ़ी मत का प्रभाव होने से उनकी रचनाओं का बाहरी अर्थ हमें आसानी से पता चल जाता है किन्तु उसका दूसरा आध्यात्मिक अर्थ जो भीतर छिपा रहता है वह सहज रूप से पता नहीं चलता। ख़ुसरो विलक्षण प्रतिभा के धनी थे, उनकी एक ही पंक्ति को एक आम व्यक्ति भी समझकर प्रसन्नचित्त हो जाता है तो दूसरी तरफ एक आध्यात्मिक व्यक्ति भी उसी पंक्ति में छिपे गूढ़ार्थ को समझकर अपने ज्ञान में वृद्धि करता है। ख़ुसरो द्वारा रचित इस 'ढकोसला' को उदाहरण के तौर पर देख सकते हैं –

खीर पकाई जतन से और चरखा दिया जलाय।
आया कुत्ता खा गया तू बैठी ढोल बजाय॥

ख़ुसरो का उक्त ढकोसला केवल मनोरंजन के लिए नहीं है बल्कि इसके भीतर छिपा हुआ सूफ़ी विचारधारा के अनुसार एक आध्यात्मिक अर्थ भी है। इंसान अपने शरीर को कष्ट में डालकर मेहनत करता है और अपना खून-पसीना बहाकर ईमानदारी से कमाई करता है तथा अपनी मंजिल को प्राप्त करता है। उक्त 'ढकोसला' में चरखा चलने का अभिप्राय शारीरिक परिश्रम से है। यदि व्यक्ति समझदारी और सूझ-बूझ का परिचय न दे तो उसकी मेहनत का फायदा दूसरे स्वार्थी, चालाक एवं मौकापरस्त लोग उठा लेते हैं।

अमीर ख़ुसरो ने अपने काव्य में ज्ञान, भक्ति और साधना के सापेक्ष गुरु-प्रेम को महत्त्वपूर्ण बताया है। इन्होंने अपने आध्यात्मिक गुरु के प्रति जो प्रेम दर्शाया है वह लौकिकता से परिपूर्ण परन्तु अलौकिकता की ओर दृष्टिगत लगता है। गुरु के प्रति प्रेम का ख़ुसरो पर रंग ऐसा चढ़ा कि जब ख़ुसरो के गुरु ने अपना भौतिक शरीर छोड़ दिया तो यह उनके लिए असह्य हो गया और अपने सूफ़ियाने अंदाज़ में जो पंक्ति लिखी वह इस प्रकार है –

सेज सूनी देख के रोऊँ दिन-रैन।
पिया पिया कहती मैं पल भर सुख न चैन॥

4.2.4.1.5 प्रेम-तत्त्व : लौकिक बनाम अलौकिक

सूफ़ी मत में प्रेम को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। सूफ़ी कवियों ने प्रेम की दो श्रेणियाँ बताई हैं – लौकिक प्रेम (इश्क़ मजाज़ी) तथा अलौकिक प्रेम (इश्क़ हकीकी)। सूफ़ी कवियों में दोनों ही प्रकार के प्रेम परिपक्व रूप में मिलते हैं। वैसे तो प्रायः सभी धर्मों में प्रेम-तत्त्व मिलता है किन्तु सूफ़ियों के प्रेम की तो बात ही कुछ और है। सूफ़ियों ने 'प्रेम' को जिस मार्मिकता, भावुकता एवं व्यापकता के साथ पेश किया है, वैसा वर्णन अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।

सूफ़ी मतावलम्बी 'प्रेम' के द्वारा ही परमात्मा को प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। सूफ़ी साहित्य में दिव्य एवं निर्मल प्रेम व्यापक रूप में चित्रित हुआ है। इस प्रेम-भावना का लोक में व्यापक असर था। इसका भारत में सर्वत्र बहुत मान था। सूफ़ियों के प्रेमतत्त्व का सबसे बड़ा योगदान लोगों को परस्पर जोड़ना रहा है। ऐसे समय में जबकि देश के कोने-कोने से बिखराव, अलगाव, संघर्ष एवं आतंक की चिंारियाँ उठ रही हों और समाज में टूटन, परिवार में फूट, मन में घुटन और संस्कृति में विकृति ने अपना स्थान बना लिया हो, प्रेम ही वह तत्त्व है जो हमको परस्पर जोड़े रख सकता है।

सूफ़ियों की साधना का मूल मन्त्र ही प्रेम है। सूफ़ियों की साधना में प्रेम ही कर्म है, प्रेम ही धर्म है, प्रेम ही पन्थ है और ईश्वर भी प्रेममय ही है। सूफ़ी साधकों एवं कवियों के मतानुसार प्रेम एक ऐसी उत्प्रेरक शक्ति है जो साधकों को धीरे-धीरे आध्यात्मिक मार्ग पर ले जाती है। इनके अनुसार प्रेम ही जीवन का रहस्य है। सूफ़ियों का प्रेम इश्क़ मजाज़ी से इश्क़ हकीकी की ओर प्रयाण करता है।

अमीर ख़ुसरो के काव्य में गुरु के प्रति प्रेम सर्वोपरि स्थान पर है। अमीर ख़ुसरो ने अपने काव्य में ज्ञान, भक्ति एवं साधना के सापेक्ष्य गुरुप्रेम को विशेष महत्त्वपूर्ण बताया है। ख़ुसरो ने अपने आध्यात्मिक गुरु के प्रति जो प्रेम दर्शाया है, वह एक तरफ तो लौकिकता से परिपूर्ण है तो दूसरी तरफ सघन अलौकिकता की ओर उन्मुख है। उनकी प्रेम-दशा एक प्रकार की भाव-चेतना दिखाई देती है। उदाहरण के बतौर अपने गुरु की मृत्यु पर अत्यन्त दुखी मन से कहे गए उस प्रसिद्ध लम्बे छन्द की ये पंक्तियाँ ली जा सकती हैं –

वह गए बालम वह गए नदिव किनार
आप पार उतर गए हम तो रहे अरवार

X X X

मैं दुखियारी जनम की दूखी गई बहा
ताजी छूटा देस में कस्बे बड़ी पुकार
दरवाजे दबते रह गए निकल गए असवार,
गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल ख़ुसरो घर आपने, साँझ भयी चहुँ देस॥

(वही)

4.2.4.1.6 प्रकृति-चित्रण

प्रकृति मानव की हमेशा से ही सहचरी रही है। अमीर ख़ुसरो मूल रूप से दरबारी कवि रहे फिर भी उनके काव्य में प्रकृति-चित्रण की झलक स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। उन्होंने अपने काव्य में ऋतु-वर्णन के साथ-साथ पक्षियों की चहचहाहट, प्रातःकाल एवं सायंकाल का वर्णन, नदियों, तालाबों और उद्यानों का वर्णन किया है। वर्षा ऋतु के विषय में वे कहते हैं –

आज घिर आई दई भरी घटा कारी।
बन बोल लागे मोर दैया री बन बोलन लागे मोर ॥
रिमझिम रिमझिम बरसन लागी छाया रही चहुओर।
आज बन बोलन लागे मोर ॥

ख़ुसरो ने श्रीकृष्ण की बाँसुरी की मनोहर ध्वनि सुनकर वनों एवं पेड़-पौधों पर छायी मदमस्ती का भी वर्णन किया है –

बन के पक्षी भए बावरे
ऐसी बीन बजायी साँवरे।
तार तार की तान निराली
झूम रही सब बन की डाली ॥

ख़ुसरो कहते हैं जहाँ एक ओर प्रकृति अपने विभिन्न रूपों के माध्यम से मानव को आनन्दित करती है तो दूसरी ओर विरहीजनों के लिए पीड़ादायक होती है। जैसे –

कोयल बोले डार डार पर पपीहा मचाए शोर।
ऐसे समय साजन परदेस गए बिरहन को छोर ॥

4.2.4.1.7 लोकजीवन के विभिन्न रंग : लोक-परम्पराएँ, त्योहार, सुख-दु:ख के अन्य प्रसंग

लोकजीवन और सामान्य जनजीवन की प्रामाणिक अनुभूतियों का भण्डार भी ख़ुसरो के पास अकूत भरा पड़ा है। लोकजीवन से अंतरंगरूप से जुड़े होने का ही यह परिणाम है कि ख़ुसरो आम जनजीवन के इस आन्तरिक पक्ष को सामने ला सके हैं, जो अब तक काव्य में अदृश्य था। ख़ुसरो ने विभिन्न पर्वों, उत्सवों और रीति-रिवाजों के सम्बन्ध में अनेक गीत लिखे जो आज तक जन सामान्य में उतने ही लोकप्रिय हैं। बेटी की विदा के अवसर पर गाये जाने वाले गीत द्रष्टव्य है –

काहे को ब्याही विदेश रे,
लखि बाबुल मोरे।
भइया के दी है बाबुल महला-दुमहला,
हम को दी है परदेस, लखि बाबुल मोरे।
मैं तो बाबुल तोरे पिंजड़े की चिड़िया
रात बसे उड़ि जाऊँ, लखि बाबुल मोरे।
ताक भरी मैंने गुड़िया जो छोड़ी,
छोड़ा दादा मियाँ का देस, लखि बाबुल मोरे।
प्यार भरी मैंने अम्मा जो छोड़ी
छोड़ी दादी जी की गोद, लखि बाबुल मोरे।
कोठे तले से पलकिया जो निकली

बिरना ने खाई पछाड़, लखि बाबुल मोरे।
परदा उठा के जो देखी,
आए बेगाने देस, लखि बाबुल मोरे।

भारतीय परम्परा में विवाह के अवसर पर जब बेटी की विदाई होती है तो वह अपने पिता (बाबुल) को अत्यन्त करुण शब्दों में पिता के घर से अलग होने की व्यथा को रो-रोकर कहती है। हिन्दी काव्य-जगत् और लोक में ख़ुसरो का यह बाबुल गीत अधिक लोकप्रिय है।

सावन में नवविवाहिता दुल्हन अपने मायके जाती है। यह रीति यहाँ के हिन्दू और मुसलमान दोनों में समान है। अमीर ख़ुसरो सावन के 'मल्हार' गीत एक मुसलमान दुल्हन की ज़ुबानी प्रस्तुत करते हैं–

अम्मा मेरे बाबा को भेजो जी
- कि सावन आया
बेटी तेरा बाबा तो बूढ़ा री
- कि सावन आया
अम्मा मेरे भैया को भेजो जी
- कि सावन आया
बेटी तेरा भैया तो बाला री
- कि सावन आया
अम्मा मेरे मामू को भेजो जी
- कि सावन आया
बेटी तेरा मामू तो बाँका री
- कि सावन आया।

4.2.4.2 काव्य-शैलीगत विशेषताएँ

4.2.4.2.1 सहजता और सरलता

भाषा एक निर्मल स्रोत है जो निश्छल बहती है। अपने सहज रूप में बहना ही उसकी नियति है। भाषा के इस सहज रूप अभिव्यक्ति सौन्दर्य को यदि देखना हो तो ख़ुसरो की हिन्दी रचनाओं से अच्छा शायद ही कुछ मिले। इन्होंने अपनी 'मुकरियों' में सरस एवं सरल भाषा का प्रयोग किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ख़ुसरो सहेलियों में आपसी हँसी-मजाक के पक्षधर थे तथा प्रमुखतः उन्हीं के लिए उन्होंने इस प्रकार के काव्य की रचना की है। एक उदाहरण देखिए –

पड़ी थी मैं अचानक चढ़ आयो
जब उतर्यो तो पसीना आयो।
सहम गई नहिं सकी पुकार

ए सखि साजन, न सखि बुख़ार ॥

प्रस्तुत मुकरी में कवि ने संयोग शृंगार के माध्यम से बुख़ार के प्रभाव को साजन के क्रिया-कलापों पर छायांकित किया है।

बेर बेर सोवत हि जगावे,
ना जागूँ तो काट खावे।
व्याकुल हुई मैं हक्की-बक्की,
ए सखि साजन, न सखि मक्खी ॥

श्री संजीव कुमार की अमीर ख़ुसरो की सहजता और लोकप्रियता विषयक यह टिप्पणी यहाँ ली जा सकती है जिसमें उन्होंने लिखा है कि – "ख़ुसरो के काव्य में सामान्य भारतीय मनुष्य की सहजता है। अमीर ख़ुसरो दरबार के फ़ारसी पाण्डित्य से अलग लोकभाषा में जनता की अनुभूति को अभिव्यक्त करते हैं। उन्होंने जनता की भाषा को अपना बनाया था, इसीलिए जनता भी उन्हें आज तक नहीं भूली है।" (द्रष्टव्य: एम.एच.डी.-6, हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास; हिन्दी साहित्य के इतिहास की भूमिका और आदिकाल 1; पृष्ठ-70)

4.2.4.2.2 श्लिष्टता

ख़ुसरो के 'दो सुखने' में श्लेषमूलक तत्त्व के कारण चमत्कार है। भाषागत चमत्कार पर आधारित यह ख़ुसरो की अनोखी विधा है। उन्होंने समाज की छोटी-छोटी चीज़ों यथा लोगों के व्यवहार, बातें, चेष्टाएँ, शब्द आदि को बारीकी से देखा और उन्हें भुलाने की बजाय कविता में व्यक्त कर दिया। ख़ुसरो के 'दो सुखने' ऐसे हैं जिनमें दो कथनों या उक्तियों का एक ही उत्तर होता है अर्थात् काव्य की रचना का आधार भी शब्दों के दो-दो अर्थ होना है, जैसे –

पण्डित क्यों न नहाया ?
धोबिन क्यों मारी गयी ?

– धोती न थी

धोती : (i) वस्त्रविशेष (ii) धोना

इसी तरह एक अन्य उदाहरण देखिए –

खेत में उपजै सब कोई खाय
घर में होए घर खा जाय।

– फूट

फूट : (i) एक प्रकार की देसी ककड़ी होती है जब पक जाती है तो उसमें दरार पड़ जाती है ।
(ii) पारिवारिक एकता में पड़ने वाली दरार ।

4.2.4.2.3 अनेकार्थकता

ख़ुसरो की 'निस्बतें' अनेकार्थकता का परिचय देती हैं । इनमें दो चीज़ों में समानता ढूँढ़नी होती है । एक शब्द के कई अर्थ होना निस्बतों का मूल आधार है । ख़ुसरो की निस्बतों में प्रयुक्त देशज शब्दों को देखकर लगता है मानों वे एक दरबार कवि न होकर ठेठ ग्रामीण व्यक्ति हैं । ख़ुसरो की 'निस्बतें' उनके भाषिक अधिकार को उजागर करती हैं । कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं –

आदमी और गेहूँ में क्या निस्बत है ?

– बाल*

*बाल का एक अर्थ 'केश' है और अन्य अर्थ 'गेहूँ की बाली' भी है।

* * *

'जानवर' और 'बंदूक' में क्या निस्बत है ?

– घोड़ा*

*घोड़ा एक जानवर होता है और बंदूक के एक भाग को घोड़ा कहते हैं ।

4.2.4.2.4 प्रतीकात्मकता

ख़ुसरो की कुछ क़व्वालियाँ प्रतीकात्मक हैं जिनमें ख़ुसरो पत्नी (आत्मा) तथा निजामुद्दीन औलिया पति (परमात्मा) हैं । ख़ुसरो की काव्य-शैली में उनके व्यक्तित्व की छाप स्पष्टतः दिखाई देती है । इनकी शैली व्याख्यात्मक एवं प्रतीकात्मक है। उदाहरणार्थ –

बहुत दिन बीते, पिया को देखे।
अरे कोई जाओ, पिया को बुला लाओ॥
ख़ुसरो निज़ाम पे, बलि-बलि जइए।
क्यूँ दरस नहीं देते ? बहुत दिन बीते ॥

दुल्हन की विदाई का गीत भी ख़ुसरो ने आत्मा और परमात्मा के प्रतीक के रूप में ही गाया है ।

4.2.4.2.5 विधा-वैविध्य

अमीर ख़ुसरो के काव्य की विभिन्न विधाओं को उदाहरणों के माध्यम से समझा जा सकता है –

दोहा

ख़ुसरो दरिया प्रेम का, सो उलटी वाकी धार।
जो उबरो सो डूब गया, जो डूबा हुवा पार॥

* * *

ख़ुसरो बाजी प्रेम की, मैं खेलूँ पी के संग।
जीत गयी तो पिया मोरे, हारी पी के संग॥

पहेली

आदि कटे से सबको पाले।
मध्य कटे से सबको मारे।
अन्त कटे से सबको मीठा।
ख़ुसरो वाको आँखों देखा॥

(काजल)

गीत

बहुत कठिन है डगर पनघट की।
कैसे मैं भर लाऊँ मधवा से मटकी
मेरे अच्छे निज़ाम पिया।
कैसे मैं भर लाऊँ ...
ज़रा बोलो निज़ाम पिया।
पनिया भरन को जो मैं गयी थी
दौड़ झपट मोरी मटकी पटकी।
बहुत कठिन है डगर ...
ख़ुसरो निज़ाम के बल-बल जाइए
लाज राखे मेरे घूँघट पट की।
कैसे मैं भर लाऊँ ...
बहुत कठिन है डगर ...

मुकरी

सगरी रेन मोर संग जागा।
भोर भई तो बिछुड़न लागा।
वाके बिछुड़े फाटत हिया।
ऐ सखि साजन, न सखि दिया ॥

नुस्खे

हरड बहेड़ा आँवला, घी सक्कर में खाय।
हाथी दाबे काँख में, साठ कोस ले जाए ॥

* * *

प्रतिदिन तुलसी बीज को, पान संग जो खाए।
रक्त धातु दोनों बढ़े, नामर्दी मिट जाए ॥

4.2.4.3 काव्य-भाषागत विशेषताएँ

4.2.4.3.1 अभिजातवर्गीय अरबी एवं फ़ारसी भाषा

अमीर ख़ुसरो ने तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में देश के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का वर्णन फ़ारसी भाषा में किया है और दरबारी काव्य को परिष्कृत किया। विश्व के प्रथम शब्दकोश 'ख़ालिक़ बारी' की रचना की जिसमें अरबी, फ़ारसी, तुर्की व हिन्दी के शब्दों के पर्यायवाची रूप थे। अमीर ख़ुसरो के इस पद्यमय ग्रन्थ की विशेषता यह थी कि फ़ारसी जानने वाले इससे हिन्दी सीखते थे और हिन्दी जानने वाले फ़ारसी। यह ग्रन्थ ख़ुसरो के अरबी, फ़ारसी, तुर्की तथा तत्कालीन हिन्दवी भाषा के पाण्डित्य का सबसे अद्भुत उदाहरण है।

'ख़ालिक़ बारी' की रचना उस समय की एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी क्योंकि अरब, तुर्कस्तान और ईरान से आने वाले मुसलमानों के लिए भारत के निवासियों की भाषा का सम्यक् ज्ञान बहुत आवश्यक था ताकि विचार-विनिमय आसानी से हो सके। यह पुस्तक इतनी उपयोगी साबित हुई कि उसको तत्कालीन मदरसों में पढ़ाया जाने लगा तथा इसकी लाखों प्रतियाँ लिखवाकर एवं उन्हें ऊँटों पर लदवाकर सारे देश में वितरित कराया गया। इस सम्बन्ध में एक किंवदन्ती है –

एक लाख ऊँट सवा लाख गाड़ी।
तिंह पर लादी ख़ालिक़ बारी॥

(पांचाल, परमानन्द; भारत की महान् विभूति अमीर ख़ुसरो – व्यक्तित्व एवं कृतित्व; पृष्ठ- 51)

ख़ालिक़ बारी में रचित पद्यांश के कुछ प्रमुख अंश द्रष्टव्य हैं –

ख़ालिक़ बारी, सिरजन हार
बाहिद एक, बदा करतार।

उक्त शेर की प्रथम पंक्ति में ख़ालिक़ का अर्थ बताते हुए उत्पत्तिकर्त्ता, बारी का अर्थ सृष्टिकर्त्ता और सिरजनहार अर्थात् रचना करने वाला बताया गया है जबकि दूसरी पंक्ति में बाहिद का अर्थ एक और बदा का अर्थ करतार (स्रष्टा) बताया गया है।

एक अन्य उदाहरण देखिए –

गुलुबंद को तिलड़ी कहिए और हमाइल हार।
बाजूबंद भुजाली कहिए जो पैराय सिंगार॥
नाम जड़ाऊ मुकल्लव बाशद और मुस्ता कहना।
गोशवार : दर हिन्दवी बरनू करनफूल दर कान॥

4.2.4.3.2 लोकप्रचलित जनपदीय भाषा

ख़ुसरो के पिता तुर्किस्तानी थे अतः ख़ुसरो को अरबी और फ़ारसी विरासत में मिली। साथ ही इनकी माँ दिल्ली की रहने वाली थीं अतः दिल्ली की भाषा भी इन्हें विरासत में ही मिली थी परन्तु हिन्दवी भाषा के कुछ भागों को ख़ुसरो ने स्वयं अर्जित किया है।

ख़ुसरो कुछ समय तक अवध में रहे; इसलिए उन्हें अवधी का भी ज्ञान था। ख़ुसरो ने खड़ीबोली दिल्ली अर्थात् देहलवी एवं अवधी भाषा को अपनी काव्य-भाषा बनाया है। इनके हिन्दवी काव्य में ब्रजभाषा भी पुट है। इनके गीतों में ब्रजभाषा का रंग स्पष्ट रूप से झलकता है। उस समय काव्य के लिए ब्रज शैली खड़ीबोली में भी चलती थी।

ख़ुसरो लोकजीवन की अत्यन्त गहरी व सामान्य से सामान्य अनुभूतियों को भी बहुत सहज रूप में चित्रित करते हैं। अपने गीतों में ख़ुसरो ने लोक-प्रचलित जनपदीय भाषा के कलेवर को बनाए रखा और लोकभाषा में प्रचलित गीतों की शैली का ही प्रयोग किया। उन्होंने भाषा को आडम्बरयुक्त नहीं बनाया बल्कि अधिक से अधिक संगीत के निकट रखा जिससे उनके गीतों में मार्मिकता बनी रहे। लोक-प्रचलित जनपदीय भाषा में उनके काव्य के कुछ उदाहरण इस तरह हैं –

पूर्वी अवधी –

छाप-तिलक तज दीन्ही रे, तो से नैना मिला के।
प्रेम बटी का मदवा पिला के

मतवारी कर दीन्ही रे, मो से नैना मिला के।
'ख़ुसरो' निज़ाम पै बलि-बलि जइए,
मोहे सुहागन कीन्ही रे, मो से नैना मिला के।

खड़ीबोली –

एक थाल मोती से भरा।
सबके सिर पर औंधा धरा॥
चारों ओर वह थाली फिरे।
मोती उससे एक न गिरे॥
– आसमान

ब्रजभाषा –

गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल ख़ुसरो घर आपने, साँझ भयी चहुँ देस॥

उक्त दोहे में 'डारे', 'भई' आदि शब्द ब्रजभाषा के हैं।

4.2.4.3.3 देशज भाषा-विधान

ख़ुसरो ने अपनी काव्य-भाषा को इतना लचीला बना लिया था कि वह उनके अनुभव के साँचे में ढलती चली गई। वे लोक से गहरे जुड़े थे जिसके फलस्वरूप उनका शब्द-भण्डार विशाल हो गया था। नए-नए देशज शब्दों का प्रयोग इनकी रचनाओं में देखा जा सकता है। अपने आस-पास सुने हुए शब्दों को वे अपनी काव्य-कला के माध्यम से रचनाओं में पिरो देते थे। ग्रामीण लोकजीवन से घनिष्ठता के कारण और साथ ही देश के अलग-अलग प्रान्तों में जाने के फलस्वरूप बहुत सारे देशज शब्दों का प्रयोग इनकी रचनाओं में मिलता है।

सघन वन फूल रही सरसों।
अमवा फूले, टेसू फले
कोयल बोले डार-डार और गौरी करत सिंगार।
मलनिया गुदवा ले आई कर सों॥

ख़ुसरो ने 'आम' के स्थान पर 'अमवा', 'डाल-डाल' के स्थान पर 'डार-डार', 'शृंगार' के स्थान पर 'सिंगार', 'मलिन' के स्थान पर 'मलनिया' जैसे ठेठ देशज शब्दों का सुन्दर प्रयोग किया है।

4.2.5 पाठ-सार

अमीर ख़ुसरो के काव्य की प्रकृति बहुआयामी है। एक तरफ उसमें दरबारीपन है, अपने आश्रयदाता का आदर एवं सम्मानपूर्वक गुणानुवाद एवं प्रशंसा इत्यदि है तो दूसरी ओर सघन लोकपरकता और आम जनजीवन के प्रति गहरी आत्मीयता भी है। यह ख़ुसरो की विशेषता है कि वे इन दोनों पलड़ों को सम-तोल पर रखते हैं। ख़ुसरो की काव्यवस्तु वैविध्य से भरी है। अपने प्रत्येक आश्रयदाता की प्रशंसा ख़ुसरो करते हैं तो दूसरी तरफ लोकजीवन की अंतरंग झाँकियाँ भी उनके यहाँ मिलती हैं। एक तरफ अपने आश्रयदाता द्वारा किये गए युद्धों का वर्णन वहाँ मिलेगा तो दूसरी तरफ आम जनजीवन के तीज-त्योहार, परम्पराएँ, उत्सव, मेले इत्यादि के वर्णन भी वहाँ बहुत आत्मीयता से मिलेंगे। अमीर ख़ुसरो ने अरबी-फ़ारसी जैसी उस समय की आभिजात्य भाषाओं में भी काव्य-रचना की तो साथ ही हिन्दुस्तान की आम बोलचाल की भाषा में भी अलग-अलग विधाओं एवं छन्दों में पद्य-रचना की। लोकजीवन के ठेठ शब्दों को एकदम उसी रूप में ख़ुसरो ने अपनी रचनाओं में लिया। रूपकात्मकता, संश्लिष्टता, अनेकार्थकता उनकी काव्य-भाषा की अन्यतम विशेषताएँ हैं। सूफ़ी मतावलम्बी होने के कारण उनकी काव्य-भाषा में ये विशेषताएँ अनुस्यूत हुई हैं। सहजता, सरलता, संगीतात्मकता आदि उनकी काव्य-भाषा की अन्य विशेषताएँ हैं। भारतीय और अरबी-फ़ारसी की अनेक काव्य-विधाओं में उन्होंने हृदयहारी रचनाएँ लिखीं। दरबार व लोकजीवन में प्रचलित अनेकानेक काव्य-विधाओं में उन्होंने महत्त्वपूर्ण छन्द लिखे। संगीत-तत्त्व उनकी रचनाओं में समृद्ध रूप में पाया जाता है। पाठ में विभिन्न विधाओं के छन्दों के जो उदाहरण दिए गए हैं, उनमें उनकी काव्य-भाषा की ये विशेषताएँ बखूबी देखी जा सकती हैं। डॉ० संजीव कुमार के शब्दों में "अमीर ख़ुसरो बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्हें विविध विधाओं में निपुणता हासिल थी। इतिहास, कविता, संगीत आदि विविध विषयों पर उन्होंने लेखनी चलाई। वे कई भाषाओं के जानकार थे। फ़ारसी, उर्दू, ब्रजभाषा, खड़ीबोली तथा कई अन्य भाषाओं में वे लिख सकते थे। ख़ुसरो मिलनसार तथा खुशमिजाज स्वभाव के थे। उन्होंने जनता में प्रचलित पद्य, पहेलियों, तथा मुकरियों को अपनाया। उनके दोहे तथा पहेलियों में एक खास प्रकार की तुकबंदी है। कहीं-कहीं तो उन्होंने फ़ारसी भाषा और ब्रजभाषा की संगीतात्मक ध्वनि को एक साथ पिरो दिया। दो भिन्न भाषाओं और संस्कृतियों के छन्द को एक-साथ मिलाने का असाधारण कार्य कोई दृष्टि-सम्पन्न अध्येता ही कर सकता है।" (द्रष्टव्य: एम.एच.डी.-6, हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास; हिन्दी साहित्य के इतिहास की भूमिका और आदिकाल 1; इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली; 2008; ISBN : 81-266-0315-1; पृष्ठ-69)।

4.2.6 बोध प्रश्न

1. अमीर ख़ुसरो की काव्य-रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. अमीर ख़ुसरो के काव्य की विषयवस्तुगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
3. "अमीर ख़ुसरो में दरबारीपन एवं लोकधर्मिता संतुलित रूप में पायी जाती है।" स्पष्ट कीजिए।
4. अमीर ख़ुसरो के काव्य की प्रकृति क्या है ? स्पष्ट कीजिए।
5. अमीर ख़ुसरो के हिन्दवी काव्य की भाषा-शैलीगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

खण्ड – 4 : अमीर ख़ुसरो का हिन्दवी काव्य

इकाई – 3 : हिन्दू-मुस्लिम साझी संस्कृति के आदिपुरुष के रूप में ख़ुसरो की प्रतिष्ठा, ख़ुसरो की हिन्दी निष्ठा एवं हिन्दी प्रेम, खड़ीबोली (हिन्दवी) के प्रथम एवं समर्थ कवि के रूप में ख़ुसरो की पहचान

इकाई की रूपरेखा

4.3.0 उद्देश्य कथन
4.3.1 प्रस्तावना
4.3.2 संस्कृति क्या है?
4.3.2.1 भारतीय संस्कृति की विशेषता
4.3.2.2 भारतीय संस्कृति में मुसलमानों का योगदान
4.3.2.3 हिन्दू-मुस्लिम साझी संस्कृति के आदिपुरुष ख़ुसरो
4.3.3 ख़ुसरो की हिन्दी के प्रति निष्ठा और उनका हिन्दी प्रेम
4.3.3.1 ख़ुसरो का खड़ीबोली (हिन्दवी) के प्रति लगाव
4.3.3.2 खड़ीबोली (हिन्दवी) में ख़ुसरो की रचनाएँ
4.3.3.2.1 दोहा
4.3.3.2.2 ग़ज़ल
4.3.3.2.3 पहेलियाँ
4.3.3.2.4 मुकरियाँ
4.3.3.2.5 दो सुखने
4.3.3.2.6 गीत
4.3.4 पाठ-सार
4.3.5 बोध प्रश्न
4.3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

4.3.0 उद्देश्य कथन

यह इकाई खड़ीबोली (हिन्दवी) के प्रथम एवं समर्थ कवि, हिन्दू-मुस्लिम साझी संस्कृति के समन्वयक एवं संवाहक महाकवि अमीर ख़ुसरो की हिन्दी निष्ठा एवं हिन्दी प्रेम पर केन्द्रित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. हिन्दू-मुस्लिम साझी संस्कृतिसे परिचित हो सकेंगे।
ii. भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को विश्लेषित कर सकेंगे।
iii. भारतीय संस्कृति में मुस्लिम समुदाय के योगदान को व्याख्यायित कर सकेंगे।
iv. महाकवि ख़ुसरो का हिन्दू-मुस्लिम साझी संस्कृति में योगदान का मूल्यांकन कर सकेंगे।

v. हिन्दवी के विकास में महाकवि ख़ुसरो के योगदान का मूल्यांकन कर सकेंगे।
vi. खड़ीबोली (हिन्दवी) के प्रथम कवि के रूप में ख़ुसरो के काव्य का मूल्यांकन कर सकेंगे।
vii. ख़ुसरो की काव्य-कला से परिचित हो सकेंगे।

4.3.1 प्रस्तावना

सर्वधर्म समन्वय, समभाव, सौहार्द एवं भाईचारा हिन्दू संस्कृति की विशेषता रही है। हिन्दू संस्कृति सदा-सर्वदा से ही ग्रहणशील रही है। समय-समय पर विभिन्न संस्कृतियों का आगमन उन संस्कृतियों से भारतीय संस्कृति का टकराव फिर उस संस्कृति का भारतीय संस्कृति में समन्वय भारतीय संस्कृति की मौलिक विशेषता रही है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार डाडवेल महोदय कहते हैं – "भारतीय संस्कृति एक महासमुद्र के समान है जिसमें नदियाँ आ-आकर विलीन होती रही हैं।" मुस्लिम संस्कृति से हिन्दू संस्कृति के समन्वय का इतिहास भी कुछ ऐसा ही है। भारत में इस्लामी संस्कृति के आगमन के कुछ वर्षों के उपरान्त ही अमीर ख़ुसरो का जन्म होता है जिन्हें हम हिन्दू-मुस्लिम साझी संस्कृति के संवाहक के रूप में जानते हैं। ख़ुसरो की भारतीय संस्कृति में अपार श्रद्धा थी। उन्होंने भारतीय भाषा और संस्कृति को आत्मसात् कर लिया था। ख़ुसरो के काव्य में सामान्य भारतीय मनुष्य की सहजता है। उन्होंने उस समय राज-दरबार में प्रतिष्ठित फ़ारसी भाषा को छोड़कर जन सामान्य में प्रचलित तत्कालीन लोकभाषा खड़ीबोली (हिन्दवी) में काव्य-रचना की। भारतीय जीवन में मिश्रित सांस्कृतिक प्रक्रिया का जो आरम्भ हुआ उसकी बानगी ख़ुसरो की रचनाओं में देखी जा सकती है। हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक एकता के लिए ख़ुसरो ने जो प्रयास किये उसके लिए भारतीय जन-मानस युगों तक उनका ऋणी रहेगा। ख़ुसरो की पहचान खड़ीबोली हिन्दवी के प्रथम एवं समर्थ कवि के रूप में है। उन्होंने पहेलियों, मुकरियों, दो सखुने, गीत, ग़ज़ल आदि विधाओं में काव्य-रचना की। ख़ुसरो ने अपने साहित्य-सृजन के द्वारा खड़ीबोली (हिन्दवी) को समृद्ध किया है।

4.3.2 संस्कृति क्या है ?

हिन्दू-मुस्लिम साझी संस्कृति पर बात करते हुए मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आखिर संस्कृति है क्या ? संस्कृति की कोई ठीक-ठीक परिभाषा नहीं दी सकती। इसे सिर्फ लक्षणों से जाना जा सकता है। कुछ अंशों में वह सभ्यता से भिन्न गुण है जो मनुष्य मात्र में व्याप्त होता है। हम जो करते हैं उसमें हमारी संस्कृति की झलक होती है। संस्कृति जीवन जीने का एक तरीका है, यह सदियों से उस समाज में व्याप्त होती है। जिस समाज में हम जन्म लेते हैं, जिस समाज में हम जी रहे होते हैं, उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति होती है। हमारा संस्कार ही हमारी संस्कृति की पहचान होती है और हमारे बाद वह हमारी अगली पीढ़ी को विरासत के रूप में प्राप्त होती है। संस्कृति और सभ्यता के अन्तर को समझना आवश्यक है। सभ्यता और संस्कृति समानान्तर विकसित होती है और एक दूसरे की पूरक होती है। जब हम कोई वस्तु अपने उपभोग के लिए लेने जाते हैं तो वह हमारी सभ्यता का हिस्सा है जबकि हमारी पसंद क्या है वह हमारी संस्कृति का हिस्सा है। सभ्यता और संस्कृति का एक दूसरे पर पड़ने वाले प्रभाव का क्रम निरन्तर चलता रहता है।

जिस प्रकार सभ्यता और संस्कृति में भेद है उसी प्रकार संस्कृति और प्रकृति में भी भेद है। लोभ, मोह, काम, क्रोध, ईर्ष्या, राग-द्वेष आदि मनुष्य की प्रकृति है । मनुष्य की इन प्रकृतियों पर कोई अनुशासन न हो तो वह जानवर बन जाता है इसलिए मनुष्य चाहता है कि इन प्रवृत्तियों का उस पर कोई प्रभाव न हो बल्कि ये ही उसके गुलाम रहे। अपने दुर्गुणों पर मनुष्य जितना विजयी होता है , उसकी संस्कृति उतनी ही उत्कृष्ट होती है। मनुष्य और संस्कृति का सम्बन्ध वैसा ही है जिस प्रकार शरीर से आत्मा का, फूलों से सुगन्ध का और चन्द्रमा से चाँदनी का। संस्कृति सभ्यता से अधिक टिकाऊ होती है । संस्कृति की रचना सौ-पचास वर्षों में नहीं बल्कि अनेक शताब्दियों तक एक समाज के लोग जिस तरह रहना-खाना, उठना-बैठना लिखना-पढ़ना, सोचना-समझना, राज-काज, धर्म-कर्म आदि व्यवहार करते हैं उससे उनकी संस्कृति का निर्माण होता है। “आदिकाल से हमारे लिए जो काव्य और दर्शन रचते आए हैं, चित्र और मूर्ति बनाते आए हैं, वे हमारी संस्कृति के रचयिता हैं। आदिकाल से हम जिस-जिस रूप में शासन चलाते आए हैं, पूजा करते आए हैं, मन्दिर और मकान बनाते आए हैं, नाटक और अभिनय करते आए हैं, बरतन और घर के दूसरे समान बनाते आए हैं, कपड़े और जेवर पहनते आए हैं, शादी और श्राद्ध करते आए हैं, पर्व और त्योहार मनाते आए हैं अथवा परिवार, पड़ोसी और संसार से दोस्ती या दुश्मनी का जो भी सलूक करते आए हैं वह सब का सब हमारी संस्कृति का अंश है ।” संस्कृति का जितना आदान-प्रदान होता है उसका उतना ही विस्तार होता है । भारतीय संस्कृति में समन्वय की अद्भुत विशेषता है कि यह विभिन्न जातियों एवं विभिन्न संस्कृतियों के मेल से बनी है। हिन्दू मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आदि विभिन्न धर्मों के लोग विभिन्न रहन-सहन, रीति-रिवाज, पर्व-त्योहार आदि की विविधता के बावजूद एक संस्कृति का हिस्सा हैं । इस दृष्टिकोण से भारत देश एवं भारतीय जाति सबसे महान् है क्योंकि सांस्कृतिक विविधता एवं सामासिकता भारतीय संस्कृति की विशिष्टता है।

4.3.2.1 भारतीय संस्कृति की विशेषता

भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता उसकी पाचन शक्ति है। यह अपने आरम्भिक काल से ही समन्वयशील रही है । इसका निर्माण आर्यों द्वारा हुआ । आर्यों के आगमन के पूर्व से ही भारत में अनेक जातियाँ निवास कर रही थी । आर्यों के सामने इन जातियों को अपनी संस्कृति में समन्वित करने की चुनौती थी क्योंकि ये जातियाँ पहले से ही भारत में निवास कर रही थी । इसलिए उन्होंने हिन्दू संस्कृति को शुरू से ही लचीला बनाया। भारतीय संस्कृति का यह लचीलापन ही उसकी महती विशेषता है जिससे वह विभिन्न संस्कृतियों से समन्वय स्थापित कर लेती है । नीग्रो से लेकर मुगलों तक अनेक जातियाँ भारत में आती रहीं और भारतीय संस्कृति में विलीन होती रहीं । कालान्तर में वैदिक संस्कृति के विरोधस्वरूप हिन्दू धर्म के भीतर ही एक महाक्रान्ति हुई । यह सांस्कृतिक क्रान्ति थी जिसे हम बौद्ध धर्म के नाम से जानते है। यह जहाँ से चला था पुनः उसी में समा गया । हिन्दू संस्कृति ने अनेक संस्कृत्यिों के मेल से अपनी ताकत बढ़ायी है । इस्लाम का जब भारत में आगमन हुआ तब वह अपने को अन्य संस्कृतियों से अलग स्वतन्त्र रखने में विश्वास रखता था लेकिन भारतीय संस्कृति के सम्पर्क में आने के बाद उसके स्वरूप में परिवर्तन हो गया । भारत में इस्लाम का आगमन इतिहास की एक बड़ी घटना है जिसके परिणामस्वरूप भारत में एक सामासिक संस्कृति का विकास हुआ । भारतीय मुसलमान अपने धर्म के

मामले में तो स्वतन्त्र रहे परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से वे भारतीय हो गए। संसार भर के लोग भारतीय संस्कृति को आश्चर्य की दृष्टि से देखते हैं। आर्यों ने द्रविड़ों को समन्वित कर जिस संस्कृति का निर्माण किया, वह अपार बलशाली थी। जितनी भी संस्कृतियाँ उससे टकराईं वे सब उसी में विलीन हो गईं। जाने-माने विचारक सी.ई.एम. जोड़ ने लिखा है – "मानव जाति को भारतवासियों ने जो सबसे बड़ी चीज वरदान के रूप में दी है, वह यह है कि भारतवासी हमेशा ही अनेक जातियों के लोगों और अनेक प्रकार के विचारों के बीच समन्वय करने को तैयार रहे हैं और सभी प्रकार की विविधताओं के बीच एकता कायम करने की उनकी लियाकत और ताकत लाजवाब रही है।" जोड़ महोदय ने विश्व मानवता के लिए भारतीय संस्कृति को ही सर्वाधिक उपयुक्त माना है क्योंकि आज विश्व समुदाय के सामने जो सबसे बड़ी समस्या है, वह है, 'विभिन्न जातियों, वादों, विचारों, संस्कृतियों के बीच समन्वय स्थापित कर विश्व-संस्कृति का निर्माण करना।' अनेक जातियों और संस्कृतियों के सम्मिश्रण से भारतीय संस्कृति में जो विश्वजनीनता उत्पन्न हुई है, वह वरदान है। सारा संसार उसकी ओर ताकता रहा है। अनेक जातियों का एक महाजाति में परिवर्तन कर विभिन्न वादों, विचारों और धर्मों के बीच समन्वय स्थापित करना, युगों-युगों से भारतीय संस्कृति की यही विशेषता रही है।

4.3.2.2 भारतीय संस्कृति में मुसलमानों का योगदान

भारतीय संस्कृति की यह मूलभूत विशेषता रही है कि वह नवागत जाति, सम्प्रदाय, समुदाय, वर्ग और समाज को अपने में शामिल करने का रास्ता निकाल ही लेती है। आर्यों ने अनेक जातियों को एक समाज में बाँधने के लिए जाति-प्रथा की व्यवस्था की थी परन्तु स्वयं आर्यों का भारतीयकरण निवृत्तिवादी के रूप में हुआ। इस्लाम के आगमन के समय तक न तो जाति-प्रथा की महत्ता रही और न ही हिन्दू जनता इतनी उदार रह गई थी कि मुसलमानों को अपनी जाति में शामिल करती। उधर मुसलमान भी अपनी इकाई खोने को तैयार नहीं थे। ऐसे में भारत की निवृत्तिमार्गी विचारधारा ने इस्लामी तसव्वुफ़ के साथ मिलकर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच एकता का आन्दोलन चलाया, परिणामस्वरूप शासक वर्ग भले ही कठोर बना रहा क्योंकि उन पर मुल्ला-मौलवियों का प्रभाव था परन्तु जनता ने सल्तनत की नीति से भिन्न राह पकड़ ली। सूफ़ी सन्तों ने सामासिक संस्कृति का निर्माण किया। सूफ़ी सन्त सामंजस्यवादी थे। ये कट्टर इस्लाम के विरोधी थे। इनकी साधुता और वैराग्य-भावना से प्रेरित हो हिन्दू जनता भी इनके साथ हो गई। इस्लाम एक कट्टर धर्म था। उसमें धर्म के बाह्याचार पर अधिक जोर था। सूफ़ी सन्त इस्लाम के इस बाह्याचार को पसंद नहीं करते थे। इनका सारा जोर परमात्मा की भक्ति और प्रेम पर था। ये मनुष्य मात्र के हृदय में प्रेम की पीर जगाकर उसे ईश्वरोन्मुख करना चाहते थे। सूफ़ियों का धर्म सच्ची मानवता का धर्म था। सूफ़ीमत सभी धर्मों का आदर करता था। हिन्दुओं का एक बड़ा तबका वैदिक कर्मकाण्ड और धर्म के बाह्याचारों का विरोधी था और बौद्ध सिद्धों के प्रभाव में था। सूफ़ी सन्तों का प्रभाव सबसे पहले इन्हीं लोगों पर पड़ा। सूफ़ियों के अलावा जनता में फकीरों का भी प्रभाव था। ये फकीर मुसलमान वैरागी होते थे और जगह-जगह घूमते रहते थे। ये किसी सम्प्रदाय में नहीं बँधे थे और न ही किसी एक स्थान पर ज्यादा दिन तक टिकते थे। जब सूफ़ी धर्म अपने चरम पर था उसी समय भक्ति आन्दोलन का आगमन दक्षिण से उत्तर की ओर हो चुका था। भक्ति और सूफ़ी आन्दोलनों के परिणामस्वरूप भारत में सामासिक संस्कृति की नींव पड़ी जिससे हिन्दुओं और

मुसलमानों के मध्य की खाई पाटने में सहायता हुई। रामधारी सिंह 'दिनकर' लिखते हैं – "राजनीति के धरातल पर परस्पर बँटे हुए लोग धर्म के धरातल पर एक होने लगे, जनता की प्रवृत्ति भेद से अभेद की ओर हो चली। मुसलमान हिन्दुओं की रामकहानी सुनने को तैयार होने लगे।" सूफ़ी कवियों ने हिन्दुओं के घरों में प्रचलित लोक कथानकों को अपने काव्य-ग्रन्थ का विषय बनाया। यही कारण था कि ये भारतीय जन-मानस में तेजी से लोकप्रिय हुए। इन्होंने लोकभाषा अवधी में महाकाव्यों की रचना की जिससे वे जन-जन के कण्ठहार हो गए। सूफ़ी सन्तों और साधकों ने मिलकर देश में सांस्कृतिक अलख जगाई। इन प्रेममार्गी कवियों ने पूरे भक्तिकाल को प्रेममय कर दिया। प्रेम और श्रद्धा के मेल से भक्ति की जो निष्पत्ति हुई उससे पूरा देश स्पन्दित होने लगा। हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक एकता के अग्रदूत अमीर ख़ुसरो प्रसिद्ध सूफ़ी सन्त हजरत निजामुद्दीन औलिया के शिष्य थे और स्वयं भी एक सच्चे सूफ़ी साधक थे। भारतीय साहित्य और संगीत के क्षेत्र में ख़ुसरो का योगदान अतुलनीय है।

4.3.2.3 हिन्दू-मुस्लिम साझी संस्कृति के आदिपुरुष ख़ुसरो

भारतवर्ष का इतिहास विभिन्न संस्कृतियों के एक होने का इतिहास है। आर्यों के भारत-आगमन से पूर्व यहाँ नीग्रो, द्रविड़ और औष्ट्रिक जाति के लोग बसते थे। वे सुव्यवस्थित नागर सभ्यता के स्वामी थे। वे बहुत सभ्य एवं धार्मिक रूप से समृद्ध थे। आर्यों से पहले निवास करने वाले इन्हीं भारतवंशियों के नगरों का विध्वंस करने के कारण आर्यों के रण-देवता इन्द्र का नाम पुरन्दर पड़ा। आर्यों के इस देश में बसने के बाद द्रविड़ आदि जनता के साथ उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो गया और भारतीय संस्कृति की नींव पड़ी जिसे हम हिन्दू या भारतीय संस्कृति के नाम से जानते हैं। आर्यों से लेकर मुगलों तक बहुतेरी जातियाँ इस देश में आयीं किन्तु भारतीय संस्कृति के बुनियादी ढाँचे में कोई फर्क नहीं पड़ा। यहाँ जो-जो लोग आए वे हिन्दू संस्कृति का हिस्सा बन गए। उनके रस्मो-रिवाज, आदतें, विश्वास, सबकुछ यहाँ की मिट्टी में रच-बस गया और वे भी इस विशाल भारतीय संस्कृति के अंग हो गए। यह बता पाना कठिन है कि हमारी संस्कृति का कौन-सा अंश किस जाति की देन है और कौन-सा विचार किस जाति के साथ आया। भारतीय संस्कृति का यह जो विशाल रूप हमारे सामने है उसका निर्माण किसी एक जाति के द्वारा नहीं हुआ है बल्कि उसमें अनेक जातियों का योगदान है। 'भारतीय संस्कृति केवल आर्यों और द्रविड़ों द्वारा निर्मित है', यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि यूनानी, मंगोल, शक, हूण आदि जातियों का आगमन समय-समय पर भारत की धरती पर होता रहा है और वे यहीं पर बसते चले गए। इन सबका कुछ-न-कुछ योगदान यहाँ की संस्कृति के निर्माण में भी है। भारतीय संस्कृति के इतिहास में जब-जब बाहर से बड़ी संख्या में लोग आए, तब-तब महाक्रान्तियाँ हुईं और उसका रूप पहले से ज़्यादा निखर उठा। मुसलमानों से पूर्व जो-जो लोग भारत आये वे सब के सब हिन्दू होकर भारतीय संस्कृति में विलीन हो गए किन्तु मुसलमानों के आगमन के साथ ही भारत में एक सामासिक संस्कृति की शुरुआत हुई। भारतीयों का इस्लाम से परिचय दो रूपों में हुआ – एक, जब मालाबार के हिन्दू इस्लाम में भक्ति के कारण मुसलमान हो गए और दूसरा, जब गजनी और मुहम्मद ग़ोरी की तलवार की भय से हिन्दुओं को मुसलमान धर्म स्वीकार करना पड़ा, अतः गजनी और मुहम्मद ग़ोरी का समय सांस्कृतिक संघर्ष का काल है। जब इस्लाम विजेता धर्म के रूप में भारत पहुँचा तब उसने भारतीय संस्कृति को अपूरणीय क्षति पहुँचाई। हिन्दू मन्दिरों और मूर्तियों का विध्वंस किया गया, जबरन धर्म-परिवर्तन

कराया गया। यह दो सभ्यताओं के संघर्ष का काल था। पठानों की राजव्यवस्था इस्लामी ढंग से चलती थी। हिन्दू द्वितीय श्रेणी के नागरिक समझे जाते थे। बहुत दिनों तक यही स्थिति रही लेकिन जब मुसलमान इस देश को अपना मानकर रहने लगे तब उनके प्रति हिन्दुओं के हृदय में उदारता का भाव पनपने लगा। पठानों के समय ही सूफ़ियों का आगमन भारत की धरती पर हुआ जिन्होंने हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य पर बल दिया। हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज के राजकवि एवं अभिन्न मित्र चन्दवरदाई अपने ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' के आरम्भ में लिखते है कि मैं केवल पुराणों का ही सत्य नहीं लिख रहा हूँ, मेरा विषय कुरान का भी सत्य है –

उक्ति धर्म विशालास्य: राजनीति नवं रसं,
षट् भाषा पुराणं च कुरानं कथितं मया॥

पृथ्वीराज के इकसठ वर्ष बाद अमीर ख़ुसरो का जन्म हुआ। ख़ुसरो की पहचान भारत के पहले राष्ट्रीय मुसलमान के रूप में है। ये खड़ीबोली और उर्दू दोनों भाषाओं के पितामह हैं। ख़ुसरो ने अपने महाकाव्य 'नूह सिफर' में भारतवर्ष का जो वर्णन किया है उससे पता चलता है कि चौदहवीं सदी में भारत संसार का अग्रणी देश था। ख़ुसरो को भारतीय भाषा और संस्कृति से बेपनाह प्यार था। उनका मानना था कि आदमी का देश-प्रेम उसके धर्म-प्रेम में शामिल होता है। महाकवि ख़ुसरो एक सच्चे भारतीय मुसलमान के रूप में हिन्दू-मुस्लिम साझी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। ख़ुसरो के अनेक रंग थे। वे प्रतिभासम्पन्न कवि, लेखक, इतिहासकार, संगीतज्ञ, ज्योतिषी तथा जादूगर तो थे ही, साथ ही व्यावहारिक दरबारी भी थे। उनमें समय और समाज को पहचानने की अद्भुत क्षमता थी। वे विनोदप्रिय, मिलनसार तथा ज़िंदादिल इंसान थे। उनकी पहेलियों, मुकरियों, दो सखुने आदि रचनाओं में तत्कालीन भारतीय समाज के दर्शन होते हैं। उनका साहित्य संसार हिन्दू-मुस्लिम साझी संस्कृति का आईना है।

4.3.3 ख़ुसरो की हिन्दी के प्रति निष्ठा और उनका हिन्दी प्रेम

हिन्दवी के प्रति गहरे लगाव ने ही अबुल हसन को अमीर ख़ुसरो के रूप में प्रसिद्ध किया। आदिकालीन प्रतिनिधि कवि के रूप में प्रतिष्ठित अमीर ख़ुसरो हिन्दवी खड़ीबोली के प्रथम प्रयोगकर्त्ता हैं। ख़ुसरो के पूर्व जितने भी कवि हुए, उन्होंने हिन्दी की विभिन्न बोलियों को स्थापित करने का सार्थक प्रयास किया परन्तु खड़ीबोली (हिन्दवी) को स्थापित करने का श्रेय महाकवि अमीर ख़ुसरो को ही है। अपने वतन तथा मातृभूमि से अपार प्रेम करने वाले ख़ुसरो हिन्दवी (खड़ीबोली) के महत्त्व को स्थापित करते हुए कहते हैं – "मैं हिन्दुस्तान की तूती हूँ, अगर तुम वास्तव में मुझसे जानना चाहते हो तो हिन्दवी में पूछो। मैं तुम्हें अनुपम बातें बता सकूँगा।" अरबी, फ़ारसी, उर्दू के जानकार ख़ुसरो का जितना अधिकार इन भाषाओं पर था उससे कहीं अधिक अपनत्व हिन्दवी (खड़ीबोली) से था। लोक से गहरी संपृक्ति के कारण अमीर ख़ुसरो का लोकभाषा पर जबरदस्त अधिकार था। वे लोक में उपस्थित छोटी से छोटी वस्तु को काव्यात्मक रूप देने में समर्थ थे। इसी से वे हिन्दवी (खड़ीबोली) के शिखरस्थ हस्ताक्षर हुए। सहज, सरल और हृदय के भावुक अमीर ख़ुसरो का साहित्य समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए मनोरंजन का केन्द्र था। ख़ुसरो की ग़ज़लगायकी से प्रभावित हो तत्कालीन सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी ने

उन्हें अमीर की उपाधि से नवाज़ा। खड़ीबोली हिन्दी के प्रारम्भिक विकास को सुदृढ़ तथा मजबूत आधार देने वाले ख़ुसरो की भाषा में कहीं-कहीं ब्रज तथा अवधी का भी पुट देखने को मिलता है। सर्वगुणसम्पन्न ख़ुसरो ने काव्य की समस्त विधाओं यथा ग़ज़ल, गीत, क़व्वाली, शेर, दोहा, पहेलियाँ, मुकरियाँ, दो सुखने की रचना हिन्दवी (खड़ीबोली) में की। उन्होंने विधाओं के विस्तृत फलक को एकसूत्र में पिरोने का सार्थक कार्य किया। इस प्रकार ख़ुसरो ने एक समर्थ कवि के रूप में अपनी पहचान कायम की। कहा जाता है कि गुरु के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। अमीर ख़ुसरो अपने गुरु ख्वाज़ा निजामुद्दीन औलिया रहमतुल्लाह अलैह से गहरे प्रभावित थे। जीवन के प्रत्येक अंश पर उन्हें बुद्धिमान सलाहकार के रूप में अपने गुरु का साथ मिला जिससे उनका जीवन प्रस्फुटित तथा पल्लवित हुआ। सुबह से लेकर शाम तक दरबारदारी करने वाले ख़ुसरो देर रात गुरु का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए, गुरु की सेवा करने के लिए, उनके द्वारा प्राप्त ज्ञान को समेटने के लिए उनके समीपस्थ होते थे। ख़ुसरो का जीवन संघर्षमय था। इसके बावजूद मित्रों के आदर-सत्कार तथा मनोविनोद में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेने में वे कोई कसर नहीं छोड़ते थे। अपने निजी काम-काज, अध्ययन-चिन्तन-मनन और सृजन के साथ वे अपनी पत्नी तथा बच्चों को भी समुचित समय देते थे। सहज जिज्ञासा होती है कि इतना व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने इतनी अधिक रचनाओं की सर्जना कैसे और कब की होगी ! इसका उत्तर देते हुए स्वयं अमीर ख़ुसरो कहते हैं – "मैं काव्य-पंक्ति इतनी देर में कहता हूँ कि जितनी देर में शब्द कविता की जबान से पूरा किया जाय।" धनवानों की महफिलों के लिए वे कहते हैं कि "वहाँ मै अधिकतर कलम का प्रयोग त्याग देता हूँ तथा अविलम्ब तैयार काव्य-पंक्तियों पर सन्तोष करता हूँ।" कलम के प्रयोग को महफिल में त्यागना ही भारतीय सभ्यता तथा संस्कार के प्रति अगाध श्रद्धा एवं विश्वास रखने वाले अमीर ख़ुसरो को हिमालय की चोटी पर बैठाता है। ख़ुसरो की कृतियों की संख्या को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् इनकी काव्य-पंक्तियों की संख्या चार लाख से अधिक तथा पाँच लाख से कम बताते है परन्तु ख़ुसरो ने स्वयं अपने पंक्तियों को तीन लाख से चार लाख के मध्य बताया है। खेदजनक है कि ख़ुसरो की अधिकतर पंक्तियाँ नष्ट या प्रायः लुप्त हो चुकी हैं। इसका प्रमुख कारण तत्कालीन समाज की ह्रस्व प्रवृत्ति और संकुचित सोच है। तत्कालीन समाज में बाज़ारू भाषाओं का तो महत्त्व था परन्तु मातृभाषाएँ तुच्छ और महत्त्वहीन समझी जाती थीं जिसकी पृष्ठभूमि में इस्लामिक शासन है। ऐसी विरोधाभासी स्थितियों में साझी-संस्कृति का काव्य रचकर ख़ुसरो ने समाज में सामंजस्य स्थापित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

4.3.3.1 ख़ुसरो का खड़ीबोली (हिन्दवी) के प्रति लगाव

जिन दिनों ख़ुसरो हिन्दवी (खड़ीबोली) में रचना कर रहे थे उन दिनों शासक पक्ष के लोग अरबी तथा फ़ारसी को गुनगुनाते थे जबकि उत्तर भारतीय जनता अपनी मातृभाषा (अवधी या ब्रज) का प्रयोग करती थी। ख़ास और आम के मध्य की इस खाई को पाटने का महती कार्य अमीर ख़ुसरो ने बड़ी बारीकी के साथ किया है। हिन्दवी (खड़ीबोली) में रचना कर उन्होंने एक ऐसे सेतु का निर्माण किया जिसके सहारे सभी धर्मों के लोग, वे चाहे हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, जैन, बौद्ध, परसीयन कोई भी हों, सहजता से अपने विचार और भाव सम्प्रेषित कर सकें। इस प्रकार अमीर ख़ुसरो ने हिन्दवी (खड़ीबोली) को साधु-असाधु, ऊँच-नीच, घर-बाहर, राजा-प्रजा, शिक्षित-अशिक्षित की रगों में प्रवाहित करने का काम किया। कहा जा सकता है कि जब भी हिन्दवी (खड़ीबोली)

के विकास की बात होगी अमीर ख़ुसरो का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित होगा। संस्कृत की प्रसिद्ध सूक्ति "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" के विश्वासी ख़ुसरो को अपने लोग, अपनी माटी, अपना देश, खेत-खलिहान, भाई-बन्धु तथा समाज से गहरा प्रेम था। भारतीय मनुष्य की सहजता को रेखांकित करता हुआ ख़ुसरो का साहित्य जनभाषा में रचित है इसीलिए आज भी वह लोक का कण्ठहार बना हुआ है। मध्यदेश की भाषा खड़ीबोली और ब्रजभाषा के विकास को समझने में ख़ुसरो की रचनाएँ बहुत मददगार साबित होती हैं। हिन्दी साहित्य के उद्भट आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है – "यहाँ इस बात की ओर ध्यान दिला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि काव्य-भाषा का ढाँचा अधिकतम शौरसेनी या पुरानी ब्रजभाषा का ही बहुत काल से चला आता था। अतः जिन पश्चिमी प्रदेशों की बोलचाल खड़ी होती है उनमें भी जनता के बीच प्रचलित पद्यों, तुकबंदियों आदि की भाषा ब्रजभाषा की ओर झुकी रहती थी। अब भी यह बात पाई जाती है।" शुक्लजी के उपर्युक्त कथन के आधार पर ख़ुसरो की रचनाओं में भी दो प्रकार की भाषा पाई जाती है। ठेठ बोलचाल की भाषा पहेलियों, मुकरियों और दो सुखने में ही मिलती है फिर भी यत्र-तत्र ब्रजभाषा के पुट का दर्शन हो जाता है परन्तु गीतों और दोहों की भाषा ब्रज या प्रचलित काव्य-भाषा ही है। मध्यदेश के जनमानस में प्रचलित भाषा और जनता की सोच-समझ को जानने के लिए आदिकालीन हिन्दी साहित्य में ख़ुसरो का महत्त्व अतुलनीय है।

4.3.3.2 खड़ीबोली (हिन्दवी) में ख़ुसरो की रचनाएँ

अरबी-फ़ारसी और हिन्दवी के उद्भट विद्वान्, आदिकाल में कई भाषाओं पर एकछत्र राज्य करने वाले अमीर ख़ुसरो की भाषा प्रांजलता और लालित्य से परिपूर्ण है। ख़ुसरो को हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं का प्रथम प्रयोगकर्त्ता माना गया है। साथ ही उनकी प्रसिद्धि बतौर फ़ारसी के प्रसिद्ध शाइर भी है। फ़ारसी साहित्य में उनकी गणना महाकवि हकीम अबुल कासिम फिरदौसी तुसी, शेख सादी (शेख मुसलिदुद्दीन सादी) और सूफी सन्त हजरत बाबा निजामी के साथ की जाती है। अरबी-फ़ारसी-उर्दू के प्रभावस्वरूप उनके हिन्दवी भाषा में रचित दोहों, पहेलियों, गीतों, दो सुखनों इत्यादि में फ़ारसी शब्दों की बहुलता पाई जाती है। यद्यपि वे स्वयं को हिन्दी का कवि ही घोषित करते हैं –

तुर्क-ई-हिन्दुस्तानिम मन, दर हिन्देवी गोयम जवाब।
शक्कर-ई-मिस्री न दारम कज़ अरब गोयम सुखन।

अर्थात् मैं हिन्दुस्तानी तुर्क हूँ, मैं हिन्दवी में जवाब देता हूँ, मेरे पास कोई मिस्री-शक्कर नहीं जिससे मैं अरबों की बात करूँ।

4.3.3.2.1 दोहा

अमीर ख़ुसरो ने हिन्दी भाषा में अनगिनत दोहे सृजित किये हैं। इन दोहों की विशेषता है कि उनका सामान्य अर्थ करेंगे तो उनमें शृंगार की प्रधानता दिखाई पड़ेगी परन्तु जब उन्हें सूफ़ी मत के आलोक में देखेंगे तो उनमें आध्यात्मिक सन्देश दिखाई पड़ेगा। उदाहरण देखिए –

गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल ख़ुसरो घर आपने, साँझ भयी चहुँ देस॥

गुरु के महत्त्व को रेखांकित करता यह दोहा अमीर ख़ुसरो ने अपने गुरु के देहावसान पर लिखा था। दोहे का आशय यह है कि इस संसार में इंसान का एकमात्र मार्गदर्शक गुरु होता है उसके न रहने पर व्यक्ति सुमार्ग से कुमार्ग की ओर पलायित करता है। ख़ुसरो के दोहों में कहीं-कहीं दार्शनिक भाव भी मिलते हैं जिन्हें सूफ़ियाना अंदाज़ में अभिव्यक्त किया गया है। द्वैत भाव का लोपकर, आत्मा तथा परमात्मा में जब परस्पर साक्षात्कार हो जाता है तब साधक परमानन्द की अनुभूति करने लगता है। सूफ़ी साहित्य में लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति की गई है। अग्रांकित दोहे में ख़ुसरो की इस विशेषता का उदाहरण देखिए –

ख़ुसरो रैन सुहाग की जागी पी के संग।
तन मेरा मन पीऊ का, दोउ भए एक रंग॥

4.3.3.2.2 ग़ज़ल

अमीर ख़ुसरो ने अनेक गज़लों की रचना की। हिन्दी ग़ज़ल में नूतन प्रयोग करने वाले ख़ुसरो को जलालुद्दीन खिलजी ने अमीर की उपाधि से सुशोभित किया था। उनकी ग़ज़लों में अरबी, फ़ारसी, हिन्दी का अद्भुत संगम दिखाई देता है। उनकी फ़ारसी-हिन्दी मिश्रित ग़ज़ल पढ़िए –

ज़ हाले-मिस्कीं मकुन तक़ाफुल, दुराए नैना, बनाए बतियाद्द,
कि ताबे-हिज्राँ न दारम ऐ जाँ, न लेहू काहे लगाए छतियाँ।
शबाने-हिज्राँ दराज़ चूँ ज़ुल्फ़ व रोज़े-वसलत चू उम्र कोताह,
सखी पिया को जो मैं न देखूँ, तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ।
यकायक अज़ दिल दो चश्म जादू, बसद फ़रेबम बबुर्द तस्कीं,
किसे पड़ी है जो सुनावे, प्यारे पी से हमारी बतियाँ।
चू शमअ सोजाँ, चू ज़र्रा हैराँ, हमेशा गिरियाँ ब इश्क़ आमह,
न नींद नैनां न अंग चैना, न आप आवे न भेजे पतियाँ।
बहक़ आंमह कि रोज़े-मेहशर बदादा मारा फ़रेब ख़ुसरो,
सो पीट मन की दुराय राखो जो जाय पाऊ पिया की खतियाँ।

काव्यशास्त्रीय धरातल में पगी हुई यह ग़ज़ल थोड़े-बहुत पाठान्तर के साथ हिन्दी सिनेमा में सुनी जा सकती है। इसका भावार्थ है – "गरीब के हाल से ग़फलत न कर अर्थात् मुझ गरीब की उपेक्षा मत करो। ऐ मेरी जान ! जुदाई की ताब मेरे अंदर नहीं है अर्थात् मुझ में वियोग सहने की क्षमता नहीं है। जुदाई की रातें ज़ुल्फ़ की भाँति लम्बी हैं और मिलने के दिन ज़िन्दगी की तरह छोटे हैं। अचानक इन जादू भारी दोनों आँखों ने सैकड़ों बहानों से मेरा धैर्य छीन लिया। मैं आख़िर जलती मोमबत्ती और परेशान नज़रों की तरह उस चाँद (माशूक़) के प्रेम से फिर गया। महशर (प्रलय) के दिन अर्थात् मिलन के दिन के सहारे जिसने मुझे (ख़ुसरो को) धोखा दिया है।"

ख़ुसरो-कृत हिन्दी ग़ज़ल दृष्टव्य है –

जब यार देखा नैन भर दिल की गई चिन्ता उतर,
ऐसा नहीं कोई अजब, राखे उसे समझाय कर।
जब आँख से ओझल भया, तड़पन लगा मेरा जिया,
हक्का इलाही क्या किया आँसू चले भर लाय कर।
तूँ तो हमारा यार है, तुझ पर हमारा प्यार है,
तुझ दोस्ती विसियार है, एक शब मिलो तुम आय कर।
जाना तलब मेरी करूँ, दीगर तलब किसकी करूँ,
तेरी जो चिन्ता दिल करूँ, एक दिन मिलो तुम आय कर।
मेरो जो मन तुमने लिया, तुम उठा गम को दिया
तुमने मुझे ऐसा किया, जैसा पतंगा आग पर।
'ख़ुसरो' कहे बातें गज़ब, दिल में न लावे कुछ अजब,
कुदरत ख़ुदा की है अजब, जब जीव दिया गुल लाय कर।

4.3.3.2.3 पहेलियाँ

ख़ुसरो ने वैदिक ग्रन्थों में प्रचलित पहेलियों को मातृभाषा में प्रस्तुत करने का श्लाघनीय कार्य किया। उन्होंने जीवन के हर छोटे-बड़े पहलु को खेल की तरह खेलने वाली मनोरंजक पहेलियों के माध्यम से व्यक्त किया है। उदाहरणार्थ –

श्याम बरन पीतांबर काँधे,
मुरलीधर नहीं होय,
बिन मुरली वह नाद करता है,
बिरला बूझे कोय।
(भौंरा)

* * *

फ़ारसी बोली आई ना।
तुर्की ढूँढ़ी पाई ना॥
हिन्दी बोली आरसी आए।
ख़ुसरो कहे कोई न बताए॥
(दर्पण)

4.3.3.2.4 मुकरियाँ

नकारात्मक को सकारात्मक रूप में प्रस्तुत करने की शैली को मुकरियाँ कहते हैं। ख़ुसरो-कृत मुकरियों की संख्या भी हजारों में है। पहेली के समानान्तर चलने वाली कुछ मुकरियाँ द्रष्टव्य हैं –

सारी रैन मोरे संग जागा।
भोर भई तब बिछुड़न लागा।
वाके बिछुड़त फाटे हिया।
ऐ सखि साजन ! ना सखि दिया ॥

* * *

वह आवै तब शादी होय।
उस बिन इजा और न कोय।
मीठै लागैं वाके बोल।
ऐ सखि साजन ! ना सखि ढोल ॥

4.3.3.2.5 दो सुखने

दो पंक्तियों के प्रश्न को एक ही उत्तर में समेट देना दो सखुने है। जैसे –

पण्डित क्यों पियासा ?
गदहा क्यों उदासा ?

– लोटा न था

* * *

पान सड़ा क्यों ?
घोड़ा अड़ा क्यों ?

– फेरा न था

4.3.3.2.6 गीत

अमीर ख़ुसरो ने अपनी काव्य-रचना से हिन्दी साहित्य को पुष्पित एवं पल्लवित करते हुए उसको समृद्ध किया है। उन्होंने हिन्दी भाषा में बहुत-से गीतों की भी रचना की है। इसमें कुछ गीतों के अर्थ तो लौकिक हैं जबकि कुछ गीतों का अर्थ सूफ़ी विचारधारा के अनुसार आध्यात्मिक है। यथा –

काहे को ब्याही बिदेश रे,
लखि बाबुल मोरे

भैया को दीनों महल दो महलों, हमको दियो परदेश
लखि बाबुल मोरे।
हम तो बाबुल तोरे बेले की कलियाँ,
घर घर माँगी जाए रे,
लखि बाबुल मोरे।
डोली के परदा उठाकर जो देखा,
आया पराया देस रे,
लखि बाबुल मोरे।
ख़ुसरो यूँ कहें तेरा धन-धन भाग सुहाग रे,
लखि बाबुल मोरे।

4.3.4 पाठ-सार

प्रस्तुत पाठ में आप भारतीय संस्कृति के विविध पहलुओं से परिचित हुए। प्रस्तुत पाठ को पढ़ने के बाद आप यह बता सकते हैं कि "संस्कृति क्या है!", "भारतीय संस्कृति में मुसलमानों का क्यायोगदान है!" वस्तुतः आर्यों से लेकर मुगलों तक विभिन्न जाति-धर्म एवं संस्कृति के लोग भारत में आते रहे और उन संस्कृतियों से भारतीय संस्कृति का संघर्ष चलता रहा और अन्ततः उन संस्कृतियों का भारतीय संस्कृति में विलय होता रहा परन्तु मुसलमानों का भारत-आगमन भारतीयों के लिए चुनौतीपूर्ण रहा क्योंकि मुसलमान कट्टरता में विश्वास रखते थे और अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने का मंसूबा लेकर भारत आए थे परन्तु जल्दी ही भारत की महान् संस्कृति के आगे वे भी नतमस्तक हो गए परिणामस्वरूप भारत में एक नई सामासिक संस्कृति की नींव पड़ी और हिन्दू-मुस्लिम साझी संस्कृति विकसित हुई। इस साझी संस्कृति के विकास में अमीर ख़ुसरो की महनीय भूमिका थी। वे हिन्दू-मुस्लिम साझी संस्कृति के आदिपुरुष के रूप में जाने जाते हैं। अनेक शासक-प्रशासकों का आरोहण-अवरोहण देखने वाले ख़ुसरो का समय राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत उथल-पुथल वाला रहा परन्तु वे परिस्थितियों के सामने झुके नहीं प्रत्युत विभिन्न चुनौतियों का साहस के साथ सामना किया। अमीर ख़ुसरो एक कुशल राजनीतिज्ञ, सैनिक, कवि एवं सूफ़ी साधक थे। प्रस्तुत पाठ में आपने ख़ुसरो के हिन्दी प्रेम और खड़ीबोली के प्रथम कवि के रूप में उनके योगदान को भी जाना। ख़ुसरो के साहित्य में खड़ीबोली हिन्दी का परिनिष्ठित रूप दिखाई देता है। प्रस्तुत पाठ में आप उनकी भाषा के नमूने से वाकिफ़ हुए। आपने महसूस किया होगा कि एक समर्थ कवि होने में लोक-संसक्ति एवं लोक-संपृक्ति कितनी असरकारक होती है।

4.3.5 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. हिन्दू संस्कृति के निर्माता कौन थे ?
   (क) द्रविड़
   (ख) आर्य

(ग) औष्ट्रिक
(घ) नीग्रो

2. आर्यों के रण-देवता कौन थे ?
(क) इन्द्र
(ख) शिव
(ग) सूर्य
(घ) ब्रह्मा

3. वैदिक संस्कृति के विरोध स्वरूप कौन-सी महाक्रान्ति हुई ?
(क) जैन
(ख) हिन्दू
(ग) बौद्ध
(घ) मुस्लिम

4. "उक्ति धर्म विशालास्य: राजनीति नवं रसं, षट् भाषा पुराणं च कुरानं कथितं मया।" पंक्ति के रचनाकार कौन हैं ?
(क) अमीर ख़ुसरो
(ख) रहीमदास
(ग) कबीर
(घ) चन्दवरदाई

5. खड़ीबोली हिन्दी के प्रथम कवि कौन हैं ?
(क) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
(ख) अमीर ख़ुसरो
(ग) अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
(घ) सरहपा

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. संस्कृति और सभ्यता में क्या अन्तर है ?
2. भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ बताइए ?
3. मनुष्य की संस्कृति और प्रकृति में क्या भेद है ?

4. साझी संस्कृति क्या है?
5. ख़ुसरो के हिन्दी प्रेम को व्याख्यायित कीजिए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. संस्कृति क्या है? सिद्ध कीजिए कि भारतीय संस्कृति सामासिक है।
2. हिन्दू-मुस्लिम साझी संस्कृति के आदिपुरुष के रूप में अमीर ख़ुसरो के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।
3. खड़ीबोली के विकास में ख़ुसरो के योगदान का विवेचन कीजिए।

4.3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. 'दिनकर' रामधारी सिंह (2013), संस्कृति भाषा और राष्ट्र, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, ISBN : 978-81-8031-329-5 पृष्ठ क्रमांक – 54
2. 'दिनकर' रामधारी सिंह (2013), संस्कृति भाषा और राष्ट्र, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, ISBN : 978-81-8031-329-5 पृष्ठ क्रमांक – 12
3. 'दिनकर' रामधारी सिंह (1956 पुनरावृत्ति 2008), संस्कृति के चार अध्याय, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, ISBN : 81-85341-05-2 पृष्ठ क्रमांक – 82
4. 'दिनकर' रामधारी सिंह (1956 पुनरावृत्ति 2008), संस्कृति के चार अध्याय, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, ISBN : 81-85341-05-2 पृष्ठ क्रमांक – 275
5. 'दिनकर' रामधारी सिंह (2013), संस्कृति भाषा और राष्ट्र, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, ISBN : 978-81-8031-329-5 पृष्ठ क्रमांक – 141

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : अमीर ख़ुसरो का हिन्दवी काव्य

इकाई – 4 : अमीर ख़ुसरो का हिन्दी काव्य : प्रामाणिकता की समस्या

इकाई की रूपरेखा

4.4.00 उद्देश्य कथन
4.4.01 प्रस्तावना
4.4.02 अमीर ख़ुसरो का हिन्दी काव्य : भाषा की प्रामाणिकता की समस्या
4.4.03 अमीर ख़ुसरो की रचना 'ख़ालिक़ बारी'
4.4.04 ग़ज़ल
4.4.05 दोहा
4.4.06 पहेलियाँ
4.4.07 ढकोसले
4.4.08 गीत
4.4.09 अनमेलियाँ
4.4.10 पाठ-सार
4.4.11 बोध प्रश्न
4.4.12 कठिन शब्द
4.4.13 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

4.4.00 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ में अमीर ख़ुसरो के हिन्दी काव्य की प्रामाणिकता की समस्या पर विचार किया गया है। इसका अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. अमीर ख़ुसरो के जीवनकाल और उनकी रचनाओं से परिचित होंगे।
ii. अमीर ख़ुसरो के काव्य की प्रामाणिकता की समस्या और उसके आधार-बिन्दुओं का अवलोकन एवं विश्लेषण कर सकेंगे।
iii. अमीर ख़ुसरो की काव्य-भाषा से परिचित होंगे।
iv. अमीर ख़ुसरो की काव्यगत संवेदनाओं की गहराई को महसूस कर सकेंगे।
v. लोक-प्रचलित कहावतों, मुहावरों और पहेलियों के सुन्दर प्रयोग और उसके अर्थ-विस्तार की गम्भीरता से परिचित हो सकेंगे।

4.4.01 प्रस्तावना

अमीर ख़ुसरो के पिता का नाम अमीर सैफुद्दीन मुहम्मद था । अमीर सैफुद्दीन मुहम्मद तुर्की में लाचीन कबीले के सरदार थे । इनका वतन किश मावरा-उन्नह था । चंगेज़ी लड़ाइयों के समय इनका वहाँ से हिन्दुस्तान आना हुआ । हिन्दुस्तान आने के बाद ये गंगा के किनारे एक प्राचीन कस्बा पटियाली, जिला एटा, उत्तरप्रदेश में बस गए । पटियाली से दिल्ली नज़दीक है । दिल्ली का सुल्तान शम्स-उद-दीन इल्तुत्मिश था । उसने अमीर सैफुद्दीन मुहम्मद के कार्यों से प्रसन्न होकर उन्हें फौजी का प्रतिष्ठित पद दिया । इनका विवाह उस समय के प्रमुख प्रशासनिक सदस्य इमाद उल मुल्क की बेटी से हुआ । सन् 1253 ई. में पटियाली में अमीर ख़ुसरो का जन्म हुआ । हज़रत ख्वाज़ा निज़ामुद्दीन औलिया रहमतुल्लाह अलैह इनके गुरु हुए । विद्वान् अमीर ख़ुसरो एक भावुक कवि होने के साथ कलाकार तथा संगीतकार भी थे। अमीर ख़ुसरो की अवस्था जब आठ वर्ष की थी, उसी वक्त एक युद्ध में उनके पिता की मृत्यु हो गई । इसके बाद अमीर ख़ुसरो अपनी माता के साथ अपने नाना इमाद उल मुल्क के यहाँ आ गए । इमाद उल मुल्क के घर का परिवेश पूर्णतः भारतीय था जहाँ उन्हें मातृभाषा हिन्दी के साथ-साथ संस्कृत, फ़ारसी, अरबी, तुर्की तथा हिन्दुस्तान की बहुत-सी क्षेत्रीय भाषाओं को सीखने का मौका मिला । 1272 ई. में इमाद उल मुल्क की मृत्यु के बाद अमीर ख़ुसरो के जीविकोपार्जन की समस्या उत्पन्न हो गई । उन्होंने उस समय के बादशाह बलबन के भतीजे कल्लू ख़ाँ उर्फ मलिक छज्जू के यहाँ नौकरी कर ली । दो वर्ष के बाद सम्बन्धों में भ्रम की स्थिति उत्पन्न होने पर अमीर ख़ुसरो ने नौकरी छोड़ दी । इसके बाद उन्होंने बादशाह बलबन के छोटे बेटे बुगरा ख़ाँ के दरबार में तीन वर्ष नौकरी की । उनकी तीसरी नौकरी बादशाह बलबन के बड़े बेटे सुल्तान मुहम्मद हाकिम मुलतान के दरबार में लगी । यहाँ वे पाँच वर्ष तक रहे । अमीर ख़ुसरो ने अपनी चौथी नौकरी अवध के उत्तराधिकारी ख़ाँ अमीर अली के दरबार में दो वर्ष तक की । बुगरा ख़ाँ के युवा पुत्र कैकुबाद ने अमीर ख़ुसरो को 'मुल्कुश्शोअरा' के पद से अलंकृत किया । छठवीं नौकरी के दौरान ख़ुसरो को बादशाह जलालुद्दीन ने 'मुल्कुश्शोअरा' के साथ 'अमीर' और 'मुसहफदारी' के पद से भी अलंकृत किया । यहाँ छह वर्ष नौकरी करने के बाद ख़ुसरो बादशाह अलाउद्दीन खिलजी के दरबार में 1295 ई. से 1315 ई. तक रहे । उन्होंने आठवीं नौकरी बादशाह कुतुबुद्दीन के दरबार में छह वर्ष तथा नौवीं नौकरी मलिक तुगलक के दरबार में दो वर्ष तक की। सन् 1323 ई. में मुहम्मद तुगलक के दरबार में उनकी दसवीं नौकरी लगी । 95 वर्ष की आयु में उनके गुरु हज़रत ख्वाज़ा निज़ामुद्दीन औलिया का देहावसान हो गया । गुरु के देहावसान के वक्त ख़ुसरो दिल्ली से बाहर थे । शोक-समाचार सुनकर वे दीवाने हुए दिल्ली पहुँचे और अपना सब कुछ ज़रूरतमंदों में बाँटकर गुरु की समाधि पर झाड़ू बुहारने लगे । गुरु को श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हुए यह दोहा कहा –

गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल ख़ुसरो घर आपने, साँझ भयी चहुँ देस ॥

गुरु के निधन से शोकाकुल ख़ुसरो का सन् 1325 ई. में देहान्त हो गया । उनकी मज़ार ख्वाज़ा साहब के पैताने बनायी गई । प्रत्येक कौम के लोग दर्शन के लिए वहाँ जाते हैं । अमीर ख़ुसरो के समय में खड़ीबोली, ब्रज और उर्दू भाषाओं में इतना अलगाव नहीं था । उस समय इन सभी भाषाओं को हिन्दुस्तानी नाम से जाना जाता

था। ख़ुसरो अधिकांशतः दिल्ली में रहे इसलिए उन्हें दिल्ली के आसपास की भाषाओं का अच्छा ज्ञान था। उनकी भाषा को 'देहलवी हिन्दवी' के नाम से भी जाना जाता है। अमीर ख़ुसरो ने प्रचुर मात्रा में ग़ज़ल, दोहा, पहेलियाँ, ढकोसले, गीत, अनमेलियाँ आदि की रचना की। उन्होंने एक इतिहास-ग्रन्थ 'तुगलकनामा' और काव्यकोश-ग्रन्थ 'ख़ालिक़ बारी' भी लिखा। अमीर ख़ुसरो के समय में फ़ारसी रचनाओं का महत्त्व था। ख़ुसरो फ़ारसी के भी विद्वान् थे। अपनी हिन्दी की लोकप्रिय रचनाओं को इन्होंने अपने मित्रों में बाँट दिया था। "जुज्वे चन्द नज्मे हिन्दवी, नज़्रे-दोस्तां कर्दा शुद।"[1] कुछ विद्वान् मानते हैं कि फ़ारसी की तुलना में हिन्दवी का महत्त्व कम था इसलिए इन्होंने हिन्दी की रचनाओं को अपने पास मौलिक रूप में प्रमाणस्वरूप नहीं रखा। इन्हीं कारणों से ख़ुसरो के हिन्दी काव्य की प्रामाणिकता की समस्या उपस्थित हो गई।

4.4.02 अमीर ख़ुसरो का हिन्दी काव्य : भाषा की प्रामाणिकता की समस्या

"6वीं शताब्दी से 10वीं शताब्दी तक अपभ्रंश का युग माना जाता है। उस युग में दिल्ली, पश्चिमी उत्तरप्रदेश तथा आगरा आदि को मध्यदेश कहा जाता था। 10वीं शताब्दी में मध्यदेश की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश थी। यही आगे चलकर अवहट्ट के रूप में स्थापित हुई। 11वीं, 12वीं तथा 13वीं शताब्दी में जो भाषा प्रचलित थी उसे ग्रियर्सन महोदय ने पश्चिमी हिन्दी का नाम दिया है। 11वीं और 12वीं शताब्दी में प्रचलित हिन्दी में एक ओर अपभ्रंश के रूप थे तो दूसरी ओर नवीन बोलियों के रूप प्रकट होने लगे थे परन्तु ये स्थितियाँ मिली-जुली थीं। आगे चलकर पश्चिमी हिन्दी की जो पाँच बोलियाँ हुईं इनमें खड़ीबोली और ब्रजभाषा भी थी।"[2] 13वीं शताब्दी के अन्त तक इस भाषा में क्षेत्रीय तथा स्थानीय विशेषताएँ देखने को मिलने लगी थी। अमीर ख़ुसरो की मातृभाषा पश्चिमी हिन्दी थी। उन्होंने अपना अधिकांश जीवन दिल्ली में ही व्यतीत किया था। दिल्ली में उस समय व्यवहृत भाषा ही खड़ीबोली का मूल है। तत्कालीन दिल्ली तथा आगरा की भाषा में अधिक अन्तर नहीं रहा होगा इसके बावज़ूद भी दिल्ली की भाषा खड़ीबोली और आगरा की भाषा ब्रज थी।

जब हम अमीर ख़ुसरो के हिन्दी काव्य की बात करते हैं तो इसका तात्पर्य खड़ीबोली और ब्रज से होता है। इस समय में हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं का अभिप्राय एक ही था। अपनी सुविधा के लिए हम खड़ीबोली और ब्रज का काव्य न कहकर हिन्दी कहते हैं। 19वीं शताब्दी के अन्त में इसे हिन्दी नाम दिया गया। फारस के कवि मसऊद बिनसाद सुलेमान (हिजरी सन् 515) के लिए मुहम्मद औफी ने लिखा है – "इसके तीन दीवान हैं – अरबी, फ़ारसी और हिन्दी।" अमीर ख़ुसरो ने भी अपने फ़ारसी दीवान 'गर्रतुल कमाल' में इस बात को स्वीकार किया है कि मसऊद के तीन दीवान अरबी, फ़ारसी और हिन्दी थे। महमूद शिरानी ने निष्कर्ष निकाला है कि "हमें स्वीकार करना चाहिए कि ख्वाज़ा (अमीर ख़ुसरो) हिन्दीं में कविता करते थे।" डॉ॰ के.एस. वेदी ने मसऊद बिनसाद सुलेमान के हिन्दवी दीवान को लाहौरी भाषा अर्थात् पंजाबी का आरम्भिक उदाहरण माना है जबकि प्राचीन युग में हिन्दी या हिन्दवी से कोई भी भाषा मानी जाती थी। अमीर ख़ुसरो ने 'गर्रतुल कमाल' में लिखा है – जजुए चन्दा नज्में हिन्द वी, नीजनशर, दोस्तान करदह शद:अस्त।[3]

यहाँ पर हिन्दवी से तात्पर्य खड़ीबोली और ब्रज से मिलती-जुलती भाषा से है । अमीर ख़ुसरो ने हिन्दवी में कुछ पद कहे और उसे अपने मित्रों में बाँट दिया। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के मत द्रष्टव्य हैं।

महमूद शिरानी का मन्तव्य है – "ख़ुसरो ने अपनी ऐसी रचनाओं को बहुत महत्त्वपूर्ण न समझकर मित्रों में वितरित किया ।" डॉ॰ शफदर आह ने इस सम्बन्ध में ऐसा ही विचार व्यक्त किया है । डॉ॰ ज्ञानचन्द्र जैन अपने लेख में लिखते हैं कि "जो भी हो, ऐसा करने से मालूम होता है कि ख़ुसरो ने ऐसी रचना को अपना गौरव नहीं समझा यानी उसे महत्त्वहीन समझा ।" इनकी संख्या के सम्बन्ध में जैन साहब लिखते हैं कि तजाकिर अरफात में औहदी ने लिखा है – "इनकी हिन्दी कविता फ़ारसी कविता से अधिक थी, कम-से-कम इतना ही था ।" डॉ॰ वहीद मिर्ज़ा ने ऐसा मानने से इनकार किया है ।[4] गर्रतुल 'कमाल' में ख़ुसरो ने मसऊद साद के सम्बन्ध में लिखा है –

दर पेश अजीं शाहाने सुख़न किसे सह दीवान नबूद
मगर मराक: खुसरवे ममालिके क्लामम मसऊदसाद सुलेमान।
सुलेमानश अगरचे हस्स अम्मा आंसहदियान दरअवारते
अरबी व फ़ारसी व हिन्दवी हस्ता दर पारस मर्जरद
किसे सुखने कास: किस्म न: करद: जजमन ... ।[5]

इस कथन के आधार पर डॉ॰ ज्ञानचन्द्र जैन का मानना है कि यदि ख़ुसरो का हिन्दी काव्य महत्त्वपूर्ण होता तो वे इस अवसर पर अपने हिन्दवी दीवान की चर्चा अवश्य करते । इससे पता चलता है कि इनके निकट इनकी हिन्दी कविता मसऊद साद के दीवान के बराबर न थी, इसी सन्दर्भ से मिलता हुआ वे दूसरे स्थान पर 'जजुये चंद नज्म हिन्दवी' की चर्चा कर चुके हैं जो कि उनकी हिन्दवी कलाम से सम्बन्धित सही संख्या जाहिर करता है। इस प्रमाण के अलावा फ़ारसी भाषा और साहित्य के इस युग में हिन्दी काव्य की रचनाएँ किसी भी बड़े कवि के लिए गर्व की बात न थी । यही कारण है कि फ़ारसी साहित्य के प्रसिद्ध महाकवि ने अपनी रचनाओं को अपने पास न रखकर मित्रों में बाँट दिया। फलस्वरूप हिन्दुस्तानी साहित्य अपने प्राचीन साहित्य से वंचित रह गया।

मसनवी 'नूह सिपहर' के तीसरे सिपहर में अमीर ख़ुसरो ने अपने काल की हिन्दुस्तानी भाषाओं की सूची निम्नलिखित शब्दों में दी है –

सिंदी ओ- लाहौरी- ओ- कश्मीर- ओ- गर
धुर समंदरी तिलंगी- ओ- गुजर
माबरी- ओ- गोरी- ओ- बंगाल- ओ- अवध
दिल्ली- ओ- पैशमनश अन्दर हमा हद
ईं हमा हिन्दवीस्त ज़ि ऐय्याम-ए-कुहन
आम्मा बकारस्ती बहर गूना सुख़न।

अर्थात् सिंधी, पंजाबी, कश्मीरी, मराठी, कन्नड़, तेलगु, गुजराती, तमिल, असमिया, बांग्ला, अवधी, दिल्ली और उसके आस-पास जहाँ तक उसकी सीमा है इन सबको प्राचीनकाल से 'हिन्दवी' नाम से जाना जाता है। बहरहाल अब मैं अपनी बात शुरू करता हूँ।"[6]

उपर्युक्त पंक्तियाँ हिन्दुस्तानी भाषाओं के बारे में हैं । इनमें अमीर ख़ुसरो द्वारा बारह भाषाओं का उल्लेख किया गया है। पाँचवें मिसरे में उन्होंने इन सभी को हिन्दवी कहा है, जिसका तात्पर्य है कि स्वयं अमीर ख़ुसरो की भाषा दिल्ली में निवास करने के कारण 'देहलवी' हुई जो कि इसमें 12वीं भाषा है। इसे अमीर ख़ुसरो दिल्ली और उसके आस-पास की भाषा कहते हैं। अमीर ख़ुसरो ने हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी में जो शेर लिखा उसे 'देहलवी हिन्दवी' कहा जाता है। जिसे बोलने की आसानी के लिए या मुख-सुख के लिए केवल 'हिन्दवी' कहते हैं।

अमीर ख़ुसरो को अपने हिन्दुस्तानी होने का गर्व था – "हस्त मरा मौलिद-ओ-मावा-ओ वतन" अर्थात् यही मेरा जन्मस्थान और यही मेरी मातृभूमि है। अमीर ख़ुसरो हिन्दुस्तान के सच्चे प्रेमी और सधे हुए देशभक्त थे। उन्होंने अपने काव्य में हिन्दुस्तान की तारीफ की है। हिन्दुस्तान के तारीफ में उनकी आत्मा झंकृत होकर झूम पड़ती है और उनके मुँह से फूल झड़ने लगते हैं। अमीर ख़ुसरो की रचनाओं का संग्रह सन् 1918 ई. में 'कुल्लियाते ख़ुसरो' ख़ुसरो से सम्बद्ध 'जवाहरे खुसरवी' नाम से प्रकाशित हुआ जिसके सम्पादक मौलाना महमद्दीन चिड़िया कोठी हैं। इसमें उन्होंने ख़ुसरो की हिन्दी से सम्बन्धित रचनाओं को एक स्थान पर संगृहीत किया है। ये रचनाएँ निम्नलिखित हैं – ख़ालिक़ बारी, चेस्तान अर्थात् बूझ पहेलियाँ, बिन बूझ पहेलियाँ, कहमुकरियाँ, दो सुखने, अनमेल, ढकोसले, ग़ज़ल, फ़ारसी तथा हिन्दी के दोहे, गीत आदि।

4.4.03 अमीर ख़ुसरो की रचना 'ख़ालिक़ बारी'

ख़ालिक़ बारी के विषय में विद्वानों का मतैक्य है कि यह अमीर ख़ुसरो की ही रचना है। सन्देह की स्थिति में समय-समय पर अनेक विद्वानों ने उसके निराकरण की कोशिश की। उर्दू के एक विद्वान् के अनुसार – "ख़ालिक़ बारी अरबी-फ़ारसी-हिन्दी लुगात (शब्दों) में मुख़्तलिफ़ बहरों (छन्दों) में है। ये पहले कई बड़ी-बड़ी जिल्दों में उपलब्ध थी। अनेक विद्वानों की राय है कि ये असल किताब का बहुत मुख्तसिर इंतिखाब (संक्षिप्त संकलन) है। मशहूर है कि अमीर ख़ुसरो ने इसको किसी भटियारी की फरमाइश पर उसके लड़के के वास्ते लिख दी थी। "जब बिरज भाषा ने वसते अखलाक (उदारता) से अरबी-फ़ारसी अलफाज़ के मेहमानों को जगह दी तो एक नई ज़बान पैदा होनी शुरू हुई लेकिन वह मुद्दत तक दोहरों के रंग में जहूर (प्रकट) करती रही यानी फ़ारसी की बहरें (छन्द) और फ़ारसी के खयालात उसमें न आते थे। सबसे अव्वल इसी ख़ालिक़ बारी में फ़ारसी बहरों (छन्दों) ने अपनी झलक दिखाई।"[7]

मुहम्मद अमीर अयागी ने ख़ालिक़ बारी और ख़ुसरो की अन्य रचनाओं का गम्भीरतापूर्वक अवलोकन करने के बाद लिखा है – "किताब की कदामत (प्राचीनता) साफ ये पता बतलाती है कि ये किताब अहते हज़रत अमीर ख़ुसरो के मुत्तसिल ज़माने (समकालीन) की तसनीक (रचना) है, जैसे चीतल, कि हज़रत अमीर ख़ुसरो के

अहदे जिन्दगी तक में एक हिन्दी सिक्के का नाम था और हज़रत को करीब अहद (युग) में ये मतरूक हो चला था, यहाँ तक कि उनके बाद तारीख से उसका नाम भी नहीं आता, क्यों, सलाती ने हिंद (भारत के शासक) की कदीम सादगी जिस तरह ऐश व दौलत के सामानों से आरास्ता हो गई थी, सिक्कों के सादा नाम भी असरफी और अख्तरे ज़ट वगैरह तकल्लुफ़ात से बदल गए थे। बहरहाल 'चीतल' का चलन अहदे खुसरवी से आगे नहीं पाया जाता, या मुहावराते कदीम जैसे में तुझ हिया (मैं ने तुझसे कहा), तू कित रहिया (तू कहाँ रहा) बाव उड़ानी (हवा चली) आखना (देखना), भाखना (कहना), चाव (शौक) वगैरह अलफाज़ की गवाही से ख़ालिक़ बारी का जानए तसनीक (रचनाकाल) अहदे ख़ुसरो (ख़ुसरो के युग) में कतई तौर पर मुकर्रर (निश्चित) ... हो सकता है।[8]

हिन्दी और संस्कृत की उन तरकीबों पर हज़रत अमीर ख़ुसरो के सिवा और किसी के कलम को ये रवानी साबित नहीं परन्तु इसमें शक करने की बहुत कम वजह (कारण) है कि ख़ालिक़ बारी हज़रत अमीर ख़ुसरो की तसनीक (रचना) है। अमीर ख़ुसरो की हिन्दी रचनाओं का अध्ययन करने के बाद ये पता चलता है कि 'ख़ालिक़ बारी' कोश काव्य-ग्रन्थ की रचना किसी भटियारी के कहने पर उसके पुत्र के लिए की गई थी। मुहम्मद सईद मारहरवी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्त्क 'हायाते ख़ुसरो' में इस बात को सिद्ध किया है। उर्दू साहित्य के विख्यात विद्वान् मुहम्मद हुसैन आजाद ने अपनी-मशहूर पुस्तक 'आबेहयात' में इसे लिखा है – "भटियारी के लड़के के लिए ख़ालिक़ बारी लिख दी परन्तु विद्वानों ने न तो भटियारी के नाम व पता का उल्लेख किया है और न उसके पुत्र के ही नाम व पता का। भटियारी सम्बन्धित अन्य सूचनाएँ देने में भी दोनों विद्वान् मौन हैं।"[9]

अमीर ख़ुसरो ने उस समय की भाषा सम्बन्धित कठिनाइयों को ध्यान में रखकर भी ख़ालिक़ बारी की रचना की थी। अरबी, फ़ारसी और उस समय वर्तमान हिन्दी के शब्दों के पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख करने के लिए भी इस ग्रन्थ को लिखा गया। ख़ालिक़ बारी को लिखने के पीछे कारण यह था कि भाषा की कठिनाई बच्चों और अज्ञानी लोगों को न हो। वे इसे पढ़कर अपना काम आसानी से कर सकें। मुहम्मद अमीन अयागी, मुहम्मद हुसैन रिजवी के अलावा आधुनिक समय के प्रसिद्ध आलोचक मुहम्मद हुसैन आजाद ने इस ग्रन्थ को अमीर ख़ुसरो द्वारा रचित बताया गया है। इनका समर्थन करते हुए हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ॰ रामकुमार वर्मा, डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ॰ नगेन्द्र और डॉ॰ गणपतिचन्द्र गुप्त आदि लेखकों ने 'ख़ालिक़ बारी' को ख़ुसरो रचित रचना बतायी है। मशहूर विद्वान् कवि डॉ॰ रमाकान्त पाठक ने भी आकाशवाणी दरभंगा से प्रसारित होने वाली खुद की 'रेडियो-हिन्दी-वार्ता' में ख़ालिक़ बारी को ख़ुसरो की रचना होने की बात स्वीकार की है।

उर्दू के विद्वान् महमूद शिरानी ने 'अन्जुमन तरक्की-ए-उर्दू' पुस्तकालय में प्राप्त 'ख़ालिक़ बारी' की हस्तलिखित प्राचीन प्रति में उल्लिखित जहाँगीरकालीन जियाउद्दीन ख़ुसरो नामक व्यक्ति के नाम को प्राप्त किया जिसके आधार पर उन्होंने ख़ालिक़ बारी को अमीर ख़ुसरो की रचना नहीं माना है। इसमें प्रति का लिपि-काल 1187 हि. दिया हुआ है। हस्तलिखित ख़ालिक़ बारी की भूमिका की शुरुआत में लेखक का नाम जियाउद्दीन ख़ुसरो और दूसरी अन्य प्रकार की सूचनाओं का भी महमूद शिरानी द्वारा जिक्र किया गया है। इन्हीं सूचनाओं को डॉ॰ श्रीराम शर्मा ने भी इंगित किया है –

i. बच्चों को फ़ारसी सिखाने के लिए यह पुस्तक लिखी गई है ।
ii. दैनिक व्यवहार के शब्द इस कोश में दिए गए हैं । पुस्तक में अनेक छन्दों का प्रयोग हुआ है। पुस्तक का नाम हिफज़ुल्लिसान है ।
iii. बाबा इसहाक हलवाई के कहने पर यह कोश प्रस्तुत किया गया है।
iv. लेखक का नाम ख़ुसरो लकब जियाउद्दीन है ।
v. लेखनकाल 1031 हि. (162 ई.) पुस्तक के अन्तिम पद से पता चलता है –

ख़ालिक़ बारी भई तमाम
दोहू जग रहिया ख़ुसरो नाम ।[10]

उपर्युक्त तर्क के अलावा महमूद शिरानी ने दो बातें और बतायी हैं। पहली बात यह कि 'ख़ालिक़ बारी' में 'दाम' तथा 'दमड़ा' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका सम्बन्ध सिक्का से होता है । शिरानीजी का कहना है कि इसका इस्तेमाल अकबर के समय में शुरू हुआ था इसलिए ख़ालिक़ बारी अकबर के समय या उसके बाद की रचना है । ध्यान देने वाली एक और बात है कि शिरानीजी जिस 'दाम' या 'दमड़ा' शब्द के इस्तेमाल की बात बताते हैं तो उसके समर्थन में किसी पद का जिक्र नहीं करते हैं जिसमें ये शब्द प्रयोग किए गए हैं। दूसरी बात यह कि लेखक ने 'ख़ालिक़ बारी', जिसका सम्पादन डॉ॰ श्रीराम शर्मा ने किया है, उसमें दोनों शब्दों के प्रयोग वाले पद तलाश की है किन्तु केवल 'दाम' वाले पद ही मिलते हैं जिसका प्रयोग 'ख़ालिक़ बारी' में दो बार (पद संख्या 98 तथा 125 में) किया गया है किन्तु 'दमड़ा' वाला कोई पद नहीं मिलता।

सब्ज हरिया दाश्त धरिया मांद रहिया दाम जाल।
सब्ज हरिया दाश्त धरिया दाम जाल ॥
वाह कनीजक कहिए चेरी।
दाम जाल जूलान है बेड़ी ॥[11]

यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि शिरानीजी ने 'दाम' 'दमड़ा' का अर्थ सिक्का लिया है और डॉ॰ श्रीराम शर्मा ने 'दाम' शब्द का अर्थ 'फंदा', 'पाश' और 'जाल' बताया है इसलिए इस शब्द को आधार मानकर ख़ालिक़ बारी को जहाँगीरकालीन कहना अनुचित है ।

भाषाविज्ञान के विशेषज्ञ भोलानाथ तिवारी के अनुसार – "चिड़िया कोठी ने 'चीतल' का उल्लेख किया है। यों 'चीतल' का उल्लेख 'आइन-ए-अकबरी' तक में है, तथा 'मैं तुझ कहिया' जैसे प्रयोग बाद में मिलते हैं किन्तु शिरानी साहब का यह कहना भी गलत है कि 'दाम', 'दमड़ा' का प्रचलन अकबर काल में हुआ। वस्तुतः यह शब्द भारत में बहुत पुराना है। मूलतः यह शब्द यूनानी 'द्रख्म' आदि में 'द्रम्य', 'दम्म' है। अरबी-फ़ारसी में 'दिरम', 'दरम' के रूप में भी यही शब्द है। क्षतिपूरक दीर्घीकरण से 'दम्म' का ही 'दाम' बना जिसमें प्रत्यय 'ड़ा' (जैसे मुख-मुखड़ा, टुक-टुकड़ा) लगने से बना जिसका अत्यार्थक या स्त्रीलिंग 'दमड़ी' है। साथ ही ख़ालिक़ बारी की सभी प्रतियों के पाठ में यह नहीं है।"[12]

शिरानीजी का दूसरा तर्क ऐतिहासिक दृष्टिकोण पर आधारित है । उनके अनुसार चंगेज़ ख़ाँ की 624 हि. में मृत्यु हो गई थी और ख़ुसरो 652 हि. में पैदा हुआ। चंगेज़ ख़ाँ की मृत्यु से पूर्व ही हिन्दुस्तान में ईरानी-तूरानी आकर बस चुके थे। इसके पीछे इनका कहने का मतलब यह है कि ख़ालिक़ बारी की रचना का लक्ष्य ईरानी-तूरानी की भाषा सम्बन्धी कठिनाई को दूर करना नहीं था किन्तु आगे अपनी ही पुस्तक में शिरानीजी ने लिखा है – "इधर ख़ालिक़ बारी के सरसरी मुताल से वाजै है कि ये तालीफ हिन्दुस्तानी बच्चों को अरबी फ़ारसी अलकाज़ लिखाने के वास्ते लिखी गई।" आगे इसी ग्रन्थ में वे लिखते हैं कि "ख़ालिक़ बारी ग्रन्थ का लेखक (जियाउद्दीन ख़ुसरो) बकमाल और साहबै फजीलत शख्स नहीं।"[13] प्रो॰ मुमताज हुसैन ने भी ख़ालिक़ बारी को अमीर ख़ुसरो की रचना माना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेक विद्वानों ने ख़ालिक़ बारी को ख़ुसरो की ही रचना माना है । यहाँ केवल एक मात्र शिरानी साहब हैं जो ख़ालिक़ बारी को ख़ुसरो की रचना न मानकर, उसे जहाँगीरकालीन ख़ुसरो-कृत मानते हैं । इस सम्बन्ध में डॉ॰ गोपीचन्द नारंग का कथन उल्लेखनीय है – "किसी दूसरे की नहीं बल्कि अमीर ख़ुसरो की तसनीफ (रचना) करार पाती है।"[14]

4.4.04 ग़ज़ल

"ज़ हाले-मिस्कीं मकुन तग़ाफुल, दुराए नैना, बनाए बतियाद, ..." अमीर ख़ुसरो की प्रसिद्ध ग़ज़ल है । इस ग़ज़ल के प्रसिद्ध होने का कारण 'आबेहयात' है। 'चमनिस्तान शोरा' नामक पुस्तक जिसे लक्ष्मीनारायण शफक ने लिखा है । चमनिस्तान शोरा में दो ग़ज़ल के पद 'शबाने हिजरों' और 'चू जुरहैरा' का उल्लेख किया गया है । मजमुआ नग्ज आबेहयात में उल्लिखित है –

बहवके अर्नम: कि रोजे (महशर) महशर बदाद मारा फरेल ख़ुसरो
वह वके खेजे वसाले दिलबर कि दाद मारा फरैब ख़ुसरो ।

डॉ॰ ज्ञानचंद जैन के अनुसार 'मजमुअ नग्ज' मुहम्मद हुसैन आजाद की है। डॉ॰ सफदर आह का मानना है कि इनके पास हजरत बू अली शाह कलन्दर का एक हस्तलिखित कलमी दीवान के पहले पेज पर इसी ग़ज़ल के तीन पद हैं, जिनका उल्लेख हजरत मौलवी अमीर ख़ुसरो के नाम से हुआ है । शिरानीजी ने इस ग़ज़ल को ख़ुसरो का मानने से इनकार किया है।

4.4.05 दोहा

पंखा होकर मैं डोली, साथी तेरा (तेरे) चाव ।
मुझ जलते जनम गया, तेरे लिखन चाव ॥[15]

इस दोहे के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। काजी अब्दुल वदूद इस दोहे को ख़ुसरो का दोहा नहीं मानते हैं, क्योंकि ख़ुसरो और वाजही में तीन सौ साल से भी अधिक का अन्तर मिलता है। डॉ० सफदर आह भी इसे ख़ुसरो का होना स्वीकार नहीं किया है। डॉ० ज्ञानचंद जैन इसे अमीर ख़ुसरो का ही दोहा मानते हैं।

अमीर ख़ुसरो का यह दोहा अत्यन्त प्रसिद्ध है –

गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल ख़ुसरो घर आपने, साँझ भयी चहुँ देस॥[16]

अमीर ख़ुसरो का यह दोहा यदि बुक्त कहानी में शामिल रहता तो यह हिन्दी कविता का सबसे पुराना प्रमाण साबित होता।

4.4.06 पहेलियाँ

अमीर ख़ुसरो की रचनाओं में सबसे अधिक सन्देह पहेलियों, कह मुकरियों, दो सुखने और ढकोसले पर होता है। कुछ ऐसे शब्द हैं जिनका आविष्कार उस समय में नहीं हो पाया था इसलिए वे शब्द अप्रामाणिक लगते हैं, जैसे – हुक्का, चीलम, बंदूक। अमीर ख़ुसरो की निम्नलिखित प्रसिद्ध पहेली को डॉ० ज्ञानचंद जैन सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। वे इसकी प्रामाणिकता को लेकर सशंकित हैं।

एक थाल मोती से भरा
सबके सर पर औंधा धरा
चारों ओर वह थाल फिरे
मोती इससे एक न गिरे।[17]

वहीद मिर्ज़ा अमीर ख़ुसरो की पहेलियों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में पूर्णरूपेण आश्वस्त हैं। उनका मानना है कि ये पहेलियाँ ख़ुसरो द्वारा ही रचित हैं –

फ़ारसी बोली आई ना।
तुर्की ढूँढ़ी पाई ना॥
हिन्दी बोली आरसी आए।
ख़ुसरो कहे कोई न बताए॥[18]

4.4.07 ढकोसले

ख़ुसरो ने पहेलियों के साथ-साथ ढकोसले भी लिखे हैं। उन्होंने खड़ीबोली में ढकोसले और दो सुखने का सुन्दर प्रयोग किया है। उदाहरण देखिए –

समोसा क्यों न खाया ?
जूता क्यों न पहना ?
(तला न था)

* * *

सितार क्यों न बजा ?
औरत क्यों न नहाई ?[19]
(पर्दा न था)

डॉ॰ ज्ञानचन्द्र जैन इन ढकोसलों में प्रयुक्त भाषा को ख़ुसरोकालीन भाषा मानने से इंकार करते हैं ।

4.4.08 गीत

अमीर ख़ुसरो ने पहेलियाँ, मुकरियाँ और दो सुखने खूब लिखे किन्तु उनके गीत कम ही मिलते हैं जिनका जिक्र डॉ॰ शुजाअत अली सन्देलवी ने अपनी पुस्तक में किया है । इसके अलावा नकी मुहम्मद ख़ाँ खौरजवी ने 'हयाते अमीर ख़ुसरो' में ख़ुसरो-कृत गीतों का जिक्र किया है । ख़ुसरो के गीतों की भाषा ब्रज और खड़ीबोली है । उनके गीतों में उनके पीर ख्वाज़ा निजामुद्दीन औलिया की चर्चा हुई है। यथा –

मेरा जोबना नवेलरा भयो है गुलाल।
कैसे घर दीनी बकस मोरी माल ॥
निजामुद्दीन औलिया को कोई समझाय।
जों जों मनाऊँ वह तो रूसो ही जाय ॥
मोरा जोबना ... ॥[20]

4.4.09 अनमेलियाँ

'आबेहयात' ग्रन्थ में मौलाना मुहम्मद हुसैन आजाद ने निम्नलिखित अनमेलियों का जिक्र किया है –

खीर पकाई जतन से और चरखा दिया जलाय ।
आया कुत्ता खा गया तू बैठी ढोल बजाय ॥[21]

इस अनमेल की भाषा पर सन्देह करते हुए यह कहा गया है कि इसकी भाषा ख़ुसरो की भाषा नहीं है । ऐसा माना जाता है कि ये गाँव-गाँव घूमकर घर-घर से माँग कर ले जाते थे । काजी साहब के अनुसार ख़ुसरो के युग में तम्बाखू भारत में नहीं था । तम्बाखू पुर्तगालियों के साथ ही हिन्दुस्तान में आया अतः हुक्का भरते हुए खड़े होने की अवधारणा इन्हीं की है ।

4.4.10 पाठ-सार

अमीर ख़ुसरो के हिन्दी काव्य की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला है कि ख़ालिक़ बारी अमीर ख़ुसरो की ही कृति है। यह एक पर्यायवाची कोश है। इसमें राष्ट्रभाषा खड़ीबोली हिन्दी का स्वरूप दिखलाई पड़ता है। इसकी नींव पर ही खड़ीबोली हिन्दी और उर्दू का विकास हुआ है। वर्तमान राष्ट्रभाषा के निर्माण में अमीर ख़ुसरो की खड़ीबोली हिन्दी में रचित काव्य-रचनाओं और ख़ालिक़ बारी जैसे कोश-ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अमीर ख़ुसरो ने स्वयं को 'हिन्दुस्तान की तूती' ठीक ही कहा है – "मैं हिन्दुस्तान की तूती हूँ। अगर तुम वास्तव में मुझसे जानना चाहते हो तो हिन्दवी में पूछो। मैं तुम्हें अनुपम बातें बता सकूँगा।"

4.4.11 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. 'तुगलकनामा' ग्रन्थ है –
   (क) इतिहास-ग्रन्थ
   (ख) पर्यायवाची कोश-ग्रन्थ
   (ग) ललित साहित्य-ग्रन्थ
   (घ) पहेली संग्रह-ग्रन्थ

2. ख़ालिक़ बारी ग्रन्थ है –
   (क) इतिहास कोश-ग्रन्थ
   (ख) ज्योतिष-ग्रन्थ
   (ग) काव्य कोश-ग्रन्थ
   (घ) समीक्षा-ग्रन्थ

3. अमीर ख़ुसरो को कहा जाता है –
   (क) तोता-ए-हिन्द
   (ख) तोता-ए-हिन्दोस्तान
   (ग) तोता-ए-हिन्दी
   (घ) तूती-ए-हिन्द

4. नूह सिपहर का अर्थ है –
   (क) छन्द

(ख) संक्षिप्त
(ग) नौ आकाश
(घ) नौ सिपाही

5. महमूद शिरानी ने ख़ालिक़ बारी का लेखक किसे माना है ?
(क) जियाउद्दीन ख़ुसरो
(ख) अमीर ख़ुसरो
(ग) फैज़ुद्दीन ख़ुसरो
(घ) अमीरुद्दीन ख़ुसरो

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अमीर ख़ुसरो की काव्य-भाषा पर टिप्पणी कीजिए।
2. अमीर ख़ुसरो रचित पहेलियों पर टिप्पणी कीजिए।
3. अमीर ख़ुसरो की रचनाओं के नाम बताइए।
4. अमीर ख़ुसरो-कृत ढकोसलों पर टिप्पणी कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. अमीर ख़ुसरो की काव्य-भाषा की विवेचना कीजिए।
2. अमीर ख़ुसरो की रचना 'ख़ालिक़ बारी' की प्रामाणिकता की समस्या पर प्रकाश डालिए।
3. अमीर ख़ुसरो के हिन्दी काव्य की प्रामाणिकता पर विचार कीजिए।

4.4.12 कठिन शब्द

नुह सिपहर	:	नौ आकाश
लुगात	:	शब्द
बहर	:	छन्द
मुख्तसर	:	संक्षिप्त
इंतिखाब	:	संकलन
अखलाक	:	उदारता
तसनीक	:	रचना

4.4.13 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

01. आह, सफदर, (1996), महाकवि ख़ुसरो, लखनऊ, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, पृ. क्र. 10
02. 'शैलेन्द्र', महम्मद हारून (2007) अमीर ख़ुसरो और उनकी हिन्दी रचनाओं की प्रामाणिकता के तथ्य, मुज़फ्फरपुर, अभिधा प्रकाशन, ISBN : 81 – 88584 -68-1, पृ. क्र. 127
03. वही, पृ. क्र. 128
04. वही, पृ. क्र. 128
05. वही, पृ. क्र. 129
06. नारंग, गोपीचंद, (2002), अमीर ख़ुसरो का हिन्दवी काव्य, दरियागंज, नयी दिल्ली, वाणी प्रकाशन, ISBN : 81 –7055-816-6, पृ. क्र. 23, 24
07. राय, अनिल (सं.), शर्मा, पं. श्रीराम, (लेखक), (2007), आदिकालीन हिन्दी साहित्य : अध्ययन की दिशाएँ, दिल्ली, शिवालिक प्रकाशन, ISBN : 81 –88808-30, पृ. क्र. 241
08. वही, पृ. क्र. 241-242
09. 'शैलेन्द्र', महम्मद हारून (2007) अमीर ख़ुसरो और उनकी हिन्दी रचनाओं की प्रामाणिकता के तथ्य, मुज़फ्फरपुर, अभिधा प्रकाशन, ISBN : 81 – 88584 -68-1, पृ. क्र. 139
10. वही, पृ. क्र. 140-141
11. वही, पृ. क्र. 141
12. वही, पृ. क्र. 141-142
13. वही, पृ. क्र. 142
14. वही, पृ. क्र. 143
15. वही, पृ. क्र. 134
16. वही, पृ. क्र. 134
17. वही, पृ. क्र. 136
18. वही, पृ. क्र. 137
19. वही, पृ. क्र. 138
20. तिवारी, भोलानाथ (2000) अमीर ख़ुसरो और उनका हिन्दी. साहित्य, नई दिल्ली, प्रभात प्रकाशन, ISBN : 81-7315-0303 पृ. क्र. 121
21. वही, पृ. क्र. 138

❖❖❖